कर्मठ महिलाएं पिछले 30 वर्षों के दौरान देश के सामाजिक-सांस्कृतिक पटल पर कुछ महिलाओं की सशक्त भूमिका का विनम्र, लेकिन गंभीर प्रयास का दस्तावेज है। पाठकों को इनमें अपने ही देश की कुछ महिला-हस्तियों से रू-ब-रू होने का अवसर मिलेगा। इस पुस्तक में उल्लेखित महिलाओं ने संघर्ष के माध्यम से ना केवल स्वयं एक मुकाम हासिल किया, बल्कि अन्य महिलाओं के लिए भी रास्ता दिखाया। इसमें उल्लेखित महिलाओं ने स्वयं बताया है कि उन्हें किन-किन कठिनाईयों का सामना करना पड़ा व नई राह खोजने में कौन-कौन से पड़ाव आए।

इन आत्मकथाओं की संकलक सुश्री रितु मेनन गत 30 वर्षों से प्रकाशन के क्षेत्र में हैं। वे 1984 में स्थापित भारत के पहले महिलावादी प्रकाशन संस्थान 'काली फार वूमेन' की सह-संस्थापक रही हैं। वे कई पुस्तकों की लेखिका हैं।

अनुवादक विपिन कुमार का हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। उन्होंने नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित अफ्रीकी कहानियों के संकलन 'तपते दिन : लंबी रातें' का हिंदी अनुवाद भी किया है।

रु. 100.00 ISBN 81-237-4434-X

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

कर्मठ महिलाएं

संकलन : रितु मेनन

अनुवाद : विपिन कुमार

कर्मठ महिलाएं

कर्मठ महिलाएं

संकलन
रितु मेनन

अनुवाद
विपिन कुमार

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-4434-X

पहला संस्करण : 2005 *(शक 1926)*
दूसरी आवृत्ति : 2006 *(शक 1927)*
© प्रस्तुत संकलन, ने.बु.ट्र., 2003
© अलग-अलग आलेखों के लिए लेखकाधीन
Original : Women Who Dared *(English)*
Translation : Karmath Mahilayein *(Hindi)*

रु. 100.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
ए-5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

अनुक्रम

	परिचय		नौ
1.	शीला संधू	*चौराहा, चौराहा और फिर चौराहा...*	1
2.	वीणा मजुमदार	*अनवरत गतिशील महिला की डायरी के कुछ पन्ने*	23
3.	कुमुदिनी लाखिया	*सेतु*	41
4.	रोमिला थापर	*इतिहास : अतीत और वर्तमान*	57
5.	इला आर. भट्ट	*परिवर्तन के लिए संगठन*	70
6.	पद्मा रामचंद्रन	*मैं और मेरा काम*	83
7.	सई परांजपे	*भावों के भंवर*	92
8.	इंदिरा जयसिंह	*प्रजातांत्रिक वकालत*	107
9.	अंजलि इला मेनन	*चित्र कृति*	120
10.	सोनल मानसिंह	*अपनी ही कसौटी पर*	132
11.	प्रीति सेनगुप्ता	*जीरो माइल से प्रारंभ*	144
12.	अरुणा राय	*जन-जीवन में भागीदारी*	154
13.	अमाल अल्लाना	*बदलती पहचान*	164
14.	लतिका कट्ट	*जीवन को तराशते हुए*	174
15.	किरण बेदी	*चुनौती लेते हुए*	186
16.	रुथ मनोरमा	*सामाजिक समता के लिए*	195
17.	माया कृष्ण राव	*जीवन के भंवर में*	206
18.	कल्पना लाजमी	*कैमरे के पीछे*	222
19.	बछेंद्री पाल	*शिखर पर खड़ी*	227
20.	शुभा मुद्गल	*संगीत सर्जना*	240
21.	कर्णम मल्लेश्वरी	*जीतने का हौसला*	249

अम्मानिजे

(मां के नाम)

सा उषा

हे मां, नहीं, कदापि नहीं
आसमान में आंचल फैलाकर
खिली धूप को छांव में न बदलो
जीवन की हरियाली पीली न पड़ जाए

मत कहो : तुम सतरह की हो गई
गलियों में यूं न पल्लू लहराओ
अजनबियों से न नजर मिलाओ
अल्हड़ की तरह हवा में ना उड़ती फिरो

नहीं सुनाओ बार-बार वही धुन
जो तुम्हारी मां ने,
उसकी मां ने, और फिर उसकी मां ने
सपेरे के बीन पर जो सुनाई थी
हम जैसी भोली बालाओं के कानों में

मैं तो बस अपना फन फैला रही हूं
किसी पर विषदंत का करूंगी प्रहार
और उसमें जहर छोड़ दूंगी।
हटो मां, रास्ता दो

तुलसीचौरा की परिक्रमा करते

आंगन में, रंगोली सजाते
फिर भी हमीं पर आसमान का कहर टूटे
घुप्प अंधियारा हो, और हवा ठहर जाए

भगवान के लिए, अब मैं ऐसा नहीं कर सकती

बांध, तुमने जो बनाया
उसे तोड़ कर मैं
बवंडर बन चलूं
इस भू-भाग पर गरजती चलूं।
हे मां, मुझे तुम्हारे जीवन से भिन्न
अपनी तरह का जीवन जीने दो
हटो मां, रास्ता दो।

ए.के. रामानुजन के अंग्रेजी अनुवाद पर आधारित

परिचय

कम-से-कम डेढ़ सौ वर्षों से भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में महिलाओं की उपस्थिति दर्ज की जा रही है—भले ही उनकी उपस्थिति यदा-कदा प्रखर हुई; छिट-पुट उदाहरण हमारे सामने आए; और उन्हें अपर्याप्त मान्यता ही मिली। पूछे जाने पर, अधिकांश लोग, स्वाधीनता आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी को याद करने लगेंगे, जैसे ब्रिटिश प्रशासन के विरुद्ध गांधीजी के आंदोलनों—नमक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा और असहयोग आंदोलन—में हजारों की संख्या में महिलाओं का सड़कों पर उतरना ! कुछ अन्य लोग बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पंजाब और अविभाजित भारत के अन्य भागों में हुए सामाजिक सुधारों में उनकी भूमिका की याद दिलाएंगे। राजनीतिक रुझान के लोग चटगांव शस्त्रागार लूट, तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष, और भगत सिंह, भगवती चरण और अन्य के भूमिगत विरोध सदृश बड़ी घटनाओं में महिलाओं की भूमिका पर गरम बहस-चर्चा करेंगे और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, साम्यवादी पार्टी एवं नाना प्रकार के अन्य सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनों में उनकी भूमिका को रेखांकित करेंगे। कुछ महिलाओं के नाम जैसे प्रीतिलता, कल्पना जोशी, सत्यवती, अच्छमंबा, दुर्गा बेन, मृदुला साराभाई, सरोजिनी नायडू, अरुणा आसफ अली, कस्तूरबा गांधी, विजयलक्ष्मी पंडित, अम्मू स्वामीनाथन, लक्ष्मी सहगल, मणिकुंतला सेन, अशोका गुप्ता, मैडम भीकाजी कामा, कमला तैयबजी, भोपाल की बेगम, महादेवी वर्मा, बालामणि अम्मा, मुथुलक्ष्मी रेड्डी, पंडिता रमाबाई, सरला देवी घोषाल, आनंदीबाई जोशी, सिस्टर निवेदिता, मीराबेन, ऐनी बेसेंट आदि, आदि हमारे दिमाग में आते हैं जिन्होंने महिलाओं के लिए सामान्यतया तय जीवन—अर्थात महज बेटी, पत्नी, मां एवं बहन का जीवन—से बगावत कर दी थी। उन्होंने तो बल्कि उन महिलाओं की भांति जीवन चुना जो अपने देश, समाज, लोग और अपने संघर्षों, संघर्ष जो भी रहे हों, में योगदान की ललक रखती थीं। वे यह सोचने के लिए नहीं रुकीं कि दुनिया क्या कहेगी; उन्होंने किसी के अनुमोदन

की प्रतीक्षा नहीं की; न ही किसी से इजाजत मांगी—वे तो बस बढ़ती गईं और वही किया जो उनकी नजर में भारत के किसी उत्तरदायी एवं सामाजिक चेतना वाले व्यक्ति को करना चाहिए। ऐसा कर उन लोगों ने देश के जीवन को उन्नत बनाया। बावजूद इसके महिलाएं सामान्यतया इतिहास के हाशियों पर रही हैं—अधिकांश गणनाओं में शून्य।

सन् 1947 में भारत को मिली स्वतंत्रता के बाद स्वाधीनता का कम-से-कम एक वचन पूरा हुआ था। इन महिलाओं ने जिस एक लक्ष्य के लिए अपने-अपने तरीके एवं भिन्न-भिन्न साधनों से लड़ाइयां लड़ी थीं वह लक्ष्य पूरा हुआ। यह लक्ष्य था : महिलाओं की औपचारिक मुक्ति और अपना 'वास्तविक मताधिकार'। इसके साथ ही भारतीय संविधान द्वारा सभी भारतीय नागरिकों के अधिकारों, एवं उनकी रक्षा, की महत्वपूर्ण सूची उद्घोषित हुई। सचमुच यह दुनिया के सर्वाधिक मौलिक एवं प्रगतिवादी दस्तावेजों में एक है। यह अपने सभी नागरिकों के मौलिक अधिकारों —शिक्षा, आवास, आत्मसम्मान, स्वास्थ्य, भोजन, काम—को मान्यता देता है। इस मामले में किसी की जाति या समुदाय, रंग या नस्ल, धर्म या मत, या फिर लिंग कदापि आड़े नहीं आता। संविधान सभी लोगों की अनिवार्य 'समानता' को स्वीकार करता है। पर वास्तविक जीवन में हम सभी को समानता प्राप्त नहीं है इसलिए यह सरकार को निर्देश देता है कि वह हर संभव प्रयास करे कि समानता का यह दर्जा हरेक भारतीय के लिए एक यथार्थ बने। पर दुर्भाग्यवश हमारी स्वाधीनता के उन प्रारंभिक वर्षों में किए गए वायदे अंशतः ही पूरे हो सके। स्वाधीनता के पचास वर्षों बाद भी भारत में महिलाओं की स्थिति बहुत असमान है। लगभग सौ वर्षों पूर्व उन तमाम महिलाओं के संघर्षों एवं बलिदानों के बावजूद आज भी अधिकांश महिलाएं सही मायनों में स्वतत्र नहीं हैं।

इस मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए मैं कुछ तथ्यों पर ही प्रकाश डालना चाहूंगी।

शेष दुनिया के विपरीत, भारत में महिलाओं की अपेक्षा पुरुष अधिक हैं—933 महिलाओं के मुकाबले 1,000 पुरुष। ऐसा इसलिए क्योंकि कई लड़कियां वयस्क होने से पूर्व ही मर जाती हैं। अधिकांश महिलाएं एवं लड़कियां जीवन के अधिकांश समय में आवश्यकता से बहुत कम आहार लेती हैं। विशेषज्ञ इस दशा को 'आहारजन्य तनाव' कहते हैं। यथार्थतः आज भी महिलाएं सबसे अंत में, और बचा-खुचा खाती हैं। भारत में सिर्फ 54 प्रतिशत महिलाएं शिक्षित हैं। लड़कों की तुलना में मात्र आधी लड़कियां स्कूलों में नामांकित होती हैं, और अधिकांश स्कूली शिक्षा पूरी करने से पूर्व ही स्कूल छोड़ जातीं क्योंकि उन्हें घर के

काम और छोटे बच्चों की देखभाल करनी पड़ती है। अधिकांश भारतीय लड़कियां 17 वर्ष की आयु तक विवाहित हो जाती हैं और बाइस की होते-होते उनके अधिक नहीं, तो दो बच्चे तो हो ही जाते हैं।

हालांकि महिलाएं दिन-रात काम करती हैं—यथार्थतः पुरुषों से अधिक—पर सिर्फ 20 प्रतिशत महिलाएं पारिश्रमिक (आर्थिक लाभ) मिलने वाले कामों में लगी हैं; और जो हैं भी उन्हें पुरुषों की तुलना में बहुत कम मिलता है। यह बात दीगर कि भारत में कानून है जो समान काम के लिए समान पारिश्रमिक सुनिश्चित करता है।

उन्नीस सौ साठ एवं सत्तर के दशकों के उत्तरार्द्ध में देश में महिलाओं का सक्रिय आंदोलन फिर से जागृत हुआ। उत्तराखंड में सरलाबेन एवं मीराबेन के नेतृत्व में शराब-विरोध; पश्चिम बंगाल में नक्सलबाड़ी; महाराष्ट्र में मूल्य-वृद्धि के विरुद्ध; गुजरात में नव-निर्माण आंदोलन; हैदराबाद में महिला प्रगतिवादी संगठन; अहमदाबाद में स्व-नियोजित महिला संघ (देश का प्रथम महिला ट्रेड यूनियन) की स्थापना आदि छोटे-बड़े संघर्षों की शृंखला थी जिसने एक उफान ला दिया। उन्हीं दिनों अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय पहलों के रूप में दो-चार उत्प्रेरकों ने इस सक्रियता को और बल दिया। इनमें प्रमुख थे : राष्ट्र संघ द्वारा 1975 से 1985 की अवधि को 'राष्ट्र संघ महिला दशक' घोषित किया जाना; और केंद्र सरकार द्वारा भारतीय नारी की दशा पर एक समिति का गठन। इस समिति का उद्देश्य था सभी क्षेत्रों, वर्गों एवं समुदायों की महिलाओं की दशा का सुनियोजित एवं व्यापक मूल्यांकन। उक्त समिति द्वारा तैयार की गई ऐतिहासिक रिपोर्ट, 'समानता की ओर' (Towards Equality), सरकार के नीति-निर्माताओं के लिए तत्काल एक कसौटी बन गई। लेकिन इससे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि समिति ने कई मामलों में महिलाओं की बदतर होती दशा और उनकी बढ़ती दासता पर ध्यान आकृष्ट किया। इसके लिए समिति ने महिलाओं के विरुद्ध भेद-भाव के संरचनात्मक एवं सांस्थानिक स्वरूपों की ओर अंगुली उठाई। कम-से-कम आधे नागरिकों को उनकी संवैधानिक सुरक्षा दिलाने में असफल रही सरकार की त्रुटियों को प्रकाशित किया।

'समानता की ओर' (Towards Equality) के बाद सन् 1988 में लीक से हटकर एक अन्य रिपोर्ट, 'श्रम शक्ति', आई। यह भारत के अनौपचारिक या असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं पर एक विस्तृत अध्ययन था। वस्तुतः इसी क्षेत्र में लगभग 90 प्रतिशत महिलाएं काम करती हैं। इन दो रिपोर्टों के प्रकाशन एवं निष्कर्षों ने नारी आंदोलन एवं महिला अध्ययन सदृश अपेक्षाकृत नए विषयों,

दोनों, को प्रखर बना दिया। नारीवादियों को लगा कि जमीनी सचाई से जूझने के लिए उन्हें ठोस सूचना और उसके विश्लेषण की आवश्यकता थी। अब शोधकर्ताओं एवं शिक्षाविदों ने महिलाओं की आपबीती एवं तत्संबंधी प्रयोगाश्रित आंकड़ों के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन, विश्लेषण एवं सिद्धांत-प्रतिपादन की महत्ता समझी। शैक्षणिक एवं सक्रिय गतिविधियों कार्यों के सम्मिलन ने सरकार एवं नीति-निर्माताओं को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया कि महिलाओं के विरुद्ध सुनियोजित एवं व्यवस्थाजन्य भेद-भाव व्याप्त हैं। उन्हें महिलाओं के वास्तविक सशक्तीकरण के लिए नीतियों एवं कार्यक्रमों के विकास पर ध्यान देने के लिए बाध्य कर दिया ताकि महिलाओं को देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में आधिकारिक स्थान मिल सके। इस संदर्भ में आंदोलन के महत्त्वपूर्ण योगदान और इसके दूरगामी प्रभावों के विस्तृत वर्णन की यहां आवश्यकता नहीं है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह बीसवीं सदी के अति महत्त्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलनों में एक है।

विश्वविद्यालयों के अंतर्गत लक्ष्मण रेखा पार करने का श्रेय निस्संदेह उन नारीवादी शिक्षकों एवं शोधार्थियों को जाता है जिन्होंने मूलपाठ (टेक्स्ट) की संरचना में व्यापक परिवर्तन किए हैं; विषयी रूढ़ियों को चुनौती दी है; पद्धतियों में नयापन दिया है; और सभी अनुशासनों में लैंगिक भेदभाव दूर करने के उद्देश्य से शैक्षणिक संस्थानों में जगह बनाने के लिए संघर्ष किया है। उनकी सक्रियता के लिए उन्हें अकसर फटकारा गया है—बल्कि अनुशासनात्मक कार्रवाई भी की गई है। संभव है इसी सक्रियता ने उन्हें सर्वप्रथम अपने शोध एवं शिक्षा पर पुनर्विचार करने के लिए उद्यत किया हो। अपने काम के साथ-साथ उन्होंने दहेज के विरुद्ध, और बलात्कार नियमों में परिवर्तन के लिए संघर्ष जारी रखा। मीडिया में महिलाओं के नकारात्मक चित्रण का विरोध किया। सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों में हस्तक्षेप किया। उन्होंने भारतीय नारी की दशा का अध्ययन किया; अनुशंसाएं दीं; संकल्प लिया; और लिंग-न्याय के मुद्दे पर न्यायालय का दरवाजा खटखटाया।

(2)

कर्मठ महिलाएं (वीमेन हू डेयर्ड) नामक यह कृति एक सरल पर सच्चा प्रयास है। विगत 50 वर्षों में हमारे देश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में गिनी-चुनी

महिला प्रतिनिधियों के योगदान को उकेरती यह पुस्तक एक ऐसा प्रयास है जिसमें उन महिलाओं की कहानी न सिर्फ उन्हीं के शब्दों में, बल्कि उनके सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में प्रस्तुत हैं। उनके कार्य, उनका जीवन एवं भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन से प्रभावित समाज में उनकी भूमिका—कुल मिलाकर उनकी संक्षिप्त आत्मकथाओं के माध्यम से हमें उम्मीद है कि पाठकों को नित नए रूप में उभरते राष्ट्र की छवि की झलक मिलेगी क्योंकि यह छवि वस्तुतः भारतीय महिलाओं के जीवन में ही प्रतिबिंबित होती है।

प्रस्तुत 21 महिलाएं सबल हैं और लोगों का संबल बन रही हैं। पर किस बात ने उन्हें प्रेरित किया ? उन्होंने जो किया, उसे कैसे चुना ? चुनौती, सुधार, विरोध, संरक्षण, अग्रगामी परिवर्तन के लिए संघर्ष—हर हाल में परिवर्तन करने की ललक उनमें कैसे आई ? वह भी न सिर्फ निजी जीवन में बल्कि सामाजिक या राजनीतिक प्रतिबद्धता, अपनी कला एवं अदम्य साहस के माध्यम से अन्यों के जीवन में भी। उनकी यादें—कभी बेबाक, तो कभी दबी जुबान, पर सदैव मनमोहक, हमारे समक्ष एक सतरंगी तस्वीर प्रस्तुत करती हैं। भूगोल और इतिहास को संजोए हुई तस्वीर ! सामूहिक इतिहास की परत दर परत खुलती आपबीतियां। व्यक्ति विशेष की दृष्टि एवं प्रतिबद्धता से प्रेरित सामूहिक प्रवृत्ति। छोटी शुरुआत—फेरी वालों, कूड़ा बीनने वालों, खेतिहर-मजदूरों, भूमिहीन मजदूरों या दलितों के साथ—जो परिवर्तन की ओर अग्रसर होती हुई विशाल आकार की हो गई। भाव-भंगिमा, शब्द, थिरकन, कूची की चाल, ढांचा—इन्होंने नृत्य, नाटक, चित्रकारी, स्थापत्य कला, संगीत, पुस्तक और फिल्म सभी के संबंध में हमारी धारणा बदली नहीं भी, पर निस्संदेह संशोधित कर दी। खेल और पर्यटन के साहसिक कारनामें एवं रोमांच; आदर्श से प्रभावित शोध एवं शिक्षण में व्याप्त परिवर्तनकारी संभावनाएं। अकेली महिला द्वारा सरकार की ताकतों को चुनौती और कानून के हरफों में उलटफेर। पर इस प्रयास का उद्देश्य महिला विशेष को अनावश्यक महत्त्व देना नहीं है। यथार्थतः इस संकलन के कई पात्र इस प्रकार की 'वीरगाथा' को खारिज कर देंगी। असली उद्देश्य है इन महिलाओं और परिवर्तन के लिए संघर्षरत अन्य समूहों एवं समुदायों के बीच परस्पर सक्रियता को प्रकाशित करना।

उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप कुछ बहुत सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं। विगत दस वर्षों में महिला साक्षरता 15 प्रतिशत बढ़ी है। अब पंचायत की सीटों में उनके लिए 33 प्रतिशत आरक्षण होता है जो राजनीतिक सशक्तीकरण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। महिला समानता के लिए शिक्षा, संपूर्ण साक्षरता

अभियान और महिला विकास कार्यक्रम (राजस्थान) ने महिलाओं, खासकर गरीब महिलाओं, के जीवन में भारी परिवर्तन किया है। दहेज विरोधी कानून एवं घरेलू अत्याचार से बचने के विशेष उपायों ने इस सर्वव्यापी कुप्रथा को जनता, पुलिस और न्यायालय की नजरों में दे दिया है।

(3)

लेकिन कई महिलाएं यहां नहीं हैं। हम बहुतों को नहीं जानते हैं। कई आज भी परदों के पीछे हैं। कई अपनी जीवनी लिख चुकी हैं या किसी ने उनकी जीवनी लिखी है। ऐसी भी हैं जिन तक हम नहीं पहुंच पाए। कइयों को यहां होना चाहिए था जैसे मेधा पाटकर, पी. टी. उषा और अपर्णा सेन और डायना इडुलजी, पर वे नहीं हैं क्योंकि कठिन प्रयास के बावजूद हमें अंततः उनकी जीवनी छापने में सफलता नहीं मिली। ऐसी महिलाएं हैं जिन्हें यहां शामिल किया जाता बशर्ते वे अपनी कहानियां सुनाने जीवित होतीं। और फिर लेखिकाओं एवं राजनेताओं के दो समूह भी यहां नहीं हैं क्योंकि सिर्फ उन पर केंद्रित मुकम्मल पुस्तकों की आवश्यकता है। ये तो प्रत्यक्ष रिक्तियां हैं, लेकिन निराशा के अन्य क्षेत्र भी हैं। इनमें शिल्प एवं व्यवसाय के नाम लिए जा सकते हैं, जिन्हें भरसक प्रयास के बाद भी शामिल नहीं किया जा सका। इसके अतिरिक्त कई पेशे हैं जो छूट गए; जबकि उनमें महिलाओं का नाम नहीं पर योगदान यथेष्ट है। इन सभी मुद्दों पर हम पूरी ईमानदारी से सिर्फ इतना कह सकते हैं कि हमने भरसक प्रयास किया पर भारत सदृश विशाल और वैविध्यपूर्ण देश में, और वह भी इस महत्त्वाकांक्षी परियोजना के लिए पुस्तक का एक खंड कदापि पर्याप्त नहीं हो सका। कम-से-कम एक दर्जन होने चाहिए !

अंततः एक सवाल और ? आखिर इन जीवनियों को ही क्यों दर्ज किया जाए ? गिनी-चुनी जीवनियां ही क्यों ? अंशतः इसलिए ताकि उनके कार्यों की महत्ता जानी और मानी जा सके, जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है। पर उतना ही महत्त्वपूर्ण है साहसी महिलाओं का एक अभिलेखागार निर्माण ताकि वे इतिहास के गर्त में गुमनाम होकर न रह जाएं। उन महिलाओं को जिन्होंने अपने विविध प्रयासों से न सिर्फ अपनी छाप छोड़ी बल्कि जो महिलाओं के बृहत्तर समुदाय के संघर्षों एवं आकांक्षाओं का विशेष रूप में प्रतिनिधित्व किया। लीक से हटकर परिवर्तन करने में मदद की। भयंकर विरोध को झेलते हुए कुंदन की भांति तपकर

निकलीं। स्वयं संघर्षत रहीं, लोगों के साथ मिलकर लड़ती रहीं। वस्तुतः इन महिलाओं के नाना प्रकार के अनुभव, नाना प्रकार की पृष्ठभूमि एवं दक्षता ने इस पुस्तक को विविध स्वर दिया है। अंततः, इस संकलन का उद्देश्य है उन महिलाओं का अभिवादन करना जिन्होंने सौ वर्ष पूर्व के अपने पूर्वजों की भांति लीक से हटकर चलने का दुस्साहस किया।

मुझे अपार हर्ष है कि स्वयं नेशनल बुक ट्रस्ट इस अभिलेखागार के निर्माण में अगुआ बन रहा है और इसलिए उम्मीद है कि इस पुस्तक के बाद भी कई अन्य पुस्तकें आएंगी।

–रितु मेनन

शीला संघू *(जन्म : 1924) का व्यक्तित्व हिंदी प्रकाशन जगत का पर्याय बन कर रह गया है। देश के किसी प्रकाशन घर की मुखिया बनने वाली प्रथम महिलाओं में से एक, शीला भारतीय प्रकाशक संघ की प्रथम और बहुत दिनों तक एकमात्र महिला सदस्य थीं। वह 'मेनस्ट्रीम' की सह-संस्थापक और राजकमल प्रकाशन, अरुणा आसफ अली द्वारा स्थापित एक सुंदर साहित्यिक प्रकाशन, की प्रबंध निदेशक रह चुकी हैं। वर्तमान में वह आइ. सी. ट्रस्ट की संस्थापक-न्यासी हैं। यह ट्रस्ट उन व्यक्तियों एवं संस्थानों की पहचान करता है जो कल्याणकारी अनुदान के दृष्टिकोण से गैर सरकारी संस्थाओं के परिक्षेत्र से बाहर होते हैं। इसके अंतर्गत चक्रवात या भूकंप पीड़ित क्षेत्रों के वैसे गांव आ सकते हैं जिन तक अन्य सहयोगी संस्थाएं नहीं पहुंच पाई हैं। कोई चिकित्सा राहत संगठन भी इसके तहत कार्य कर सकता है। यहां तक कि किसी सांस्थानिक आधार के बिना कार्यरत शिक्षक भी इस ट्रस्ट के साथ कार्य कर सकते हैं।*

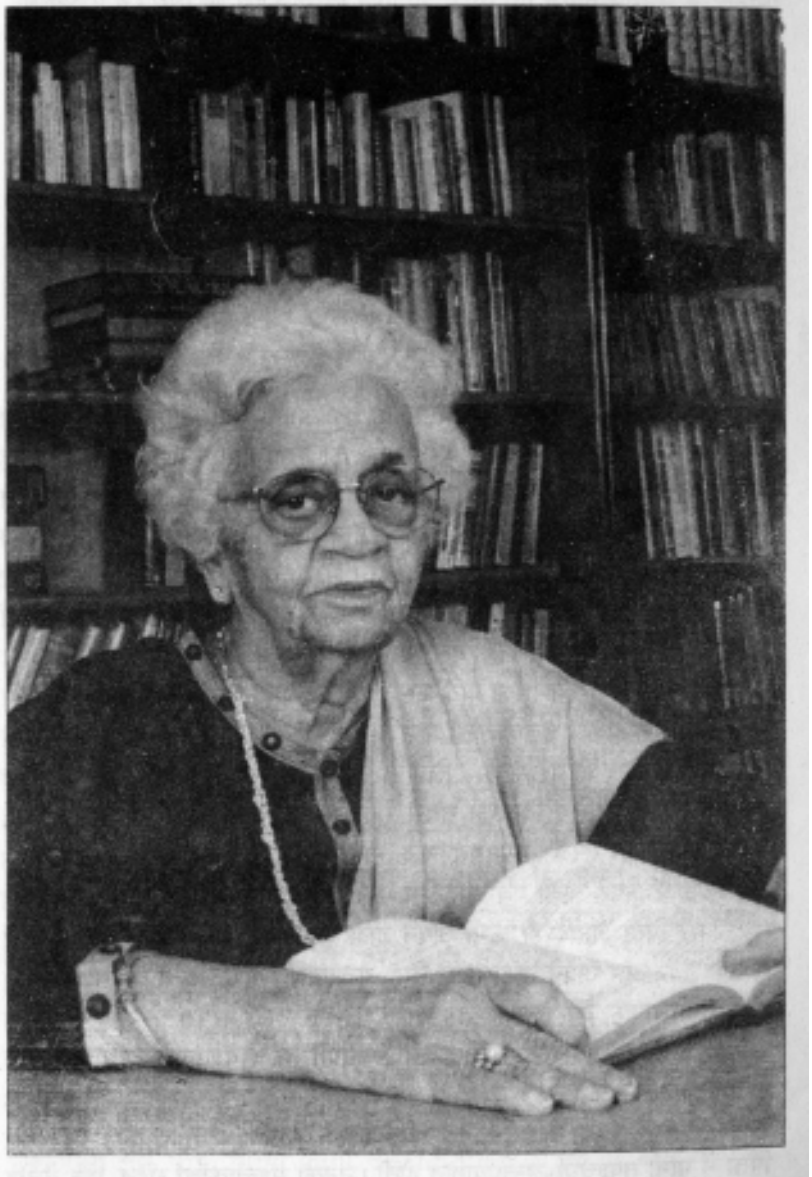

1

चौराहा, चौराहा और फिर चौराहा...

शीला संधू

(1)

सन् 1940 में किसी 16 वर्षीय बाला के दृढ़ आत्मविश्वास के साथ मैंने सोचा कि मैं अपनी एकदम साधारण परिस्थिति को भलीभांति समझ चुकी थी। यह भी जान चुकी थी कि अपने जीवन के शेष दिनों में मैं किस प्रकार की व्यक्ति बन कर रहूंगी। मेरे नैतिकतापूर्ण, गऊ समान पिता प्रो. राजेंद्र सिंह और उनकी अति सुंदर एवं चंचल पत्नी अजीत कौर ने मेरी दुनिया परिभाषित कर दी थी। उनके कट्टर गांधीवादी परिवार में मुझ से छोटे चार बच्चे थे। एक ऐसे घर में जहां किसी तरह सबका काम चल पाता, मैं सबसे बड़ी होने का दायित्व जल्द ही समझ गई। मैं गुरुवाणी का पाठ करती, चर्खा चलाती, सफेद खादी पहनती, और पंद्रह मिनट साइकिल चलाकर सरकारी कन्या पाठशाला जाती। वहां मुझे औसत अंक ही मिल पाते जो मेरे पिता के लिए निरंतर निराशा की बात होती। पर साइकिल की यह यात्रा मेरे लिए दिन का सबसे सुंदर समय होती। लाहौर के प्रसिद्ध जाड़े में अपने चेहरे पर सूरज के गुनगुनेपन को महसूस कर मेरा मन पुलकित हो उठता। उस वक्त मैं अपने बालों एवं दुपट्टे में फंसी हवा की सरसराहट मात्र सुन पाती।

मेरे पिता शायद ही कभी अपने दादा घूड़ा सिंह, तलवंडी के एक गुरुद्वारे में उपदेशक; और अपने पिता छत्तर सिंह, गुजरांवाला में लड़कियों के मिशन स्कूल के प्रधानाध्यापक, की चर्चा करते। शिक्षा की इस छोटी परंपरा के साथ मेरे पिता जुड़े रहे। पर गांधीवादी और अकाली राजनीति के बीच उत्पन्न दरार के चलते वे सेवामुक्त होने के लिए बाध्य किए गए थे। फिर वे लाहौर चले गए और पांच-छः अन्य लोगों के साथ सिख नेशनल कॉलेज की स्थापना में मदद की। मेरे उदार पिता में मानो तपश्चर्या अन्तर्प्रवाहित होती। उनका महत्वाकांक्षा रहित, एक बेजोड़ व्यक्तित्व था। उनकी धर्म निरपेक्षता तो प्रायः धर्म के किसी मर्मज्ञ में ही पाई

जा सकती है। साथ ही, उनके समक्ष ज्योतिष, काव्य एवं संगीत भी धर्म के विकल्प के रूप में उभरते रहे। उन्होंने कबीर, ग़ालिब, नानक, टैगोर एवं इकबाल पर हमारे घर में गोष्ठियां करवाईं और उनके बारे में मुझे विस्तृत जानकारी दी। शायद यहीं नींव पड़ी शब्दों के साथ मेरे जीवनपर्यंत रोमांस की। और इसने ही आगे चलकर मुझे शब्द शिल्पियों का अध्येता बनने के लिए प्रेरित किया।

अस्पृश्यता के विरुद्ध जब गांधी जी ने बिगुल बजाया तो भापाजी ने बच्छन से आग्रह किया कि शाम के भोजन के लिए हमारी रसोई में ही रोटी पका ले। उनकी पत्नी चुपचाप सहती रहती परंतु जब भापाजी ने स्वदेशी अपनाया तो उसके सब्र का बांध टूट गया। वह छोटे-से बरामदे में पड़े अपने कपड़ों के सुलगते, राख होते ढेर को नहीं देख पाई। मेरी किशोरावस्था पर मेरे मां-बाप के बीच गहरी अनबन के काले बादल मंडराने लगे। उसमें अपशकुन की रंगत भी झलक उठती। पर मुझे इस बात का भान नहीं था कि टैगोर गार्डन्स के इस छोटे परिवार को एक विनाशकारी तूफान छिन्न-भिन्न करने वाला था। एक दुःखद और उलझन भरे धुंधलके में, मैं बस इतना जान पाई कि मेरे नसीब में अपने पिता, दो छोटे भाइयों एवं बहनों की रक्षा करना लिखा था। मेरी मां का घर छोड़ जाना, कुंठित मनोदशा के साथ वापस आना और पुनः सदा के लिए चला जाना हम सबके लिए एक विपत्ति थी। उसने अपने दोस्त के साथ अलग, सुलभ आशियाना बनाना ज्यादा मुनासिब समझा। उसकी नई जिंदगी में हम छह के लिए जगह नहीं थी।

भापाजी अपनी आंतरिक वेदना मेरे साथ बांटते और मैं पूरे भक्ति भाव से सहानुभूति जताती। आज मैं उनकी अति स्वाभाविक सीमाएं देख सकती हूं, लेकिन उन्हें दोषी ठहराना फिर भी कठिन है। मेरी मां...मैंने उसे कभी माफ नहीं किया। उसके जाने के बाद दुःख का मोटा पर्दा जो हमारे चारों ओर घिर आया, मैं खुद को उसमें कैद पाती। हताशा में मैंने अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ को लिखा और युद्ध में योगदान के तौर पर एक राशन की दुकान पर सेवादान किया। सन् 1946 आते-आते मैं बी. टी. उत्तीर्ण हो चुकी थी। पुनः लाहौर महिला महाविद्यालय से एम. ए. की परीक्षा में मैं पूरे विश्वविद्यालय में अव्वल आई। इसके बाद ही मेरे पिता ने हरदेव के साथ मेरे रोमांस को मजबूरन स्वीकृति दे दी। दुबला-पतला हरदेव अंग्रेजी साहित्य से स्नातक था। उसकी जेबें खाली होतीं पर दिमाग में रोमांस, क्रिकेट एवं क्रांति के विचार भरे होते। सन् 1943 में एक दुर्घटनावश मेरी चूं-चूं, चीं-चीं करती साइकिल उससे जा टकराई थी। और जब उसने मेरी किताबें एवं भावनाएं संजोने में मदद की तो मुझे रत्ती भर भी आशंका नहीं थी कि यही वह शख्स है जिसके साथ मैं अगले 50 वर्ष से अधिक की

अवधि का अधिकांश समय बिताऊंगी। बाद में वह मुझसे मिलने जेल गया जहां मैं शीला भाटिया द्वारा पद्यबद्ध ब्रिटिश-विरोधी गीत गाने के जुर्म में प्रीतनगर के युवा क्रांतिकारियों, नवतेज और उमा, के साथ कैद थी। हरदेव उन्नीस वर्ष में ही कम्युनिस्ट पार्टी में दाखिल हो गया था। पर अपने पाश्चात्य रंग में रंगे सिविल इंजीनियर पिता की मृत्यु के तीन वर्ष बाद उसे महाविद्यालय एवं घर से निकाला जा चुका था। उसकी बयालीस वर्षीय विधवा मां, बीजी, कभी आलीशान रह चुके 81-जी, मॉडल टाउन में अब अपने चार बच्चों के साथ गुरबत के दिन काट रही थी।

मेरे पिता मेरे आधे मन से राजनीतिक गतिविधि में शामिल रहने की बात जानते थे। लेकिन उनका असली विरोध था "दुःखी दिखने वाले उस कम्युनिस्ट हरदेव से, जिसके लिए रास्ता ही उसकी मंजिल थी।" मैंने जैसे-तैसे भापाजी को जता दिया कि मैं अब और 'लड़की दिखाई' की रस्म नहीं झेल सकती और इसलिए संभावित पति के परिवारों के समक्ष नुमाइश की वस्तु नहीं बनूंगी। मैं छोटी बहन की शादी होने तक इस बात पर डटी रही। इस प्रकार मेरे पिता का प्रतिरोध कम पड़ गया और हमने शादी कर ली। हालांकि एक अयोग्य लड़के से मेरे पिता का राजनैतिक, नैतिक और भावनात्मक अलगाव बना रहा। उनकी नजर में हरदेव किसी की बेटी के लिए एक अप्रतिष्ठित वर था। मैंने 3 अगस्त, 1947 को अपना शीश नवाया, 'आनन्द कारज' पूरा किया और पीछे देखे बिना सदा के लिए पैतृक घर छोड़ चली।

दोपहर की चुंधिया देने वाली धूप में लाहौर की सड़कों और गलियों के सघन जाल पर मानो दिल दहला देने वाली भयंकर आवाज हो रही थी। मैंने पहले कभी ऐसा नहीं सुना था—हर-हर महादेव! अल्ला हो अकबर! बोले सो निहाल! डर के मारे मेरा दिल बैठ गया। हिंदू-मुस्लिम हिंसा की खबरें प्रतिदिन डरावने अंदाज में रेडियो पर सुनाई पड़तीं। यहां तक कि सिखों एवं मुसलमानों की रंजिश की खबरें भी आतीं। स्वतंत्रता की चर्चा गर्म थी। साथ ही हमारे प्रिय लाहौर के विभाजन की। मेरे पिता, जो एक मक्खी भी नहीं मार सकते थे, पर सांप्रदायिकता भड़काने का आरोप लगा तथा कई अन्य लोगों के साथ गिरफ्तार कर उन्हें केंद्रीय कारागार, लाहौर में ठूंस दिया गया। उन्नीस तारीख को मैं और हरदेव लाहौर की गलियों में मंडराते खतरों से बेखबर, एक तांगे पर सवार उनसे मिलने गए। उनसे घर की चाभियां लेनी थीं और बच्चों के बारे में निर्देश प्राप्त करना था। मेरे पिता थके हुए एवं दुःखी दिखे।

मैक्लॉड रोड पर स्थित पार्टी कार्यालय लोगों एवं अफवाहों से खचाखच

भरा था। उस रात हम फ्रैंक ठाकुरदास के घर (एफ. सी. कॉलेज में) रुके। उन्होंने अपना घर (पूरी आत्मीयता से) मुसीबत में घिरे लोगों के लिए खोल दिया था। परंतु, उनकी पत्नी अराजकता एवं दुर्व्यवस्था देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई थी। अगली सुबह हम डॉ. अमरीक सिंह के साथ खालसा कॉलेज चले गए। ऐसे समय में कैदियों एवं सुनवाई में फंसे लोगों की दशा एकदम अनिश्चत थी। वे एक दिन दोषी साबित होते, अगले दिन नायक बनकर उभरते, पुनः आरोप साबित होता, फिर बरी होने को होते... अराजकता और असमंजस का राज था। न्यायालयों में एक अजीब आलस्य एवं डर का माहौल था। अनिश्चितता व्याप्त थी। तेइस तारीख को दोपहर के सन्नाटे में एक मिलिटरी ट्रक में, बदबूदार कृषि उपोत्पाद के साथ, सवार होकर हम सीमा पार कर अमृतसर पहुंचे। वहां पार्टी कार्यालय पर कामरेडों की आपाधापी के बीच मैं खुद को सुरक्षित और खुश महसूस करने लगी—मानो मैं छुट्टी मनाने वहां पहुंची थी। हताश रह गए सैकड़ों अन्य लोगों की भांति मैंने भी अपने पिता के घर की चाभी सहिष्णु मुसलमान पड़ोसियों के पास छोड़ दी थी। बार-बार मुझे ऐसा लगता कि मैं वापस जाकर वहां बिताई जिंदगी के कुछ अंश ही संजो लाऊं। लेकिन निरंतर यह डर बढ़ता रहा कि यह जुनून शायद कभी नहीं खत्म हो!

तीन दिन बाद, उसी साल एक गुबार भरी दोपहर में जब हम 'घर' वापस लौटे तो हमें बताया गया कि कुछ कैदियों की रिहाई हुई थी और 'कुछ हिंसा' भी हुई थी पर किसी के पास खास समाचार नहीं था...इसलिए हम तूफान में ही निकल पड़े। शीघ्र ही हम एक बवंडर में घिरे थे जहां हम पर मानो आसमान टूट पड़ा। मैंने जब अपना ठिकाना पाया तो लोगों ने बताया कि मेरे पिता को, उनके साथियों के साथ, दोषमुक्त करार देकर किसी अनियत तिथि पर ही रिहा कर दिया गया था। परंतु लाहौर में कचहरी के सामने ही 'दंगे की स्थिति' में उन्हें हलाक कर दिया गया।

बहुत दिनों बाद, नवंबर, सन् 1948 में, मैंने अंतिम बार रणधीर सिंह और डा. इंद्रजीत सिंह के साथ लाहौर की यात्रा की। मैं दरअसल एक भावुक यात्रा पर थी। मुझे एक साधारण गहना हासिल करना था जो मेरी दादी ने मुझे दिया था, पर उन दिनों मेरे पिता के बैंक के लॉकर में यों ही रखा था। मैंने अंतिम बार दुःखी होकर अपने बचपन के घर को देखा। हमारे पड़ोसी की नौवीं पत्नी, नवोढ़ा, कुलसुम बानो सहमी हुई शर्मिंदगी भरे अंदाज में मुझसे फिर वापस न आने की मिन्नत करने लगी। वह अपने घर के मर्दों के व्यवहार के प्रति कतई आश्वस्त नहीं थी। मेरी यह यात्रा निराशाजनक, निरर्थक और खतरनाक थी।

इसका कोई परिणाम नहीं निकला। रेलगाड़ियों में हुजूम उमड़ पड़ा था। शहर और देहात के शरणार्थी शिविरों की दशा भिन्न नहीं थी।

शादी के बीस दिन के अंदर ही मैंने अपनी मां के सारे बच्चों का दायित्व संभाल लिया। अजीत कौर का अता-पता कोई नहीं जानता। न ही कोई उसका जिक्र करता। पैंतालीस वर्ष बाद ही, जब वह मर रही थी, मेरी उससे मुलाकात हुई। पर मैं उसे दुबारा नहीं मिली।

(2)

हर उम्र और विभिन्न कद-काठी के भाइयों एवं बहनों के अपने कुनबे के साथ मैं और हरदेव पार्टी मुख्यालय की शरण में चले गए। वहां के विस्तृत परिवार ने हमें सुरक्षा दी, अपना लिया। वहां सब मानो बहकर ढेर लग गए थे और पुनः चलायमान थे। क्रांति की दिशा में कार्यरत 'समर्पित' कार्यकर्ता हरदेव को भोजन, आवास और पच्चीस रुपये बतौर तनख़्वाह मिलते थे। अगले दर्जन या अधिक वर्षों तक उसकी आमदनी इतनी ही रही। संकट की उस घड़ी में पार्टी मुख्यालय के लिए यह असंभव था कि वह प्रवास के लिए भटकते परिवारों को अनंत काल तक छत और भोजन मुहैय्या कराता। यह उम्मीद करना ही व्यर्थ था। दहशत और बरबादी की एक-एक कहानी अजीब थी। इसी बीच जालंधर के रैनक बाजार में हरदेव ने एक भयानक खबर सुनी और हमें बताने के लिए वह भागा-भागा पार्टी कार्यालय आया। मैं गांधी जी के लिए शोक संतप्त हो गई। मुझे अपने अल्पायु पिता की हत्या पर भी इतना दुःख नहीं हुआ था। मेरे दिल के अंदर उठा उफान अचानक शांत पड़ गया। मेरे अंदर एक विशाल शून्य उत्पन्न हो गया था जो कभी भी नहीं भर पाया।

सिर्फ मैं नौकरी के लायक थी और यह निर्णय हुआ था कि मैं जल्दी-से-जल्दी नौकरी के लिए आवेदन करूं। हालांकि मुझे कभी नहीं लगा कि मैं किसी नौकरी के काबिल थी। मैं बस तेईस की थी—भयभीत, गऊ समान, झंझावात में पड़ी और किंकर्तव्यविमूढ़; जबकि मुझे दृढ़, साहसी और आत्मविश्वास से परिपूर्ण होना चाहिए था। अंततः मैंने बीबी सुशील कौर को दूर छिपाकर रख दिया। दरअसल आसपास के कत्लेआम से खुद को घसीट निकालने के लिए और सदा दस्तक देते जुनून से बचने के लिए मैं खुद से भी दूर हो गई। पंजाब के शिक्षा विभाग के निदेशक जी.सी. चैटर्जी ने मेरे पिता के बारे में सुन रखा था, उन्होंने (मेरी पहली) नौकरी के लिए आवेदन करने को कहा। क्या सचमुच मैं ही थी

जिसकी बहाली लुधियाना महिला महाविद्यालय में हो गई थी? क्या कोई छात्र मुझसे पढ़ने का इच्छुक रहा था? तब जबकि हमारे इर्द-गिर्द पूरी दुनिया टूट-बिखर रही थी?

चाहे जैसे भी हो, 210 रु. की नियमित मासिक आमदनी की आशा बहुत सुकून की थी। मैंने हरदेव को मनाया कि वह अपनी मां के साथ समझौता कर ले और अपने दोनों भाइयों के प्रति जिम्मेवार हो जाए। दोनों हमारे साथ रहने लगे। मेरी इस तनख़्वाह से किस प्रकार उन आठ वयस्कों का भोजन-वस्त्र चलता जो इस पर निर्भर थे, मुझे नहीं पता। हो सकता है अब मैं उस दृश्य को भूल पाती जिसमें दहाड़ें मारती माताओं की गोदों से उनके नवजातों को छीनकर रात के सन्नाटे में रेलगाड़ियों से बाहर उछाल दिया जाता। उस नवयुवती की पीड़ा से उबर पाती जिसे किसी बेनाम रेलवे प्लेटफार्म पर मरे हुए बच्चे को जन्म देने में मैंने 'मदद' दी थी। मैंने कालकाजी शरणार्थी शिविर में अपने गर्भपात को नियति मानकर खुद को मना लिया था। यह हमारी भलाई में ही था। बल्कि मुझे तो बहुत बाद अप्रैल 1950 में इस घटना की याद आ गई जब अपने लुधियाना निवास पर मैंने एक दाई की मदद से एक खूबसूरत बच्ची को जन्म दिया। बोलशेविक क्रांति में शहीद नायिका के नाम पर हमने उसका नाम ज़ोया रखा।

सन् 1949 में नेहरू के नेतृत्व में अनुभवहीन भारत सरकार ने 'झूठी आजादी' का नारा देने के नाम पर कम्युनिस्ट पार्टी को प्रतिबंधित कर दिया था। हम साथ-साथ एक सुर व उत्साह से गाते "बदल गया है ताल, पर बदल नहीं रही है छवि।" हरदेव भूमिस्थ हो जाने के लिए मजबूर था। उसने अपनी गंदी पगड़ी उतार दी, अपनी तितर-बितर हो गई दाढ़ी को कटवा लिया और नए अवतार में मोहन बनकर पुनः उभर आया। फिर भी उसे छिपना होता, बचने के लिए भागना पड़ता। और कई अन्य लोगों की तरह, उसकी पत्नी के पीछे भी सी. आइ.डी. लगी होती और उसकी सरकारी नौकरी भी खतरे में थी। पर परिवर्तन के लिए यह मूल्य चुकाना आवश्यक था न? क्या यह आम हड़ताल इस बुर्जुआ सरकार का चलना दूभर नहीं कर देती? पूंजीवाद को ताश के महल की भांति नहीं गिरा देती? हम सांस रोके प्रतीक्षा करते रहे। जेलों में कामरेड भर गए थे। क्रांति ने उनकी ये गत बना दी थी। पर मोहन उनकी पकड़ से बचता रहा। अपनी अक्ल के बूते दिन काटता रहा। वह पूरे चार वर्षों तक भूमिस्थ रहा। पर उसका मनोरंजक स्वभाव बरकरार रहा। तब भी जब एक कम्युनिस्ट की पत्नी होने के चलते मैं अपनी नौकरी खो चुकी थी।

संघ लोक सेवा आयोग द्वारा अखबार में दिए गए रिक्ति के विज्ञापन के आधार पर मैंने आवेदन कर दिया और दिल्ली विश्वविद्यालय के एक राजपत्रित पद के लिए चुन ली गई। मेरी नियुक्ति केंद्रीय शिक्षा संस्थान में छात्रों को भूगोल पढ़ाने के लिए हुई थी। सन् 1950 के जाड़े में हमने तिमारपुर के पास ही एक छोटा-सा बैरक तीस रुपये मासिक किराये पर ले लिया। यह छोटा-सा घर जल्दी ही दोस्तों, कामरेडों, संबंधियों एवं टूटी-बिखरी जिंदगियों से भर गया था। इसमें तो मानो पूरी दुनिया समा गई थी। अतृप्त आकांक्षाओं एवं बिखरे सपनों का विस्तृत आशियाना था यह।

हरदेव प्रतिदिन साइकिल से दूर फिरोजशाह रोड पर स्थित पार्टी कार्यालय जाता। मैं पैदल कॉलेज जाती। केंद्रीय शिक्षण संस्थान में अध्यापन के साथ-साथ मैंने वहां के प्राचार्य डा. बसु की प्रेरणा से एम. एड. में दाखिला ले लिया। और पुनः प्रथम आकर मैं खुद भी हैरान थी। इस बार दिल्ली विश्वविद्यालय में ऐसा हुआ था, लाहौर से मीलों दूर। हरदेव रोमांचित था। मेरे माता-पिता की खुशी हरदेव में गुंजायमान थी। पर दिल्ली विश्वविद्यालय में अव्वल आने के बाबजूद वहां मेरी नौकरी नहीं बच पाई। सी.आइ.डी. ने गृह मंत्रालय में मेरे खिलाफ रिपोर्ट दर्ज की थी। डा. बसु यह जानकर हैरत में थे कि मुझे पंजाब शिक्षा विभाग वापस जाना पड़ सकता था। मैंने कई राजनैतिक दरवाजे पर दस्तक दी, पर व्यर्थ। अन्याय के खिलाफ अपील करने के लिए उप-राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन से भी मिली। आंखों में चमक लिए उन्होंने मुझे हंसते हुए पूछा कि क्या मेरे सीने में क्रांति की आग धधक रही थी। मैं टाल-मटोल करती रही। साथ ही इस बात पर डटी रही कि मैं भूगोल की अच्छी शिक्षिका थी। वह सहानुभूतिपूर्वक सुनते रहे और मुझे गृह मंत्री के पास जाने का निर्देश दिया। पर उन्होंने यह भी कहा "डॉ. काट्जू सुनते नहीं। वे तुम्हारे भोलेपन को नहीं समझेंगे।"

मैं तीस की थी जब दिल्ली विश्वविद्यालय की मेरी नौकरी चली गई। मुझे पंजाब वापस भेज दिया गया और जानबूझकर शिमला के राजकीय महिला महाविद्यालय में नियुक्त कर दिया गया। मैं एकल महिलाओं के छात्रावास में रहती और अपनी मासिक आय बढ़ाने के लिए छठे, सातवें एवं आठवें वर्ग के लिए अंग्रेजी भाषा में भूगोल की पाठ्य पुस्तकें लिखती। वे अमृतसर के गोवर्धन कपूर एंड संस से प्रकाशित होतीं। मैं कभी नहीं जान पाई कि उनकी कितनी प्रतियां छपी या बेची गईं। मुझे एक प्रकार का करार याद है। दो-एक बार एकमुश्त रुपये मिले। पर एकांत के उन दिनों वे कहां गए मुझे याद नहीं। कुछ भी रहे हों मेरी उम्मीद से अधिक थे और मेरी आवश्यकता से कम। आज की भांति

उन दिनों भी पाठ्य पुस्तकों में अधिक पैसे थे; वैसे लेखकों का शोषण था और प्रकाशक कोई फरिश्ते तो थे नहीं।

सन् 1954 में पार्टी ने कुछ 'सदा-समर्पित' कार्यकर्ताओं से अन्यत्र रोजी तलाशने के लिए कहा क्योंकि अब वह 'उन्हें सहारा देने में' असमर्थ थी। मुझे लगा वहां हावी एक विरोधी से छुटकारा पाने के लिए, जो पार्टी मंचों पर सदैव मुखर होता, यह महज एक चाल थी। पार्टी की दिल्ली इकाई ने हरदेव से कहा कि वहां उसके लिए कोई काम नहीं था और वह यदि चाहे तो रोजगार ढूंढ़ ले। पार्टी उस इंसान को बरखास्त करने की कोशिश में थी जिसके पास कोई नौकरी थी ही नहीं। यह हास्यास्पद वाकया उसकी नजर से नहीं बच पाया।

हरदेव अपनी पूरी बुद्धि एवं अजस्र ऊर्जा उस काम में झोंक देता जिसे वह अपने जिम्मे लेता। वह कभी एक पत्रकार था, तो कभी बीमा या ट्रैवल एजेंट बनकर कमीशन कमाता। सन् 1955 में हम जोरबाग उपनगर में किराये के एक मकान में चले गए। दो कमरों का यह घर भूतल पर था और इसमें एक बगीचा भी था। पर यह मेरे काम की जगह, हमारे मित्र और हमारी चिरपरिचित दुनिया से मीलों दूर था। हरदेव ने देर रात तक काम करना आरंभ कर दिया था और पिल्स के बिना सो नहीं पाता। मर्करी ट्रैवल्स से उसकी इतनी अच्छी कमीशन बनने लगी कि जल्द ही उसने अपनी एजेंसी खोलने का निर्णय ले लिया। स्वभाव से सहमी हुई, मैंने उसे रोकने का प्रयास किया। पर वह सुनता क्या? अंतिम बार जब उसने किसी की बात को तबज्जो दी थी, वह उसके पिता थे जिनकी मृत्यु के समय हरदेव सिर्फ सोलह का था।

मैं यह कल्पना भी नहीं कर पाई थी कि लाहौर से मजबूरन मुंह मोड़ने के एक दशक बाद ही मैं अपने बाल कटवा लूंगी और कार चलाना सीख लूंगी। अब अस्सी की होने चली हूं, पर मैं इस प्रकार के नए अवतार में छिपी ढिठाई पर आज भी शर्मा उठती हूं।

(3)

सन् 1958 में जन्माष्टमी के दिन दरियागंज के एक छोटे-से घर में चल रहे डॉ. वोर्सले के साधारण क्लिनिक में दस पाउंड के टीटू का जन्म हुआ था। बीजी तो खुशी से फूली न समा रही थी। उसके बाद मैं 'चीन में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव' पर पी.एच. डी. करने के लिए इंडियन स्कूल फॉर इंटरनेशनल स्टडीज में पंजीकृत हो गई थी। ज़ोया सप्रु हाउस के पड़ोस में एक स्कूल में दाखिला

ले चुकी थी और तानी ब्लू बेल्स में गई। ब्लू बेल्स हमारे पड़ोस में हंगरी की एक यहूदी मैरी गुहा, करीबी दोस्त, द्वारा स्थापित किया गया था। मैं अब चौंतीस की थी और हमारी जिंदगी में सहपाठियों—सुमित्रा, लीला, कार्की, पार्वती, युधिष्ठिर, जनक, सीता, टकुलिया और फड़नीस—की भरमार थी। हम एक परिवार की तरह थे। दादा-दादी हो जाने के बहुत दिन बाद भी हम एक दूसरे के संपर्क में रहे। परंतु हरदेव के सहकर्मी शायद ही कभी घर आए।

मुझे जब टोक्यो की 'इम्पेरियल लायब्रेरी' और पीकिंग विश्वविद्यालय में शोध के लिए जाने की आवश्यकता हुई तो चारों तरफ से मित्रों ने मदद की। जोया नामक एक सहकर्मी (कामरेड) हमारे बच्चों, छह माह के बेटे एवं तीन व आठ साल की बेटियों, की देखभाल के लिए स्वेच्छा से आगे आई। मैं जब चीन जाने के लिए तैयार हुई तो कांगड़े के एक दंपति, स्योति एवं चेतराम, ने घर चलाने की जिम्मेवारी ले ली। मैंने किस प्रकार कामरेड जोया एवं हरदेव से यह उम्मीद की कि वे टीटू, तानी एवं ज़ोया को मेरी अनुपस्थिति में संभाल लेंगे, मैं नहीं जानती। और बमुश्किल याद कर सकती। मैंने चीनी लिखना एवं पढ़ना सीखा और पीकिंग विश्वविद्यालय में खुश थी। लेकिन मेरा मन हरदेव, बच्चों एवं भारत पर लगा रहता। नन्हें-मुन्हें सुंदर-सुंदर चीनी बच्चों को बाहों में समेटे मेरी चमचमाती तस्वीरें हैं। वहां बिताए दिन की सिर्फ वही सुखद स्मृति तो बची है।

भारत-चीन कूटनीतिक संबंध में खटास उत्पन्न होने से बहुत पहले ही चीन में जहां-तहां रह रहे भारतीयों को एहसास हो गया था कि हिंदी-चीनी भाई-भाई का नारा खोखला हो गया था। मेरे पर्यवेक्षक ने मुझे एक ओर बुलाकर कहा कि उसे अब कतई संदेह न था कि आगे किसी भारतीय विद्यार्थी को पुस्तकालय में प्रवेश नहीं दिया जाएगा और मुझे कार्य करने के लिए वैकल्पिक रास्ता सोच लेना चाहिए। मैं यकायक विश्वास नहीं कर पाई, पर अपने फील्ड वर्क की गति बढ़ा दी। मैं जूतों के डिब्बों में साफ-साफ बनाए हुए सैकड़ों सूचना-पत्र सुसज्जित करने लगी। पर्यवेक्षक से बात-चीत के तुरंत बाद अधिकांश भारतीय छात्र अचानक कुछ अजीब-सा अनुभव करने लगे। हमारे चीनी मित्र हमसे कन्नी काटने लगे थे। हमारी जरूरत की किताबें गधे के सींग की तरह गायब हो गईं। प्रशासन में लोग हमारा भारतीय टोन नहीं समझ पाते। पर्यवेक्षक के पास हमारे लिए समय नहीं होता। कैफेटेरिया एवं छात्रावास के स्टाफ बेमन से सिर हिलाया करते।

भारत वापस आकर मैंने जब चीनी माहौल की बात बताई तो मेरे परिचितों में से किसी ने विश्वास नहीं किया। हमारे कई मित्र, हरदेव भी, मेरी कहानियां सुन परेशान हो जाते। उनसे भिन्न, कुछ लोग ऐसे थे जिन्होंने कहा कि मैं कड़वाहट

से भरी थी—अपनी डॉक्टरेट पूरी न कर पाने की वजह से कुंठित। कामरेड जोशी को लगा कि मेरी कहानी की जड़ में कुछ बहुत कड़वा अनुभव था। इसी बीच पार्टी में विभाजन हुआ जो हमारे लिए दूसरा बंटवारा साबित हुआ। चाकू निकल आए। एक भाई दूसरे भाई की जान के पीछे पड़ गया था। हरदेव सी.पी.आई में रह गया। मैं इसके लिए आभारी थी। जो लोग पार्टी या ए.आइ.पी.एस.ओ., एन.एफ.आइ.डब्लू., ए.आइ.यू.सी. या इप्टा सरीखे संगठनों के साथ रहे उन्हें इस नई घिनौनी दुनिया में कुछ-कुछ संरक्षण मिलता रहा। लेकिन पार्टी और हरदेव जैसे लोगों के बीच बना संबंध एक विचित्र, एक-दूसरे को उपयोग करने की प्रवृत्ति से गंदला पड़ गया था। चीन में मेरे अनुभव के बाद जब हंगरी की घटना हुई तो मैंने अपने कार्ड का नवीकरण नहीं कराया। और चेकोस्लोवाकिया की घटना होते-होते तो पार्टी से मेरा मोह भंग हो चुका था। मेरे और हरदेव के दृष्टिकोणों में फासला बढ़ता गया क्योंकि उसने दुःखद अंत तक अपने स्वप्न के प्रति समर्पित रहने की ठान ली थी।

मेरी तरह कई लोग थे जिनका पार्टी के साथ उभयभावी संबंध था। वे हमेशा हाशिए पर होते। पर ध्वजा उठाकर आगे होने के नाते वे तमाम 'बदनामी' के हकदार थे क्योंकि बाक़ी दुनिया देखती कि वे 'कम्युनिस्ट' थे, जबकि उनके अपने उन्हें कब तरजीह देते! 'मेनस्ट्रीम' को प्रकाशित करने वाले लोगों के समूह में अधिकांश ऐसे ही लोग थे। सन् 1962 तक डॉक्टरेट करने का मेरा स्वप्न टूट चुका था और मैं उनके साथ काम कर रही थी। पर उस वक्त मुझे यह भान नहीं था कि मेरे लिए यह एक प्रशिक्षण था जो मेरे आने वाले कल के लिए एक वरदान के समान था।

हरदेव जिसमें हाथ लगाता वही सोना हो जाता। वह इस कला में कुशल हो गया था। लैंड मास्टर की जगह फियेट कार आ गई थी। रंगे हुए आइस बाक्स की जगह सफेद चमचमाती हुई फ्रिजिडेयर। और रिसते हुए गुलमर्ग कूलर को घर के बाहर कर दिया गया क्योंकि घरों की खिड़कियों को एयर कंडीशनरों ने मूंद दिया था। मैं दूर हरी-भरी दक्षिणी दिल्ली में आ बसी थी। यहां हम किसी को नहीं जानते थे। हरदेव ने एक दो मंजिला मकान बनवाया जिसमें एक बड़ा तहखाना एवं बगीचे भी थे। यह घर था तो आधुनिक, पर उसके पिता के लाहौर स्थित मजबूत व आलीशान मकान की नकल। यह सारा कुछ ज्यादा ही भव्य था। मैं पहले के अनुभव से ही जानती थी कि कुछ भी सदा के लिए नहीं होता। इस प्रकार पैसा बढ़ने के साथ मेरी चिन्ताएं भी बढ़ने लगीं। हरदेव मुझे जितना ही आश्वस्त करता मैं उतनी ही असुरक्षित महसूस करती। जिंदगी हमें किधर

बहाए ले जा रही थी—मन में बैठी यह आशंका उभरने लगी थी। साथ ही कुंठा की एक परत जमने लगी थी। हमारे अपने घर से दूर बनाए गए इस नए घर में भी पुरानी दरारें दिखने लगीं। पार्टियों में किया गया कटाक्ष, फिजूल, हानिकारक एवं उससे भी बुरी, अविश्वासपूर्ण बातें मुझे बहुत दुःख पहुंचातीं। मैं खुद का बचाव करती—अलग-थलग रहने लगी। साथ ही मैंने अपने बालों को 'पर्म' करवाया, उन्हें गहरे काले रंग में रंगवाया। अब मैं अपनी क्षमता को एक अभेद्य ढाल की भांति धारण कर लेती। मेरा हृदय एक क्रुद्ध सर्द मुट्ठी में कैद होकर रह गया था।

हरदेव ने अन्य पूर्व कामरेडों के साथ मिलकर जिस एक्सपोर्ट कंपनी की नींव रखी, वह विशालतम ट्रेडिंग हाउस में से एक साबित हुई। एक दिन जब वह अरुणा आसफ अली से मिलकर आया तो यह खबर दी कि अरुणा अपने प्रकाशन घर में मुसीबतों में थीं, और हरदेव ने उन्हें मदद का वचन दे दिया था। मैं कुछ समझ पाती इससे पहले ही हरदेव ने अरुणा जी से राजकमल प्रकाशन का अधिकांश खरीद लिया था। और वहां के प्रबंध निदेशक, जिसके पास मुट्ठी भर शेयर और ढेरों महत्वाकांक्षाएं थीं, से बुरी तरह उलझ गया था। गौरतलब है कि लेखकों के बीच भी उस निदेशक की अच्छी पहचान थी। हम उन्हें न तो जानते और न ही तब तक उनकी सुध हमें थी।

चूंकि कुछ शेयर मेरे नाम भी खरीदे गए थे, बोर्ड की बैठक में मेरी उपस्थिति स्वाभाविक थी। बैठक में हंगामा होता और यह असह्य था। जिंदगी में मैंने पहली बार हरदेव को लड़खड़ाते हुए देखा—वह अपनी क्षमता से ज्यादा बोझ ले चुका था। दो-चार महीने बीते, तब जब एक बार फिर प्रबंध निदेशक ने हरदेव को सताने के लिए पद छोड़ जाने की धमकी दी तो मैंने उसके सामने एक सादा कागज रख दिया और त्याग-पत्र लिखकर देने की मांग की। अरुणा जी को तो मानो काठ मार गया। हरदेव भी हतप्रभ था। वहां 'तू-तू, मैं-मैं' की नौबत आ गई। हरदेव चिल्लाया "क्या कर रही हो शीला? इस संस्थान को कौन चलाएगा? तुम तो हिंदी पढ़ भी नहीं पाती।" वह तो बल्कि उस व्यक्ति को मनाने के लिए तैयार था। उससे त्याग-पत्र पर पुनर्विचार का आग्रह भी किया। लेकिन मुझे यह सब कुछ भी नहीं चाहिए था। परिस्थितिजन्य अन्याय ने मेरे क्रोध को भड़का दिया था और मेरा हठ हावी हो गया था। प्रबंध निदेशक कुछ कर्मचारी, कुछ लेखक एवं हृदय में बदले की आग लिए अलग हो गया। उसने अपना प्रकाशन स्थापित कर लिया। और इस तरह पासा फेंका जा चुका था।

घर में प्रतिदिन अभूतपूर्व तनाव होते क्योंकि मैं एक ऐसे कार्यालय में

बारह-बारह घंटे काम करती जहां उस भाषा में प्रकाशन होता जिसे मैं नहीं जानती; जिसकी लिपि भी बमुश्किल पढ़ पाती। पैंतालीस पार करने के बाद मन में देवनागरी लिपि रचने-बसने लगी और मैंने अपनी आंखों को प्रशिक्षित किया कि देवनागरी 'म' को अनजाने में गुरुमुखी 'स' न समझें। कहां फंस गई थी मैं?

'हिंदीवालों' के इस अपरिचित संसार में मैंने जैसे ही कदम रखे, लोगों ने तत्काल मुझे नकार दिया। मैं 'तेज तर्रार' और 'पर-कटी' पंजाबन थी जिसके पास साहित्य विचार की बू तक नहीं थी। मैं जानती थी कि मेरे बाल छोटे थे; मेरे पति व्यावहारिक रूप से इस प्रकाशन घर के मालिक थे तथा कुछ लोगों के नजरिए में मैं खतरनाक दिखती थी, पर मैं उनकी मुखाकृति से भी अवगत थी कि उनकी नजर में मैं असंस्कृत, हावी और गुस्सैल थी। वे मुझ पर विस्मय-मिश्रित घृणा की नजर डालते। मैं भी विस्मित नजर, जिसमें घृणा मिली होती, से उन्हें घूरती। शायद ही पहले कभी इससे अधिक सांस्कृतिक विषमता वाले लोग एक साथ रहने को मजबूर हुए होंगे। 'काउ बेल्ट' से संबद्ध न होने के कारण क्या लोग मुझे कभी माफ नहीं करते? गुस्से में मुझे लगता कि पान-चबाते इन अपरिचित नाम वाले लोगों को दुनियादारी की दो-एक बात सिखा दूं। आखिरकार मैं भी अच्छी-खासी पढ़ी लिखी, देश-दुनिया घूमी हुई, उच्च शिक्षा प्राप्त महिला थी। मैं जहां से आई थी वहां इस ढिठाई एवं सुलभता से इन बातों पर कोई नहीं थूक सकता था।

मैं परिचित एवं सुग्राह्य दिखने वाली लघु-कथाएं पढ़ने लगी। 'नई कहानियां' के माध्यम से हिंदी साहित्य की जटिल दुनिया से रू-ब-रू हुई। मैंने अंधेरे में अपना रास्ता तलाशा और पुनः वहीं से वापस आ गई। मैं वह भाषा, उसके लेखक या उन लेखकों की सामाजिक मान्यताएं नहीं जानती। यह भी अनुमान न कर पाई कि मुझसे क्या अपेक्षित था। एक ऐसी भाषा जिसे पढ़ने-लिखने की बात तो दूर बोलने में भी कठिनाई होती, उसके दिग्गज या संघर्षरत लेखकों के साथ कैसे वर्ताव किया जाए? ऊपर वाले की कृपा से इस उद्दण्ड माहौल में भी द्विवेदी सरीखे ज्ञानी संत थे जिन्होंने मेरे सर पर अपना हाथ रखा और मेरे अंदर दुबकी बीबी सुशील कौर से बातचीत की। यह एक ऋण था जिससे मैं उऋण नहीं हो सकी। पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस तथा प्रगतिशील लेखक संघ के कुछ मित्र, उर्दू के कुछ कवि तथा लघु कथा लेखकों ने मुझे अपनी नजर उठाए रखने में मदद की। इस कठिन घड़ी में नामवर सिंह, जादुई वक्तृत्व एवं अध्यापन शैली के मालिक, की सलाहकार की भूमिका जितनी ही राजकमल के लिए जरूरी थी उतनी ही मेरे लिए। लेकिन उनकी भूमिका से अचानक साहित्य की दलगत व निजी राजनीति की समस्या उठ खड़ी हुई।

राजकमल के पुराने सहयोगियों ने आशंका जताई कि शीघ्र ही इसका हश्र वही होगा जो पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस का हुआ। हमारे पुराने कामरेडों ने तो घोषित कर दिया कि संधू लोग अपना साम्राज्य विस्तार कर रहे थे। दोनों ही आश्वस्त थे कि राजकमल धराशायी हो जाएगा। मैं इस सब के प्रति अपने कान बंद रखती। आंखें खोलकर मैंने वह प्रारंभ कर दिया, मैं जिसके काबिल थी—प्रशासन। मैंने कार्यप्रणाली को सुव्यवस्थित किया, प्रकाशन कार्य सुचारु किया तथा उन लेखकों से मिलना शुरू किया जो प्रत्यक्ष विरोध नहीं करते। राजकमल अपनी सारी पुस्तकें अपने ही प्रेस, नवीन प्रेस, में छपवाता। प्रबंधन एवं मजदूरों में पहले से ही अनबन थी। पर मेरे मन में शायद ही कभी यह आशंका रही हो कि मैं अपने घर के बाहर "हाय! हाय! रंडी हो गई, शीला संधू, मुर्दाबाद!" के नारे लगाते प्रदर्शनकारियों को झेलूंगी। मेरी पूरी दुनिया ही उल्टी-पुल्टी हो गई। बदहवासी में मैंने हरदेव पर इस बखेड़े का आरोप लगाया। और उससे मिन्नत की कि वह अगले दिन ही यदि संभव हो, तो नवीन प्रेस को बेच दे। हरदेव ने भी मुझ पर आरोप लगाया कि मैं इस तरह की परिस्थितियों से निबटने के लिए अधिक सक्षम लोगों के इस्तीफे को लेकर जिद्द कर बैठी थी; आवेग में आ गई थी। मैं खुद को कैद में महसूस करने लगी जहां से भाग जाने के लिए कोई जगह नहीं थी। सिर्फ कामरेड जोशी की कृपा बनी रही। उन्होंने कहा, "तुम्हारी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्ति सुंदर है। सिर्फ उसकी मानो और अपने शानदार कार्य पर डटी रहो।"

मैं जगह-जगह जाती जो मुझे चीन से भी दूर एवं अपरिचित प्रतीत होतीं जैसे बनारस, लखनऊ, पटना एवं इलाहाबाद। मैं कोई व्यवसाय, वह भी खासकर हिंदी का, चलाने में अपनी अनुभवहीनता स्वीकार करती और लोगों से कहती कि यदि मैं चीनी पर अधिकार कर सकती तो बहुत जल्द हिंदी भी सीख लूंगी। मैं उन्हें साफ-सुथरा, पारदर्शी व्यवसाय के प्रति आश्वासन देती। राजकमल प्रकाशन की परंपरा को आगे बढ़ाने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता भी दुहराती। मैं अपनी मंशा साबित करने के लिए सिर्फ समय की मांग करती। प्रसिद्ध लेखकों से मिलकर उन्हें आश्वस्त करती कि मैं वहां राजकमल प्रकाशन ठप्प करवाकर अधिक मुनाफा वाले मोटर पार्ट्स की दुकान खोलने नहीं गई थी। मुझे कई वरिष्ठ लेखकों जैसे पंतजी, भगवतीबाबू, बच्चनजी, निरालाजी, सुमनजी, बाबा नागार्जुन और फणीश्वरनाथ रेणु से मिलने का सम्मान और उन्हें जानने का सौभाग्य मिला। मैं महादेवीजी एवं दिनकरजी से मिली। मैंने राजकमल की स्थापित प्रसिद्धि का विस्तार किया। मुझे न तो 'पॉकेट-बुक रोमांस' या 'जासूसी उपन्यास' छापने का चस्का लगा और

न ही कथित रूप से अधिक सम्मानजनक पाठ्यपुस्तक प्रकाशन, जिसमें जितने ही नए संस्करण होते उतना ही लाभ, मुझे डिगा सका। मैं कभी भी उच्च स्तरीय साहित्य के निरंतर व समयबद्ध प्रकाशन से विचलित नहीं हुई। और न ही, अधिक लाभदायक अंग्रेजी प्रकाशन की ओर अपना विस्तार किया। मैं पहले जो थी, समय के साथ लोगों ने उसके लिए माफ कर दिया।

मेरी उम्र के आसपास के युवा लेखकों के बीच धीरे-धीरे विश्वास बढ़ा। मैंने पाया कि उनके मध्य मित्रों की तलाश संभव है। राजेंद्र सिंह बेदी, अश्क, नेमिजी, भीष्म साहनी, भारत भूषण अग्रवाल, निर्मला, सुरेश अवस्थी, सर्वेश्वर, निर्मल, कुंवर नारायण, प्रयाग, रघुवीर सहाय, लीलाधर जगूड़ी, मनोहर श्याम जोशी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, और अंततः अदम्य श्रीलाल शुक्ल, जिन्हें कतई नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। मुझे याद है वह दिन जब मैं नामवरजी के साथ एक तांगे पर राही मासूम रजा के निकाह में शामिल होने संसद के पीछे हरी मस्जिद गई थी। चौराहे पर मार्गदर्शन करने वाले साइनपोस्ट की तरह कृष्णा सोबती के लिए मेरे दिल में अत्यधिक लगाव था। हिंदी में लिखने वाली इस शख़्सियत में उर्दू की नजाकत और उनके पंजाबी होने के चलते एक जिद्द परिलक्षित होती है। मैंने नई पीढ़ी के लेखकों को समझने का प्रयास किया। आंशिक सफलता ही मिली। ये लोग सदैव ऊर्जावान रहे हैं—हमारी पीढ़ी में मान्य बहुत ही महीन एवं हानिरहित अनुशासन को नकारने की कोशिश करते रहे। क्या यह पीढ़ियों का एक भयानक अंतर था जो मेरे एवं अशोक बाजपेयी व मृणाल पांडे सदृश लेखकों के बीच फैल रहा था? पर मैंने तो उनका भी स्नेह जीत लिया! उनसे भी युवा लेखकों का प्यार मुझे मिला। सत्येन कुमार, मंजूर एहतेशाम, पद्मा सचदेव, स्वदेश दीपक, गीतांजलि, पंकज बिष्ट एवं अन्य कई। आन्द्रे ड्यूस की डायना एटहिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा कि एक लेखक एवं प्रकाशक के बीच मित्रता शायद ही होती है, पर यह असंभव नहीं है। मैं भाग्यशाली थी कि लंबी दोस्ती कायम रख सकी। इस दोस्ती ने प्रेम व घृणा के कई तूफानों को झेला जो इस संबंध में स्वाभाविक रूप से उठते हैं।

एक बार फिर मेरा घर कविता, गीत, चुटकुलों एवं बहस व कोलाहल से आबाद होने लगा। कोई भी महीना ऐसा नहीं बीतता जब मुशायरा नहीं होता या फिर हर साल आने वाले साहित्य अकादेमी पुरस्कार के बाद आयोजन। राजकमल के लेखकों के नाम बीसियों बार यह पुरस्कार दर्ज है। बैठक के लिए बहाना जरूरी नहीं रहा। पंजाबी, उर्दू एवं हिंदी का साथ-साथ उठना-बैठना होता। पहले तो ये औपचारिकतापूर्वक साथ बैठते—चचेरे भाइयों की तरह, जिनके पास एक-दूसरे

के प्रति अविश्वास का कारण होता। तब उन्होंने बोलना शुरू किया, बल्कि मैं तो इसे बात-चीत कहने का दुस्साहस करूंगी, भले ही वे एक-दूसरे की संगत और कृति पसंद नहीं करते। भारत के उर्दू फनकारों के टीका संस्करण प्रकाशित करने वाला पहला प्रकाशन राजकमल ही था। और फैज, हमारे अपने शहर लाहौर वाले, की रचनाओं को देवनागरी एवं उर्दू दोनों ही लिपियों में हमने ही पहली बार प्रकाशित किया। इस सुंदर और नायाब संस्करण में दोनों लिपियां आमने-सामने संवरी थीं, एक साथ पुस्तक में सजी, जैसा कि होनी चाहिए। हमारे लिए तो खासकर यह बड़े सुकून की बात थी। अब हरदेव शाम की इन बैठकों में भाग लिया करता। पहले जब लोग नागरी प्रचारणी सभा के अंदर चल रही राजनीतिक उठा-पटक की दिलचस्प बातों में मशगूल होते हरदेव बार-बार चुपके से झपकी के लिए निकल जाया करता।

आकर्षक ग्रंथावली के रूप में दिग्गजों की संकलित रचनाओं को प्रकाशित करने का राजकमल ने जो प्रयास किया वह धार्मिक पोथियों के प्रकाशन की पुरानी परंपरा की ओर महज एक धर्मनिरपेक्ष वापसी थी। उद्देश्य यह था कि हिंदी साहित्य के भाग्यनिर्माण में महती योगदान करने वाले जीवित लेखकों की रचनाओं का अभिलेखागार बनाया जाए। इसकी पहली कड़ी थी हजारी प्रसाद द्विवेदी की कुशाग्रता एवं गर्मजोशी को समर्पित श्रद्धांजलि। उनके सुपुत्र मुकुंद द्वारा संपादित यह ग्रंथ अरसों बाद प्रकाशित हुई। श्री वी.पी. सिंह ने लखनऊ में आयोजित एक सामान्य समारोह में इसका लोकार्पण किया। पंत रचनावली सबसे पहले प्रकाशित हुई। मैंने इसके लिए प्रकाशन-पूर्व आदेश एवं पेशगी प्राप्त की! उन दिनों यह घटना नहीं सुनाई पड़ती। यह मुहिम जबरदस्त सफल रहा। पुस्तकालय द्वारा इन कीमती पुस्तकों की खरीद ने मुझे एक ग्रंथावली के बाद दूसरी के प्रकाशन के लिए सक्षम बनाया। परसाई, मुक्तिबोध, रेणु, बच्चनजी और खासकर मेरे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण सआदत हसन मंटो की रचनाओं के संकलन प्रकाशित हुए। मैंने जब अवकाश प्राप्त किया उस वक्त हम इस्मत चुगताई की रचनाओं को एक जिल्द में सजा रहे थे।

राजकमल प्रकाशन ने समकालीन साहित्य की चुनींदा कहानी संग्रहों की एक शृंखला प्रकाशित की। हमारे विचारों की तो धूम मची थी। सचमुच मेरा दिमाग सातवें आसमान पर था। 'नई कहानियां' कभी भी राजकमल से भिन्न नहीं रही। आज प्रसिद्ध हो गए कई लेखकों ने अपनी पहली कहानियां इसी पत्रिका में प्रकाशित करवाईं। यहां यह याद रखना जरूरी है कि मैं सत्तर के दशक की पत्रिका क्रांति से पूर्व के समय की बात कर रही हूं। उस वक्त हिंदी में धर्मयुग,

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, हंस, दिनमान और शायद गृहलक्ष्मी के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं था।

हम नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखकों एवं अस्तित्ववादी साहित्य के अनुवादों की एक शृंखला बनाने में निरत रहे। अब हिंदी पाठकों के लिए आठ रुपये की मामूली कीमत में 'कैमस'(एक प्रसिद्ध कृति) सुलभ था। यद्यपि हमारे पास समाजशास्त्र में कभी भी पुस्तकों की यथेष्ट सूची न थी, पर यहां भी हमारे लिए उत्कृष्टता ही लक्ष्य था। मुझे यदि कोई गलतफहमी नहीं है तो राजकमल ने ही पहली बार कोशाम्बी, रोमिला थापर, इरफान हबीब, सुमित सरकार, आर. एस. शर्मा और अन्य कई इतिहासकारों का अनुवाद किया था। अंग्रेजी में पहले से ही उपलब्ध इन कृतियों के प्रति लालायित हिंदी पाठकवर्ग ने इन्हें हाथों-हाथ ले लिया।

बिल्कुल सही अवसर आ गया है कि मैंने जो बात हमेशा कही है उसे पुनः दुहराऊं—वह यह कि हिंदी प्रकाशन जगत में यदि मेरा कुछ योगदान है तो वह है राजकमल की स्थापित परंपरा को आगे बढ़ाने की। राजकमल के पूर्व स्वामियों, देवराज और ओम प्रकाश, द्वारा कायम गुणवत्ता एवं उत्कृष्टता की परंपरा को आगे बढ़ाने की। राजकमल प्रकाशन का जैसे ही विस्तार हुआ देव जी ने अपने भाई, अमृतसर के कपड़ा व्यवसायी, से दुकान बंद कर दिल्ली आ जाने के लिए कहा। दूरदृष्टि वाले सर्जनात्मक एवं दुस्साहसी ओमप्रकाश ने कई शृंखलाएं कायम कीं। साथ ही राजकमल प्रकाशन पर उत्कृष्ट गुणवत्ता की अमिट छाप छोड़ी जो आज भी उसके साथ जुड़ी है। मैं उनके द्वारा बनाए गए मार्ग से कभी विचलित नहीं हुई—सिर्फ उसमें जहां जैसे, आवश्यकतानुसार जोड़ती गई। दुर्भाग्यवश वे ही उस समय वहां कर्त्ताधर्ता थे और अमेरिकी पी एल 480 के इस्तेमाल को लेकर अरुणाजी से उलझ गए थे। और हरदेव ने मामले में टांग अड़ा दी थी।

मुझे खेद है कि मैं मोहन राकेश की मात्र एक रचना प्रकाशित कर पाई। हममें मित्रता तो हो गई पर वे एक पुराने मित्र वात्स्यायन के प्रति प्रतिबद्ध रहे। और वात्स्यायन जी ने राजकमल से संबद्ध कुछ सलाहकारों से आदर्श को लेकर दूरी बना ली थी। राजकमल के सलाहकार भी अपना आदर्श लिए चल रहे थे। यहां मेरा यह कहना नहीं है कि ऐसे रचनाकार राजकमल में मेरी उपस्थिति के कारण ही छप पाए। मेरी जानकारी से बाहर भी कई रचनाकार हैं जो राजकमल से प्रकाशित हुए। यथार्थतः मैं यह भी नहीं कह सकती कि नील कमल व कटी पतंग प्रकाशित करने के लिए लोगों ने राजकमल के पास अपने दूत नहीं भेजे थे और उन्हें डांटने-फटकारने में मुझे आंतरिक खुशी के सिवा कुछ और हुआ

हो। युवा फिल्म निर्माता अकसर राजकमल आते। वे थैले भर-भर कर रागदरबारी, मित्रो मरजानी, तमस, नेताजी कहिन और कई अन्य पुस्तकें साथ ले जाते।

वामपंथी दलों का बुद्धिजीवियों के साथ सदा से एक विचित्र संबंध रहा है। वे कुछ उत्कृष्टतम बुद्धिजीवियों को अपनाते हैं तथा उनका ही राग अलापते हैं। इसके परिणामस्वरूप ये लोग सिर्फ उनसे संवाद करने लायक रह पाते जो उनके ही रंग में रंग चुके हों। ये लोग खालिस 'मिडियोक्रिटी' को बढ़ावा देने के लिए जाने जाते हैं—वह भी क्षणभंगुर, अप्रासंगिक व अप्रशंसनीय कारणों से जो कि महज 'जीविकोपार्जन' एवं छद्म रूप में स्वार्थ है। शायद मैं भी इस अनदेखी के लिए दोषी ठहराई जाऊं। पर इतना तय है कि अरुणाजी द्वारा वामपंथ के लिए लिए गए सूक्ष्म मोर्चे को वामपंथी लोग कभी भी नहीं समझ सके। वस्तुतः मेरे संघर्ष को भी नहीं। साहित्य और कला की दुनिया में उनका राजनीतिक दृष्टिकोण, और वस्तुतः राजनीति के घटकों के बारे में विचार, इस कदर गंदला है कि दिल टूट जाता है। पता नहीं अब ये वामपंथी प्रगतिशील साहित्य के प्रकाशकों के साथ कैसा बर्ताव करते हैं। क्या सचमुच ये प्रकाशक स्वयं इतने सक्षम हैं कि वामपंथ के स्थापित दलों के हाथों मिलने वाली अवश्यंभावी चोट का प्रतिरोध कर सकें? क्या ये वामपंथी दोस्तों को गले लगाने की बजाय उन्हें दरकिनार कर रहे हैं? क्या माजरा कुछ और होता यदि कामरेड जोशी की अपेक्षाकृत कम शुद्धिवादी और अधिक लोकप्रिय बहुलवादी धारा कायम रहती?

जैसे भी हो राजकमल की दृढ़ता एवं स्वस्थ साहित्य एवं साहित्यिक आलोचना के प्रति एक सफल एवं अडिग प्रतिबद्धता बनी रही। साहित्यालोचना पर इसकी पत्रिका 'आलोचना' लगभग 40 वर्षों तक रह-रहकर प्रकाशित होती रही। पत्रिका के संपादकों, लेखकों एवं प्रकाशक सभी की लापरवाही के मद्देनजर इसे छोटी उपलब्धि नहीं माना जा सकता। सुनने में आया है कि इसे पुनः जीवित किया गया है। अन्य भाषाओं की 'बुक-क्लब' परंपरा की तुलना में 'आलोचना पुस्तक परिवार' एक अर्द्ध सफल प्रयास था। हिंदी पाठकों की आदतें बंगला, मराठी या मलयालम पाठकों से स्पष्टतया भिन्न थीं। सांस्थानिक मासिक पत्रिका 'प्रकाशन समाचार' में विज्ञापित पुस्तकों के लिए प्रकाशन पूर्व आदेशों पर हम अपने सदस्यों को पैंतीस प्रतिशत की छूट देते। यह छूट हमारे सजिल्द पुस्तकों के लिए भी होती, जो उन पाठकों को पेपरबैक के रूप में दी जाती। इसमें राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के अंदरूनी इलाकों से आए आदेशों के लिए बिल बनाने एवं छोटे-छोटे 'वीपीपी' भेजने का बखेड़ा होता। इस क्रम में डाक एवं रेलवे क्लर्कों से निपटना होता। हर बार जब हम ऊब जाते और खामख्वाह परेशान

होने के चलते इस योजना की इतिश्री करना चाहते तो हमें असंख्य पाठकों के धन्यवाद ज्ञापन-पत्रों की याद आ जाती। रामगोपालजी पत्राचार एवं प्रेषण के पचड़े में पड़े थे और इसे बंद करने के किसी भी प्रयास का विरोध करते। कभी एक हजार से अधिक परिवार इसके सदस्य बन गए थे। नए प्रबंधन तंत्र का पहला शिकार 'आलोचना पुस्तक परिवार' हुआ था। लाभोपार्जन के लिए तो यह बना ही नहीं था। यह तो महज एक ढीला-ढाला और जैसे-तैसे चलने वाला कार्य था, जिसे करने के लिए राजकमल प्रतिबद्ध था।

जब कभी, कहीं भी सरकार बड़ी मांग का आदेश देती न जाने कहां से धक्का-मुक्की करते दलाल रेंग आते! ऐसे में लोगों की मुट्ठियां गर्म हो जातीं। राजीव गांधी सरकार द्वारा चलाए गए तथाकथित 'ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड' के दरम्यान मिला वह प्रस्ताव मुझे याद है जिसमें महज 'आपसी समझ' के बदले राजकमल को मानो गड़ा हुआ खजाना मिल जाता। पैसे मिलते उन पुस्तकों के लिए जो मुद्रित ही नहीं होतीं; उन छात्रों के लिए जिनका अस्तित्व ही न था; तथा उन विद्यालयों के लिए जो कभी स्थापित ही नहीं हुए। मैं क्षुब्ध रह गई, शांत स्वभाव के कांतिजी को बुलवाया और सामने बैठे शख़्स को राजकमल के प्रांगण से बाहर निकलवाने का आदेश दिया। असमंजस और हताशा में डूबा वह शख़्स उठ खड़ा हुआ। फटाफट खुद को और अपनी धोती को सहेजते हुए वह बड़बड़ाया, "आप काहे को इतनी परेशान हो रही हैं शीलाजी? आप कुछ ठीक नहीं समझ पा रही हैं, कहें तो हम 'सतपरकासजी' से मिल लें? राजकमल जैसी वरिष्ठ संस्था को हमारी जरूरत है ही नहीं, तो फिर हम और कहीं जाते हैं।" जाते-जाते वह मेरे दरवाजे के बाहर थूकना नहीं भूला। मैंने प्रधानमंत्री से मिलने का समय लिया ताकि उनकी योजना के अंतर्गत पर्दाफाश होते इन षड्यंत्रों से उन्हें अवगत करा सकूं। वह मंद-मंद मुस्कराये—एकदम उत्तेजनाहीन, जैसा कि वह हर बात पर किया करते।

बहुत ही जोर-शोर और गहरी आशंका के साथ मैंने बाल-प्वाइंट पेन, डिजिटल घड़ियां, फूड और वर्ड प्रोसेसर का विरोध किया। मैं उस आधुनिकता को रोकने का प्रयत्न कर रही थी जो जेस्टेटेनर साइक्लोस्टाइल की जगह जेरॉक्स; रेमिंगटन के द्विभाषी टाइपराइटर के कीबोर्ड से टक-टक की आवाज की बजाय कम्प्यूटर की मृतवत शांति का संकेत था। मैं तो बल्कि यह मान बैठी थी कि लेखन इलेक्ट्रॉनिक हो जाएगा, जिसमें हाथ से कोई काम नहीं होगा। खैर, हम हस्तलिखित पांडुलिपियां स्वीकार करते। अजीतजी उन्हें टाइप करने का कष्ट उठाते। फिर उससे लेटर प्रेस में प्रूफ बनाया जाता और तब लेखक उन पर अपनी अनुशंसा देते। लेखकों से पुस्तकों के मुख्यांश, विज्ञापन तथा कवर के लिए संपर्क किया

जाता। पुस्तक प्रकाशन के हर पहलू पर यदि हम उनसे संपर्क नहीं भी कर पाते, तो उन्हें कभी भी उनकी पुस्तक के प्रकाशन की प्रक्रिया में भाग लेने से हतोत्साहित नहीं करते। फेडरेशन आफ इंडियन पब्लिशर्स, (लंबे अरसे तक मैं इसकी प्रथम और एकमात्र महिला सदस्य थी) की बैठकों में मैं निरर्थक ही यह सिद्ध करने का प्रयास करती रही कि लेखकों के रायल्टी खातों को पारदर्शी बनाकर उनके साथ प्रगाढ़ संबंध बनाया जा सकता है। जाहिर है, प्रकाशकों के एक मंच पर यह विचार लोकप्रिय नहीं हुआ।

हमने पुस्तकें छापीं जिनका इलेक्ट्रानिक माध्यम से कोई वास्ता नहीं था। वे पुस्तकें ही रहीं, डिस्क की बजाय रीम के रीम कागज में, भाड़े के गोदामों के मीलों लंबे सेल्फ में सुरक्षित। इसके लिए छमाही लेखे, 'कच्ची' सूचियां तैयार करनी पड़तीं और पुस्तकों के शीराज़े (स्पाइन) की 'लेई' खाने वाले दीमकों से सुरक्षा हेतु नियमित दवा-छिड़काव आदि जरूरी होते। आज यह निराला और मजाक लग सकता है पर यह सच है कि जब यह जटिल प्रक्रिया जारी होती तो मिश्राजी गोदाम से खांसते-छींकते बाहर निकलते। वे भूकंप के असहाय शिकार की भांति धूल में सने होते। स्थिर चित्त वाले सत्तजी की गंभीर एवं निर्विकार उपस्थिति के चलते लगभग तीस लोगों के इस कार्यालय में उत्पन्न होने वाला घर्षण नरम पड़ जाता। कोलकाता से आए मोहन गुप्ता ने धीरे-धीरे संपादन का कार्यभार संभाल लिया और हिंदी प्रकाशन जगत के सर्वश्रेष्ठ संपादक व प्रकाशन प्रबंधकों में एक साबित हुए। उन्हें हर बात के लिए दोषी माना जा सकता, पर उत्साह की कमी के लिए कतई नहीं। जिम्मेदारी से बढ़कर कठिन परिश्रम तो उनकी आदत बन गई थी। वे बिक्री विभाग के लोगों के साथ निरंतर जूझते रहते। दरअसल उस विभाग के लोग किसी प्रकार के संपादकीय प्रयास को आदतन यह कहकर खारिज कर देते कि यह तो बिल्कुल नहीं बिकने वाला है। यह तो महज 'पत्थर का अचार है!'

मेरे लिए सबसे बड़े खेद की बात यह है कि उत्तरी भारत के मध्यमवर्गीय लोग हिंदी साहित्य की संपदा से अछूते हैं; उसका आनंद नहीं ले सकते हैं। मेरे तीनों बच्चे किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं। वे अपने भौतिक एवं भावनात्मक जीवन के बीच इस प्रकार उत्पन्न चौड़ी खाई से अनभिज्ञ हैं। किसी-न-किसी कारण उनमें से किसी ने हिंदी के लिए मेरी अक्षुण्ण भावना को नहीं समझा। हमने अपनी दूसरी बेटी, जो अब दिल्ली में है, पर दबाव डाला कि वह अपने पति और कभी न खत्म होने वाली पढ़ाई, डिग्री आदि के पीछे चलना छोड़ दे तथा एक स्वाभिमानी महिला की भांति रोजगारोन्मुख हो। बचपन से ही उसका व्यवहार एकदम सीधा

तथा आग्रहपूर्ण था जिसे पचा पाना मेरे लिए कठिन था। मैं शीघ्र ही समझ गई कि हमारे स्वभाव में जमीन-आसमान का फर्क होने के चलते टक्कर का प्रबल आसार था। ऊपर से दरियागंज कार्यालय के प्रबंध की राजनीति। पर मैं कतई नहीं चाहती कि नैया डूब जाए। उसने नए पेपरबैक डिविजन में मन से काम सीखना प्रारंभ किया और बड़े ही उत्साह से 'आर के पी पेपरबैक्स' के कवर डिजाइन करने की जिम्मेदारी ली। ये आवरण अति लोकप्रिय पेंगुइन क्लासिकल के नक्शे कदम पर बने थे। इस प्रकार उसने हिंदी प्रकाशन जगत के समक्ष समकालीन कलाकारों की कृतियों को सजा दिया : मकबूल फिदा हुसैन, राम कुमार, स्वामीनाथन, अकबर पदमसी, तैयब मेहता, एफ. एन. सूजा, कृष्ण खन्ना और भारत के कुछ श्रेष्ठतम नए कलाकार जो तब अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध थे मसलन मंजित, अर्पिता, गुलाम, जोगेन, नीलिमा, शमशाद, परमजीत, अमिताभ, विवान और मृणालिनी।

राजकमल ने मुझे बहुत संपन्न बनाया। यह व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए लाभदायक था और इसने मेरी शिक्षा की त्रुटियों को दूर किया। मैं वहां बिताए तीस वर्षों को संतोषजनक और सुखद पाती हूं। मुझे शायद ही कोई खेद रहा। मैं यदि पुनः उसी अवस्था में होती तो प्रायः वैसा ही करती। आरंभिक दौर में हिंदी की अपेक्षाकृत पुरातन परंपरा में जो बाधक थी—आधुनिक पाश्चात्य रंग में रंगे पुरुष प्रधान क्षेत्र में एकल नारी—उसी ने सफर के किसी बिंदु पर मुझे बेमिसाल कर दिया। कौतुक का विषय बना दिया!

(तानी एस. भार्गव द्वारा लिए गए साक्षात्कार पर आधारित)

वीणा मजुमदार *(जन्म : 1927) भारतीय महिला विषयक अध्ययन के क्षेत्र में अग्रगण्य रही हैं। महिला आंदोलन के प्रकाश स्तंभों में उनका नाम है। भारत में महिलाओं की दशा पर बनी सरकारी समिति के सदस्य-सचिव के रूप में वीणा मजुमदार 'टुवर्ड्स इक्वलिटी' (1975) नामक प्रारंभिक रिपोर्ट तैयार करने के लिए उत्तरदायी थीं। वे 'भारतीय महिला अध्ययन संघ' और 'महिला विकास अध्ययन केंद्र, दिल्ली' की संस्थापक सदस्य हैं। भारतीय समाज विज्ञान शोध परिषद के महिला अध्ययन केंद्र की निदेशिक भी रही हैं। वीणा मजुमदार ने समस्त महिला समाज की ओर से केंद्र और राज्य सरकारों के समक्ष निरंतर अभियान चलाया और बातचीत की—खासकर भारत की गरीब और कृषि क्षेत्र में कार्यरत मजदूर महिलाओं की ओर से। साथ ही महिला अध्ययन केंद्र की बात भी रखती रही हैं। वह भारतीय नारियों पर यत्र-तत्र, लिखती-छपती रही हैं। उनके योगदान के लिए न सिर्फ महिला आंदोलन बल्कि यूनिफेम, वाई डब्ल्यू सी ए तथा एसोशियेसन ऑफ वीमेन इन इंटरनेशनल डेवलपमेंट ने उनकी सराहना की है।*

2

अनवरत गतिशील महिला की डायरी के कुछ पन्ने

वीणा मजुमदार

प्रकाशक और संपादक ने चाहा कि मैं "अपने कार्यों और जीवन के उन पहलुओं पर एक लेख लिखूं जो मेरी खास गतिविधियों के क्षेत्र और उनमें मेरी स्थिति का प्रतिनिधित्व करता हो। अपने सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भ में कहूं तथा अपने संघर्षों की चर्चा करूं ताकि उस संदर्भ के आलोक में मेरी उपलब्धियां जाहिर हों।" इनमें से किसी को भी परिभाषित करना कठिन है। मेरे पासपोर्ट पर समाज-विज्ञानी अंकित है किंतु, आज मुझे गिने-चुने लोग ही उस रूप में याद रखते हैं। अपरिभाषित रूप से मैं 'महिला आंदोलनकर्मी, नारीवादी, 'खुराफाती', लिंग विषयक ज्ञाता, आदि, आदि हूं। पर व्यक्तिगत रूप से मैं 'भारतीय महिला आंदोलन का लेखा रखने वाली इतिहासकार' रहना पसंद करती हूं तथा 'दक्षिण एशिया में महिला अध्ययन की दादी मां' संबोधन पसंद करती हूं।

मैं राजनीति शास्त्र की शिक्षिका थी परंतु शैक्षिक सुधारों में मेरी रुचि प्रबल बनी रही। इसलिए मैं अपनी पसंद का पेशा छोड़कर अफसरशाह बन गई। शिक्षा सुधार तथा सांस्थानिक असंगतता दूर करने की योजनाओं के अनुरूप अनुदानों के प्रबंधन में संलग्न हो गई। यद्यपि मैं शायद ही कभी स्व. प्रो. डी. एस. कोठारी और प्रो. जे. पी. नायक के नाम अपने गुरु के रूप में लेने से चूकती हूं लेकिन आज कोई भी मुझे 'शिक्षाविद्' नहीं समझता। भारतीय महिला अध्ययन संघ, मैं जिसकी स्थापना में सहायक रही, को एक शैक्षिक संगठन के रूप में सरकारी मान्यता मिल गई। लेकिन महिला विकास अध्ययन केंद्र, जिसकी मैं संस्थापक-निदेशक थी, आज भी मान्यता के लिए संघर्ष कर रहा है। 'आइ ए डब्ल्यू एस' तथा 'सी डब्ल्यू डी एस' पूर्णतया महिला संगठन नहीं हैं लेकिन सरकारी बाबू, मीडिया और कई अन्य लोग इन्हें 'महिलाओं के संगठन' ही मानते हैं।

मेरी इकलौती बहन, जो मेरे भविष्य की सुरक्षा के लिए चिंतित रहती, मुझे एक अति चंचल महिला हो जाने के लिए डांटती। दरअसल 14 वर्षों में मैं सात

नौकरियां बदल चुकी थी। लगातार 30 वर्षों तक सरकारी वित्त प्राप्त सार्वजनिक संस्थाओं में काम करने के बाद 53 वर्ष की उम्र में मैंने सी डब्ल्यू डी एस की नींव रखी। अब तक मेरे तीनों बच्चे पढ़ ही रहे थे तथा उक्त संस्था के लिए किसी प्रकार का कोई निश्चित संसाधन नहीं था। मेरी बहन की नजर में तो यह एक जुआ था जिसके लिए मुझमें काबिलियत न थी, पर सौभाग्य से जुआ सफल होने तक वह जीवित रही।

पहले 25 वर्ष (1927-52)

मेरा जन्म कोलकाता के एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ। बचपन और किशोरावस्था में मैंने कोई संघर्ष देखा हो, मुझे याद नहीं! एक बड़े परिवार के द्वारा अपने 'सबसे छोटे' सदस्य को मिली सुरक्षा और स्नेह ने मुझमें एक व्यापक निर्भरता उत्पन्न कर दी थी। पारिवारिक दायरा मेरे सामाजिक अस्तित्व को परिभाषित करता। और मैं इससे असंतुष्ट नहीं थी। परिवार के अंदर ही नाना प्रकार के लोगों ने एक संकोची किताबी कीड़े के लिए विविध विषयों को सुनने, परखने, मन में अंकित करने तथा उसके सार और मुख्यांशों को जुटाने का कार्य किया। वे स्पष्टवादिता, बातचीत की शैली तथा रुचियों (रंगमंच, संगीत, कविता, खेल, इतिहास, और हां, राजनीति) के बिना पर एक-दूसरे से भिन्न किए जा सकते थे। कुछ सदस्य तो खासकर अच्छे कथावाचक थे। वे अपने युवा दिनों की कारगुजारियों, साहसिक कारनामों एवं संघर्षों की कहानी कहते। मेरे इतिहासकार चाचा ने मुझे अच्छे छात्रों की भूमिका समझने में मेरी मदद की। पूर्वी बंगाल के ग्रामीण इलाके के एक बड़े, गरीब परिवार के तीन भाइयों के जीवन, जिम्मेदारियों तथा सामाजिक मान्यताओं में अच्छे छात्रों की भूमिका के बारे में बताया। परिस्थिति ने ही उन भाइयों को आडंबर-रहित जीवन की ओर उद्यत किया था। सादगी, और घर में सिले कपड़े एवं घरेलू मनोरंजन पर बल दिया। हालांकि पुस्तक एक अपवाद थी जिसकी खरीद में कोताही नहीं होती। पढ़कर सुशिक्षित बनने में प्रयासरत मेरी मां की सफलता के पीछे मेरे पिता का हाथ था। वह घर के खर्चे से बचे पैसे से किताबें और पत्रिकाएं खरीद लातीं। परिणामतः मैं सन् 1935 में स्कूल जाने से बहुत पहले ही खूब किताबें पढ़ने लगी। 'डायोसियन गर्ल्स स्कूल' का एक शिक्षा दर्शन था। यह न अंग्रेजी 'राज' और न ही धर्मांतरण को उद्यत मिशन के रंग में रंगा था। मैं अपनी चाचियों और बहन के पद-चिह्नों पर चलने लगी। स्कूल में वार्षिक और अर्द्धवार्षिक परीक्षाओं पर नहीं, कक्षा में किए गए कुल कार्य और साप्ताहिक परीक्षाओं के आधार पर प्रोन्नति निर्भर थी। सालांत

में किसी विषय में 75 प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त करने वाले को पुरस्कृत किया जाता। पुस्तकों की भाषा में लिखना मना था। समझने पर बल था। संयत व्यवहार अनिवार्य था, पर सत्र समाप्ति के अवसर पर समारोहों के आयोजन के लिए किए गए उत्साह की सराहना होती।

अपने छात्रों और सहकर्मियों के साथ मेरा व्यवहार लीक से हटकर रहा। इसे निस्संदेह मेरे स्कूल ने संवारा था। इसी कारण प्रशासन में भी मेरे कनिष्ठ सहकर्मियों से मुझे बहुत मदद, सुझाव और उनकी निष्ठा मिली। घर में तर्क एवं वाद-विवाद का जो प्रेम पनपा वह स्कूल में फला-फूला।

कॉलेज की शिक्षा का अनुभव अपेक्षाकृत बहुत भिन्न था। विश्व युद्ध ने हमारे पारिवारिक जीवन को अस्थिर कर दिया था। कोलकाता में हुई एक मामूली बमबारी के मद्देनजर महिलाओं और बच्चों को सुरक्षित विस्थापित कर दिया जाता। कोलकाता विश्वविद्यालय द्वारा विस्थापित लोगों के लिए बंगाल से बाहर मैट्रिक परीक्षा केंद्र खोले गए थे। मैं बनारस में शामिल हुई और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के वीमेन्स कॉलेज से ही आगे की पढ़ाई शुरू की। इसकी एक खास वजह थी। मेरे पिताजी ने सेवानिवृत्ति की तारीख से बहुत पहले ही सरकारी नौकरी छोड़ देने का अचानक निर्णय ले लिया। दरअसल सिंचाई विभाग (वे उसमें मुख्य अभियंता थे) को आदेश दिया गया था कि पूर्व बंगाल के सभी बांधों एवं तटबंधों में सेना के सहयोग से बारूद बिछा दी जाए। आगे बढ़ती जापानी फौज के मद्देनजर यह 'रणनीतिक पलायन' की तैयारी थी। पर मेरे पिता ने जमशेदपुर जाकर एक विलंबित जल प्रदाय परियोजना का कार्यभार संभालना ज्यादा सही समझा क्योंकि यह विनाशकारी नहीं, बल्कि एक संरचनात्मक प्रयास था। इस स्थिति में मेरी मां को जब-तब बनारस, जमशेदपुर और कोलकाता आना-जाना पड़ता। पारिवारिक अत्यावश्यकता, खासकर अपने पोते-पोतियों की सुरक्षा और देखभाल, उन्हें यात्रारत रखती।

सन् 1944 के मध्य तक युद्ध की स्थिति बदली और मेरा दाखिला बी.ए. (आनर्स) आशुतोष कालेज, कोलकाता में हो पाया। मेरे पिता भी अंततः सेवा-अवकाश के दिन बिताने कोलकाता आ गए। पर इस कर्मयोगी के भाग्य में (जैसा कि अर्द्ध सदी बाद मेरे जीवन में भी) अवकाश का जीवन लिखा कहां था। साल खत्म होने से पहले ही वे दिल्ली में बहु-उद्देश्यीय नदी घाटी परियोजनाएं तैयार कर रहे थे। मेरे बड़े भाई ने मेरी स्थिति स्पष्ट कर दी। उन्होंने जोर देकर कहा कि मैं अपनी पढ़ाई कोलकाता में ही जारी रखूं और 'घर चलाने की जिम्मेदारी लूं ताकि कुछ व्यावहारिक अनुभव हो सके।' उनके शब्दों में अद्‌भुत विश्वास के

भाव थे : "खुकु ठंडे दिमाग की लड़की है।" उनके वक्तव्य ने मेरे अहं की तुष्टि की। और मैंने पहली बार बिना किसी बड़े के निरीक्षण के, जिंदगी से रू-ब-रू होने का आनंद लिया।

मेरे मानसिक विकास में बनारस और कोलकाता की महाविद्यालयी शिक्षा ने उत्प्रेरक का काम नहीं किया। लेकिन देश में, और सन् 1940 के दशक में कोलकाता में तेजी से हो रहे सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों ने मेरी सामाजिक और राजनीतिक शिक्षा को विकसित किया। मेरे पिता के नौकरी छोड़ने के निर्णय के बाद भारत छोड़ो आंदोलन शुरू हो गया। फिर सन् 1943 का अकाल और उसके मद्देनजर मेरी मां का सख्त अनुशासन का पूरा असर हमारी जीवन-शैली पर पड़ा। घर में खाद्यान्न के संग्रह पर पाबंदी लगी। केवल बच्चों के लिए दूध-चीनी बचाकर रखा जाता। बड़े-बुजुर्गों की चाय-कॉफी में भारी कटौती की गई। और खाने के समय नौकरों की बजाय स्व-सेवा। थालियों में जूठन न छोड़ने की हिदायत थी। मां के तर्क आज भी मुझे प्रभावित करते हैं। वह कहती, "मुझे भूखे लोगों को उच्छिष्ट (जूठन) देना दुःखी कर देता है। मुझमें यह सामर्थ्य होना चाहिए कि उन्हें स्वच्छ खाना दूं जो उनके स्वाभिमान को ठेस न पहुंचाए।"

राजनीतिक घटनाएं मोड़ लेती रहीं। क्रिप्स मिशन, लड़ाई का अंत और फिर इंगलैंड में लेबर पार्टी की सरकार... स्वतंत्रता की उम्मीद आसमान छूने लगी। आइ एन ए (इंडियन नेशनल आर्मी) की सुनवाई, महात्मा गांधी का आगमन और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (ए आइ सी सी) के कोलकाता अधिवेशन ने छात्रों को बहुत उत्तेजित किया। उन्हें राजनीतिक प्रदर्शनों के साथ-साथ विशाल राजनीतिक बैठकों में स्वेच्छा से कार्य करने का अवसर मिला। वे पुलिस गोलीबारी के शिकार लोगों के लिए चिकित्सकीय सेवा-सुश्रूषा जुटाते। महाविद्यालय छात्रा संघ के सचिव के रूप में मैंने संगठन से संबद्ध कुछ दायित्व ले लिए। इस क्रम में मार्च 1946 में होने वाली परीक्षाओं के लिए शिक्षकों ने मेरी तैयारी पर असंतोष भी व्यक्त किया।

आक्सफोर्ड जाने की मेरी प्रबल इच्छा से मां कुछ समय से अवगत थी। उन दिनों वह मेरे पिता को इसके लिए मनाती रही। अंततः उसने पिताजी को यह वचन देने को बाध्य कर दिया कि यदि मैं बी.ए. प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुई तो वे इस पर विचार करेंगे। पर जब मैं चार अंकों से पीछे रह गई तो किस मुंह से बात करती। सो मैंने चुपचाप दिल्ली विश्वविद्यालय में एम.ए. में दाखिला ले लिया। दिल्ली निस्संदेह राजनीतिक गहमागहमी का केंद्र था। जवाहरलाल के नेतृत्व में अंतरिम सरकार का गठन हो चुका था। संविधान निर्मात्री समिति का

सत्र चल रहा था। और मुझे यदा-कदा दर्शक दीर्घा में बैठने का अवसर मिलता। उन नेताओं को प्रत्यक्ष सुनना, जिन्हें मैंने पढ़ा था या जिनके बारे में सुना था, बहुत ही उत्तेजक था। इसने ऑक्सफोर्ड जाने के टूटे सपनों की भरपाई कर दी थी। साथ ही दिल्ली विश्वविद्यालय में मिली सांस्कृतिक विषमता से भी मैं उबर गई थी।

कोलकाता या बनारस के दिनों मैंने कभी छात्राओं को सूट पहनते नहीं देखा था। हां, युद्ध के दौरान छात्रों ने धोती और पायजामे की बजाय पतलून पहनना शुरू कर दिया था। लेकिन लड़कियां तब भी मामूली सूती साड़ी और कम एड़ी वाली चप्पलें या सैंडिलें पहनतीं। दिल्ली विश्वविद्यालय में मैंने छात्राओं को बहुत बनते-संवरते देखा। वे सिल्क के सलवार-सूट और ऊंची एड़ी की सैंडिलें पहनती थीं। पर सबसे अधिक आश्चर्य तो यह जानकर हुआ कि एम.ए. (इतिहास) के छात्रों ने कभी चैतन्य का नाम नहीं सुना था! भारतीय इतिहास पर मेरा अच्छा अधिकार नहीं था लेकिन सेंट स्टीफेंस के जिन छात्राओं से मिली उनसे अच्छी पकड़ जरूर थी। बाद में मेरे पिता ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी। यह मेरे लिए बड़े सुकून की बात थी—हालांकि इसमें अनुवाद की परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए फ्रेंच सीखना पड़ता था। यह जानकर कि छह सप्ताह के भीतर ही परीक्षा होनी थी मेरी फ्रेंच की शिक्षिका ने व्याकरण सिखाने की अपनी आरंभिक योजना त्याग दी। उन्होंने मुझे अनुवाद के लिए फ्रेंच की कविताएं एवं लेख दे दिए जो आरंभ में कदापि नहीं दिया जाता। मेरी शिक्षिका अंग्रेजी पर मेरे अधिकार तथा मेरे साहित्य और कविता प्रेम से अवगत थीं। चौथा सप्ताह होते-होते मैं फ्रांसीसी क्रांति पर ला मार्टिन की कविताएं अनुवाद करने लगी थी। वह भी अंग्रेजी कविता की व्यावहारिक भाषा में। एकमात्र उसी परीक्षा के आधार पर मुझे सेंट ह्यूज कॉलेज में प्रवेश मिल गया।

अब तक दिल्ली में सांप्रदायिक तनाव बढ़ गया था और मैं जानती थी कि मेरे विश्वविद्यालय आने-जाने को लेकर मेरे पिता चिंतित रहते थे। दरअसल मेरे तांगे की सवारी 'संवेदनशील क्षेत्रों' से होकर गुजरती थी। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय छोड़ने; ऑक्सफोर्ड जाकर अध्ययन करने के मेरे निर्णय को 'संवेदनशील' कहकर स्वागत किया।

दिल्ली में होने की वजह से कोलकाता में सन् 1946 में हुए वीभत्स नरसंहार देखने से बच गई। मैं तो बल्कि 14 एवं 15 अगस्त, 1947 को दिल्ली में थी जब ऐतिहासिक अर्द्धरात्रि-सत्र में जवाहरलाल ने प्रसिद्ध 'ट्रायस्ट विद डेस्टीनी' (भाग्य से भेंट) पर भाषण दिया था। मैं अगले दिन संसद की बैठक देखने-सुनने

भी गई। स्वतंत्रता के उदय के स्वागत में दिल्लीवासियों का अपूर्व प्रदर्शन देखते ही बना। संयोग से हम इसके तुरंत बाद कोलकाता के लिए रवाना हो गए और विभाजन के बाद शुरू हो गए दंगों से बच गए। मेरे स्मृति-पटल पर अंतिम भारतीय दृश्य महात्मा गांधी के उस भाषण का रहा जो उन्होंने पूर्वी सीमा के दोनों ओर फिर से भड़क उठी सांप्रदायिक आग को बुझाने के लिए दिया था।

मैं जब पैडिंग्टन स्टेशन पर ऑक्सफोर्ड के लिए ट्रेन की प्रतीक्षा करने लगी तो अचानक मेरा सारा आत्मविश्वास ठंडा पड़ गया। मैं बिल्कुल अनजान जगह में थी जहां कोई परिचित नहीं था। और मैंने यात्रा भी कब अकेले की थी! लेकिन ऑक्सफोर्ड के तीन वर्षों की अध्यापन-विधि ने मेरे दिमाग से सब प्रकार के भय को निकाल दिया। मैं यह जानकर रोमांचित होती कि मैं स्वयं अपने लिए सोच सकती; मेरे लिए मुद्रित शब्द ही ब्रह्मवाक्य नहीं रहे। वहां के शिक्षक मेरे किसी प्रश्न का उत्तर देने में अपनी असमर्थता व्यक्त करने में तौहीन नहीं मानते।

मेरे कॉलेज की शिक्षिका बेटी कैंप ने सबसे पहले मेरा हौसला बढ़ाया। उन्होंने मुझे एक शिक्षक की भूमिका के बारे में बताते हुए कहा, "मेरा काम है स्नातक के एक छात्र को यह सिखाना कि वह स्वयं को किस तरह शिक्षित करे।" इकतालीस (41) वर्ष बाद 'राष्ट्रीय शैक्षिक शोध और प्रशिक्षण परिषद' पर मेरे अध्ययन की एक प्रति उन्हें भेंट करते हुए मैंने अपने अभिलेख में यह वाक्य लिखा। उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ, मैंने उनका कथन अक्षरशः याद रखा था।

सन् 1950 में वापस आने के बाद मैंने नौकरी के बारे में सोचना शुरू किया। पर यह मेरी कल्पना से परे था कि यदि पिताजी नौकरी को परिवार की परंपरा के विरुद्ध घोषित कर मुझे मना कर देते तो मैं आगे क्या करती। मैं सोच भी नहीं सकती थी कि अध्यापन की मेरी इच्छा के प्रति उनका रवैया सकारात्मक होता। मुझे हैरत में देख वे बोले कि इस प्रकार के स्वाभाविक घटनाक्रम के लिए मैं सचमुच पूरी तरह तैयार नहीं था। "किन्तु स्थिति बदल गई है। तुम जब देश से बाहर थी तो देश ने नया संविधान अंगीकार किया जो मुझे कहता है कि मैं तुम और तुम्हारे भाइयों में अंतर नहीं कर सकता। मैंने हमेशा तुम्हारे भाइयों से कहा था कि मेरा दायित्व उन्हें इस लायक बनाना था कि आगे चलकर वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें। अब मुझे वही सिद्धांत तुम पर लागू करना चाहिए। तुम इतनी हैरत में क्यों हो? तुम्हें पता नहीं मैं सदा से कानून में विश्वास करता रहा हूं? जब कानून बदलता है तो मुझे तदनुसार स्वयं को ढालना चाहिए।" यह समझने में मुझे 25 वर्ष लगे कि गिने-चुने भारतीय पिता, भाई या पति कानून की इतनी मर्यादा रखते हैं। सन् 1951 में मैंने पटना विश्वविद्यालय में राजनीति शास्त्र की व्याख्याता के रूप में काम

शुरू किया। यह मेरे मनपसंद पेशे की शुरुआत थी।

एक वर्ष बाद मैंने ऐसे व्यक्ति से शादी की जिससे पटना में ही आयोजित एक संगीत कार्यक्रम में मेरी मुलाकात हुई थी। शास्त्रीय संगीत का मेरा यह शौक नया था। मेरे विपरीत वह इंसान अपनी किशोरावस्था से ही जिद्दी था और कॉलेज से निकल गया था क्योंकि उसके पिता उसे विज्ञान पढ़ने के लिए बाध्य करते जबकि वह कला की पढ़ाई करना चाहता था। उसके पास कोई डिग्री नहीं थी और हमारे विवाह ने पटना और कोलकाता के हमारे सगे-संबंधियों के बीच बड़ा हंगामा कर दिया। हालांकि हमें उसकी विधवा मां और मेरे मां-बाप से पूरा आशीर्वाद और स्वीकृति मिली। मैं जब अपने विभागाध्यक्ष, प्रो. वी. के. एन. मेनन, को अपनी शादी की सूचना देने गई तो वे भौंचक रह गए और मुझसे पूछा, "तो इसका मतलब तुम हमें छोड़कर जा रही हो?" मैंने जब कहा 'मेरा ऐसा कोई इरादा नहीं' तो खुश होकर उन्होंने फटाफट विभाग में एक समारोह करने का आदेश दे दिया।

अगले 25 वर्ष (1952-77)

अरसों बाद मैंने अपनी पीढ़ी की 'प्रोफेशनल' महिलाओं को संविधान की समानता वाले अनुच्छेदों से लाभान्वित 'पहली पीढ़ी' कहना शुरू किया। कई बुजुर्ग रिश्तेदारों ने चेतावनी दी कि मेरा पटना प्रवास सहज नहीं होगा क्योंकि एक तो मैं जवान थी, दूसरी बंगाली। पर उनकी तमाम भविष्यवाणियां झूठी थीं। विश्वविद्यालय के 14 वर्षों में न तो किसी छात्र ने और न ही सहकर्मियों ने ऐसा लगने दिया। सौभाग्यवश हमारे विभाग में ऐसे मेधावी छात्र थे जिन्हें मेरे पढ़ाने का 'गैर-परंपरागत' तरीका सहज स्वीकार्य था। हालांकि वे भली-भांति जानते थे कि यह उन्हें परीक्षा में 'अच्छा करने' में काम नहीं आता।

एक कनिष्ठ शिक्षक के रूप में पाठ्यक्रम या परीक्षा प्रणाली पर मेरा कोई प्रभाव नहीं था परंतु पटना विश्वविद्यालय शिक्षक संघ (1956) के प्रथम सचिव के रूप में मैंने कुछ परिवर्तन किए। हमने एक समूह बनाकर आपसी तालमेल के आधार पर विभिन्न समाज-विज्ञानों के अंतर्गत नई शिक्षण व्यवस्था बनाने के लिए एक विवेकपूर्ण योजना बनाई। शोध-आधारित अध्ययन को बढ़ावा देने तथा विभिन्न समाज विज्ञानों के विभिन्न संकायों के शिक्षकों एवं छात्रों के बीच परस्पर क्रिया-अनुक्रिया बढ़ाने के लिए ऐसा किया गया। हममें से कुछ 'नागरिक शिक्षा समिति, बिहार' के सदस्य भी बन गए तथा विश्वविद्यालय एवं विद्यालय दोनों की शिक्षण प्रणाली में सुधार हेतु परिसंवादों का आयोजन किया। इस बीच अपनी

दो बेटियों के जन्म तथा सास की असाध्य बीमारी के कारण मुझे अपना शोध कार्य टालना पड़ा। सन् 1956 एवं 1959 के मध्य मेरे पिता, सास और मां का देहांत हो गया। कुलसचिव ने बुलाकर मुझे सलाह दी कि साल भर पहले सिंडिकेट ने ऑक्सफोर्ड में शोध हेतु जो छुट्टी मंजूर की थी, मैं उसे ले लूं और देश से बाहर चली जाऊं क्योंकि राज्य सरकार ने मुझे परेशानी का सबब मान लिया था। उन्होंने कहा कि सरकार मुझे पटना से बाहर भेजने का निर्णय भी ले सकती है। उल्लेखनीय है कि उन्हीं दिनों मेरे भाई ने मेरी ऑक्सफोर्ड यात्रा का खर्च वहन करने का प्रस्ताव दिया था जिसे मैंने हंस कर टाल दिया था। लेकिन कुलसचिव की चेतावनी गंभीर लगी सो मैं सन् 1960 में अपनी दो बेटियों के साथ ऑक्सफोर्ड के लिए रवाना हो गई। सेंट ह्यूज कॉलेज के प्रधानाचार्य और बेटी कैंप दोनों ने ही बच्चों को लाने से मना किया पर मेरी मां और सास के स्वर्गवास से मेरे लिए विकल्प नहीं बचा। मैं आश्वस्त थी कि वहां मुझे ढेरों मित्रों का सहयोग प्राप्त हो जाएगा। ऐसा ही हुआ। फिर भी मुझे वे दो वर्ष बहुत कठिन साबित हुए। लंबे समय तक पुस्तकालय में अध्ययन करने की आदत डालनी थी, जबकि बच्चे स्कूल में होते। और बाद में उन्हें ऑक्सफोर्ड (जहां लोग उनकी उचित देखभाल करते और वे अपनी स्कूली शिक्षा जारी रखतीं) में ही लोगों के पास छोड़ अपने शोध के सिलसिले में मैं लंदन और एडिनबर्ग जाती।

पहले वर्ष की समाप्ति पर भारतीय रिजर्व बैंक ने मेरी (विदेशी) मुद्रा भत्ता 200 पाउंड घटा दिया क्योंकि विदेशी मुद्रा नियंत्रण नियम में बदलाव आ गया था। इस बीच दुर्भाग्यवश, ऑक्सफोर्ड वापसी में विलंब होने के कारण मुझे सेंट ह्यूज कॉलेज के फेलोशिप, जो मिलना लगभग निश्चित था, से हाथ धोना पड़ा। प्रधानाचार्य ने मेरी एडिनबर्ग यात्रा के लिए एक छोटा-सा अनुदान देने की पेशकश की और मुझे ऑक्सफोर्ड सोसाइटी से कुछ सहायता दिलवाई। इस प्रकार भारतीय रिजर्व बैंक के निर्णय से उत्पन्न आर्थिक तंगी अंशतः खत्म हो गई। मुझे अपने एक पुराने शिक्षक ने एक वृद्ध महिला की पैतृक संपत्ति देने का प्रस्ताव रखा। दरअसल उस महिला ने वह संपत्ति मेरी सहायतार्थ रख छोड़ी थी—हां, शर्त यह थी कि मैं नितांत आवश्यकता पड़ने पर ही वह सहायता लूंगी। किफायती बजट में घर चलाना मेरे लिए नई बात नहीं थी। ऑक्सफोर्ड के उन दो वर्षों में मेरा यह आत्मविश्वास पुनः जाग उठा कि मुझमें घर चलाने की क्षमता थी। पुनः, मुझे इसका भी अहसास हुआ कि मेरे पूर्व शिक्षकों ने मुझमें जो प्रतिभा देखी थी वह शिक्षक बन जाने के बाद भी मुझमें बनी रही। वह भी तब जबकि पढ़ने के लिए मेरे पास बहुत कम समय बचता। भारत-चीन युद्ध जिस दिन खत्म हुआ

उसी दिन मैंने अपना शोध-प्रबंध पूरा किया। फिर मैंने अपने गाइड से आग्रह किया कि मेरी लिखित और मौखिक परीक्षा का शीघ्र प्रबंध करवा दें ताकि मैं दिसंबर में वापस जा सकूं।

मेरे अन्य दो छोटे बच्चों के जन्म ने मेरा उत्तरदायित्व बढ़ा दिया था। हालांकि मेरे पति और बड़ी बेटियां अत्यधिक सहायक थे। बड़ी बेटियां भी नए स्कूल में परेशान थीं। इंगलैंड के दो वर्ष प्रवास के क्रम में वे हिंदी और बांग्ला दोनों भूल गई थीं। वे कानवेंट—पटना का एकमात्र अंग्रेजी माध्यम का स्कूल—के कुछ शिक्षकों की कठोरता एवं पढ़ाने की अपर्याप्त क्षमता से बेहद दुःखी थीं। इसलिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू जी सी) में शिक्षा पदाधिकारी के पद पर मेरी बहाली का उन लोगों ने जोरदार स्वागत किया। मैं यद्यपि दायित्व की समस्याओं से वाकिफ थी। कुलपति ने मुझसे पूछा कि मैं वह नौकरी क्यों करना चाहती जिसमें वेतन वृद्धि की बात नहीं थी। और वह भी अपना मनपसंद शिक्षण का पेशा छोड़कर! मैं बस इतना ही कह पाई कि चूंकि शिक्षा आयोग सुधार कार्यक्रम में संलग्न है इसलिए मैं उसके द्वारा अनुमोदित सुधारों को लागू करने में सक्रिय भूमिका निभाना चाहती हूं। वस्तुतः मैं अब भी शिक्षा सुधार और शिक्षा की राजनीति के बीच चल रही रस्साकशी को एक अबोध बालक की तरह विस्फारित नेत्रों से देख रही थी।

अगले पांच वर्षों में मैंने बहुत कुछ पाया—हालांकि अपनी निश्छलता गंवा बैठी थी। यू जी सी में श्री डी. एस. कोठारी के मार्गदर्शन में मैंने राष्ट्र से जुड़े विश्वविद्यालयीय तंत्र की भूमिका एवं अन्य मुद्दों के बारे में ढेर जानकारियां प्राप्त कीं। यू जी सी ने मुझे 'भारत दर्शन' का लाभ दिया। शिक्षा आयोग की रिपोर्ट और श्री कोठारी की प्रेरणा व चुनौती पर की गई नाना प्रकार की गतिविधियों और वाद-विवाद ने शिक्षा और प्रजातंत्र के बीच परिवर्तनशील संबंधों की मेरी समझ को काफी विस्तृत कर दिया। शिक्षा की योजनाओं के लिए दूर-दृष्टि और धैर्य जरूरी है। पर ऑक्सफोर्ड के जिस प्रतिमान का आनंद मैंने लिया था वह भारत में सर्वत्र लागू नहीं किया जा सकता था। राजस्थान के अंदरूनी भाग एवं पूर्वोत्तर राज्यों के महाविद्यालयों में निरीक्षण समिति ले जाने के कार्य ने यथार्थतः मुझे तोड़ दिया था। उस भयावह परिस्थिति को देखकर मैं सिहर उठती जिसमें रहने, पढ़ने और सालों-साल जीवन बिताने को छात्र अभिशप्त थे। खासकर वह समय जो उनके विकास और प्रस्फुटन के लिए महत्त्वपूर्ण था। श्री कोठारी को यथार्थ से अवगत कराते हुए मैं रो पड़ी। शिक्षण संस्थानों के परीक्षण का मेरा समाज-विज्ञानी दृष्टिकोण उन्हें अद्‌भुत और महत्त्वपूर्ण लगा और उन्होंने आनन-फानन में छात्र मामलों पर एक स्थाई समिति

गठित कर दी। मुझे सचिव बनाया गया। समिति के सभी सदस्य ख्यातिप्राप्त समाज-विज्ञानी थे।

काम के अत्यधिक बोझ के कारण मैं बच्चों की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रख पाती। मेरे पति की व्यावसायिक आकांक्षाएं साठ के दशक की दिल्ली में चोट खाती रहीं। इस प्रकार हम सब के लिए जीवन दुष्कर था। सन् 1970 में भारतीय आधुनिक अध्ययन संस्थान के फेलोशिप पर मुझे शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन पर दो वर्ष शिमला में कार्य करने का अवसर मिला। मैंने राहत की सांस ली। उन्हीं दिनों मेरी सबसे बड़ी बेटी ने कॉलेज में दाखिला लिया था। यू जी सी ने मुझे शिक्षावकास दे दिया जिसके परिणामस्वरूप मैं दिल्ली स्थित अपने सरकारी आवास को अपनी बेटी और पति के लिए कायम रख पाई। शिमला स्थित संस्थान में मुझे एक आलीशान मकान और अन्य सहकर्मियों की आत्मीयतापूर्ण एवं उत्साहवर्द्धक संगत मिली। सहकर्मियों में कुछ पुराने परिचित थे। तीनों छोटे बच्चों को शिमला के एक बहुत पुराने और प्रसिद्ध स्कूल में प्रवेश मिल गया। और मैं अपना शारीरिक व बौद्धिक संतुलन पुनः प्राप्त करने लगी।

एक बार फिर मेरी तकदीर ने करवट ली और सालांत होते-होते मैं उड़ीसा पहुंच गई। वहां एक विश्वविद्यालय के अंतर्गत बेहरामपुर में अध्यापन करने लगी। एक नए विश्वविद्यालय में राजनीति शास्त्र की विभागाध्यक्षा के पद पर कार्य करते हुए मुझे युवा शिक्षकों और छात्र-छात्राओं के छोटे समूह के बीच बहुत ऐसे प्रयोग करने का अवसर मिला जो उन दिनों के लिए उत्साहवर्द्धक था। हम पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधि में सुधार की बात कर रहे थे। संगोष्ठियों एवं शोध गतिविधियों में अंतर्विषयक समन्वय स्थापित करने का प्रयोग कर रहे थे। साथ ही मैं शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में अंतर्निहित भारतीय विश्वविद्यालयों की विशेष भूमिका संबंधी मूल विचारों को प्रसारित करती रही। छात्रों और सहकर्मियों का सकारात्मक रवैया उत्साहवर्द्धक रहा किंतु घर की जिम्मेदारी और ऊपर से यू जी सी लौट जाने का श्री कोठारी का फरमान! मई, सन् 1972 में इन गतिविधियों पर पटाक्षेप हो गया। वापस आने से कुछ दिन पहले मुझे शिक्षा और कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार ने सूचना दी कि मेरी नियुक्ति 'कमेटी ऑन द स्टैटस ऑफ वीमेन इन इंडिया' (सी एस डब्ल्यू आइ) में बतौर सदस्य हो गई थी। सन् 1973 होते-होते मैं पुनर्संगठित सी एस डब्ल्यू आइ की सदस्य-सचिव बना दी गई। एक साल के अंदर रिपोर्ट प्रस्तुत करने का आदेश था।

यह कार्यभार मेरे अपने और कई अन्य के जीवन की दिशा में आमूल परिवर्तन करने वाला था। भारत के विविध समुदायों/क्षेत्रों/वर्गों/परंपराओं के भिन्न-भिन्न

अंशों से संबद्ध उपलब्ध समाज-विज्ञानी जानकारियों के माध्यम से हमने जो निष्कर्ष निकाला उससे हमारी अब तक की अनभिज्ञता का पर्दाफाश हो गया। समाज-विज्ञानी/शिक्षक तथा 'स्वाधीनता की बेटियों' के रूप में हमारी छवि टूट कर बिखर गई। इसी सिलसिले में हमने अधिकांश राज्यों और सांस्कृतिक क्षेत्रों के विभिन्न तबकों के दस हजार से अधिक महिलाओं के साथ वृहत् बातचीत की थी। एक साथ किए गए इस अनुभव का एक दूरगामी असर हुआ। इसके परिणामस्वरूप एक सक्रिय प्रभावी समूह के साथ-साथ विचार-विनिमय का एक मंच बना। एक 'सामूहिक विवेक' का उदय हो गया था जिसे विस्मयकारी खोजों के दर्द और चोट को संभालना था। उन खोजों के प्रस्तुतीकरण हेतु संदर्भ और प्रारूप तय करना था। समुचित मानसिक और बौद्धिक सामर्थ्य विकसित करना था ताकि शिक्षित-महिला पुरुष बुद्धिजीवियों की मान्यताओं और धारणाओं तथा वस्तुतः मिट्टी से जुड़ी महिलाओं से जो कुछ हम सीख रहे थे उनके बीच की जबरदस्त खाई पाट सकें। सरकारी जननांकीय आंकड़े और अन्य सांख्यिकी विवरणों की पुनर्संरचना—ताकि अधिसंख्यक भारतीय श्रमिक महिलाओं का बड़े पैमाने पर हो रहे हाशियाकरण, उनकी गरीबी और सांख्यिकी विवरणों में उनकी अनदेखी का भांडाफोड़ हो सके। यह एक विशाल कार्य था। इसके लिए हमारे पास न तो पर्याप्त कौशल था और न ही सैद्धांतिक ढांचा।

अंतिम छह माह दिन-रात एक कर हमने नियत समय पर कार्य पूरा कर लिया। हमारी रिपोर्ट ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मीडिया में हंगामा कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ और अंतर्राष्ट्रीय विद्वानों की बिरादरी के लोग उठ खड़े हुए। महिला एवं विकास विषय को तूल दिया जाने लगा। लेकिन इसका असर हम पर, और खासकर मुझ पर, एक भिन्न प्रकार का था। अब तक का मेरा संघर्ष पेशा और पारिवारिक दायित्वों के बीच संतुलन बनाती किसी महिला के प्रयासों का चित्रण था। नया संघर्ष उत्तरोत्तर आदर्शपरक और सामूहिक होता गया। इसके अंतर्गत हमारा राष्ट्र, विश्व, भूत, वर्तमान और अतीत एक नए स्वरूप में उभरने लगे। वह भी भारत के छिपे और अनदेखी के शिकार अधिसंख्यकों—ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में कार्यरत बेचारी महिलाओं के मद्देनजर। एक शिक्षाविद् एवं शिक्षा नियोजक के रूप में मैंने भी एक 'बौद्धिक पर्दा' डालने में अपना योगदान दिया था जिसने अधिकांश भारतीय महिलाओं के जीवन, संघर्ष, मान और सपनों को जनता की नजर से छिपा रखा था। शिक्षण-प्रक्रिया, मेरी चाहत और प्राथमिकता, एक वीभत्स और भयानक स्वरूप ले चुकी थी। और हमारा आदर्शवादी प्रजातांत्रिक देश (जिसे लेकर मैं गर्वोन्नत रहती) को कम-से-कम अनदेखी के इस अपराध के

लिए दोषी ठहराया जाता। बल्कि इस विशाल आबादी के दमन और शोषण का कलंक भी अनुचित नहीं होता। एक तो झकझोर कर रख देने वाली यह सचाई, ऊपर से पारिवारिक कलह। अब तक जवान हो गई मेरी बेटियों और उनके पिता के बीच विचारों और तदनुरूप कार्यों की स्वच्छंदता को लेकर कलह होते। बच्चों के पिता को लगभग 6 वर्षों तक स्वेच्छा से दूर रहना पड़ा। पर जब उनका शरीर गिरने लगा और देखभाल की जरूरत आन पड़ी तो उन बेटियों ने ही उन्हें वापस घर लाकर इस विषम परिस्थिति का अंत किया।

प्रो. जे. पी. नायक और भारतीय समाज विज्ञान शोध परिषद ने ईश्वर की तरह प्रकट होकर मेरी मदद की। सी एस डब्ल्यू आइ रिपोर्ट के बाद यू जी सी वापस जाने के बदले मैंने भारतीय समाज विज्ञान शोध परिषद में काम शुरू किया। वहां मुझे सी एस डब्ल्यू आइ द्वारा निर्धारित योजना—महिलाओं पर अपेक्षित शोध और उनका प्रकाशन—को कार्यरूप देना था। भारत में महिला विषयक अध्ययन का जन्म राष्ट्रीय आपातकाल के ग्रहण में हुआ था। स्वतंत्रता आंदोलन के अधिकांश आदर्शों एवं मूल्यों, जिन्हें मैंने जीवन भर संजोया था, का अस्तित्व संकट में था। पर सही मायने में एक सक्रिय राजनीतिक नहीं होने के नाते मुझे इस परिस्थिति से निपटने के लिए रणनीतियों की जानकारी नहीं थी। हालांकि गांधीवादी नायक साहब इस खेल के माहिर थे। "गरीब महिलाओं पर केंद्रित प्रायोजित शोध-कार्यक्रमों का राजनीतिक असर प्रत्यक्षतः सत्तासीनों पर नहीं पड़ेगा—कम-से-कम अभी तो नहीं। इसलिए हम उन मुद्दों पर बात करें जिन्हें तुम्हारी समिति ने उछाला है।" उन्होंने मेरे लिए सलाहकार समिति गठित की जिसमें प्रसिद्ध समाज-विज्ञानी, न्यायविद् और लोक नीति के विशेषज्ञ थे। आपातकाल संबंधी हमारी आशंकाएं उन्हें भी सता रही थीं। मेरे द्वारा तैयार किया गया और सलाहकार समिति द्वारा अनुमोदित कार्यक्रम का नीतिपत्र प्रारंभ से ही कार्योन्मुखी था। लेकिन हमने इसे समाज-विज्ञान की भाषा दी थी जिससे भारत सरकार को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हुई। इसके लक्ष्य थे : (अ) सामाजिक और आर्थिक संगठनों में विद्यमान महिलाओं की स्थिति पर दीर्घकालिक असर वाली प्रवृत्तियों को समझने के लिए आंकड़ों का विश्लेषण; सामाजिक-आर्थिक विकास हेतु नीतियों में सुधार; जन-चेतना में वृद्धि; और महिला विकास एवं कल्याण कार्यक्रमों का आकलन; (ब) समाज में महिलाओं के योगदान से संबंधित अनदेखी और अवमूल्यन को खत्म करना। इसके लिए सामाजिक शोधों में प्रयुक्त मौलिक अवधारणाओं, प्राविधिक प्रणाली और परिकल्पनाओं की समीक्षा कर समाज-विज्ञान के क्षेत्र में नए आयाम विकसित करना। और (स) स्वतंत्रता संग्राम के दौरान सताई गई महिलाओं

के भूले-बिसरे प्रश्न पर सामाजिक बहस पुनः जागृत करना।

भारतीय समाज विज्ञान शोध परिषद वित्त जुटाने वाली संस्था थी। अपेक्षित अध्ययनों की ओर विद्वानों को उद्यत करना मेरा दायित्व था। नायक साहब मुझे एक पांव पर नचाए रखते। मैं देश-विदेश में संगोष्ठियों और सम्मेलनों में भाग लेती। भारत और अन्य देशों में परिवर्तन को प्रभावित करने वाली बहुविध प्रक्रियाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करती तथा महिलाओं की भूमिका और दशा सदृश मुद्दों को ज्वलंत बनाए रखने का प्रयास करती। संयुक्त राष्ट्र संघ व्यवस्था में नायक साहब के मित्रों तथा विकास हेतु विकल्प की तलाश में लगे मौलिक विचारकों की सहायता और उत्साह पाकर तो मुझे लगने लगा कि मुझे ख्याति/विशेषज्ञ की हैसियत मिलने लगी है। मुझे इस बात की आशंका हुई कि सफलता सर चढ़कर न बोलने लगे और फिर मैं अपना आपा न खो दूं। लेकिन मेरे पिता की स्मृति एवं श्री कोठारी, नायक साहब और सर्वोपरि मेरी दो मांओं की शिक्षा ने मेरी रक्षा की।

सन् 1977 के चुनाव ने आपातकाल का अंत कर दिया। इसके साथ ही नाना प्रकार के जन-आंदोलनों की शुरुआत हुई। महिला आंदोलन शीघ्र ही सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण बन गया। ये आंदोलन चल ही रहे थे जब योजना आयोग और अफसरशाही में समाज-विज्ञान बिरादरी के लोग महिलाओं के रोजगार, स्वास्थ्य और शिक्षा (विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में) जैसे अधिकारों पर बनी नीतियों का पुनर्वीक्षण करने लगे। 'महिला अध्ययन पर बनी सलाहकार समिति' का एक सदस्य इस कार्यक्रम का समन्वयन करता। यू जी सी, सी एस डब्ल्यू आइ और आइ सी सी आर में मैंने जो नियोजन और ड्राफ्टिंग कौशल प्राप्त किया था वह मेरे लिए वरदान साबित हुआ। ये दो बातें पुनर्वीक्षण के सभी कार्यक्रमों में रहते। यह मेरे लिए बड़ा उत्तरदायित्व भी था क्योंकि मैंने 'स्वेच्छा से महिला उत्थान के प्रतिनिधि का चोला' पहन लिया था। महिलाओं के लिए अब तक आरक्षित चुनाव क्षेत्र नहीं बने थे।

अंतिम 25 वर्ष

नायक साहब सन् 1978 में आइ सी सी आर से सेवामुक्त हो गए। महिलाओं पर सफलता से आयोजित विभिन्न सत्रों के साथ वह साल बीता। 10वीं विश्व मानव-विज्ञानी एवं जातीय कांग्रेस (दिसंबर, सन् 1978, दिल्ली) की कर्ताधर्ता के रूप में मैं और लीला दूबे सफल रही थी। लेकिन मुझे लगा कि हमारे समर्थन का आधार खिसक रहा था। पूरे कार्यक्रम की सफलताओं की समीक्षा करने के

बाद सितंबर, सन् 1979 में सलाहकार समिति ने एक संकल्प लिया। इसके अंतर्गत आइ सी सी आर द्वारा शुरू किए गए 'प्रारंभिक कार्य' को फलीभूत करने के लिए एक स्वशासी और यथेष्ट वित्त वाली संस्था बनाने की अनुशंसा थी। इस अनुशंसा को आइ सी सी आर ने भारत सरकार के पास भेज दिया। इसे महिला ब्यूरो (संयुक्त राष्ट्र संघ की अपील पर सन् 1975 में भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय तंत्र) का समर्थन भी था। हालांकि हमें कुछ आला अफसरों का समर्थन था पर योजना आयोग के अंतर्गत कार्यरत हमारे एक साथी ने सूचना दी कि हमारा मुद्दा दम तोड़ रहा था। उन्होंने मुझे सलाह दी कि यदि कुछ हासिल करना है तो महिला राजनीति कर्मियों से मिलकर एक महिला मोर्चा का संगठन करूं।

जनवरी, सन् 1980 में संपन्न आम चुनाव ने इंदिरा गांधी को वापस सत्ता में ला दिया। सलाहकार समिति के एक छोटे-से वर्ग ने महिला विकास अध्ययन केंद्र शुरू करने का निर्णय लिया। इस बार यह एक स्वतंत्र शोध संस्थान की भांति होता, जिसके बहुआयामी लक्ष्य होते। इसे तीन वर्ष बाद आइ सी सी आर से लगातार वित्तीय समर्थन प्राप्त होता—जैसा कि समाज-विज्ञान शोध केंद्रों के लिए आइ सी सी आर कार्यक्रम के अंतर्गत मान्य था। मैंने अपनी बची हुई सारी छुट्टियां ले लीं और मई, सन् 1980 में निदेशक के रूप में जुट गई। संसाधनों के प्रति आशंका बनी रहती। नायक साहब ने दो टूक कहते हुए इसे दूर किया, 'अच्छे कार्य, जो अनिवार्य होते हैं कभी आर्थिक कमी से नहीं रुकते हैं।' उन्होंने आरंभिक समर्थन जुटाने का भरपूर प्रयास किया परंतु सन् 1981 में उनकी मृत्यु ने मुझे और मेरे सहकर्मियों को मानो केंद्र में अनाथ कर दिया।

सचमुच, आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। अगले कुछ वर्षों तक मुझे मानव और अन्य संसाधनों को जुटाने के लिए नए-नए कौशल सीखने थे। विभिन्न स्तरों पर—देश के अंदर और बाहर; संयुक्त राष्ट्र संघ और मीडिया—गुट और साझेदारी बनाने का गुर सीखना पड़ा। विश्वविद्यालयीय तंत्र में अपने लंबे अनुभव के दरम्यान शोध और शिक्षण प्रणाली में असंभव प्रतीत होते प्रयोगों को यहां जमीनी स्तर पर लागू किया जा सका। इसके लिए अनपढ़, दरिद्र महिला कृषि कर्मियों को संगठित किया गया। उनसे प्राप्त कटु यथार्थ को सरकार में बैठे साथियों के समक्ष रखा गया। साथ ही महिलाओं पर बढ़ते हुए शोधार्थियों और राष्ट्रीय महिला संगठनों को वस्तु-स्थिति से अवगत करवाया। उक्त संगठनों ने सन् 1980 में एक संघ बना लिया था जिसका उद्देश्य था विकास संसाधनों में महिलाओं की उचित हिस्सेदारी के लिए सरकार से संघर्ष करना। वस्तुतः कई नीतियां उस समय महिला-अधिकारों, उनके मान-सम्मान और आर्थिक स्वायत्तता

के हित में नहीं थीं। इस लड़ाई का अंतिम उद्देश्य था भारतीय प्रजातंत्र के भविष्य और स्वरूप निर्धारण में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करना।

समाज के विभिन्न भागों में महिलाओं के प्रति जागरूकता को प्रोत्साहित करने के लिए सी डब्ल्यू डी एस ने देश के अन्य शैक्षिक संगठनों के सदृश एक महिला अध्ययन संघ बनाने का विचार किया। समाज-विज्ञानों को 'मूल्य-मुक्त' मानने की अवधारणा को निरस्त करते हुए भारत में महिला अध्ययन ने सक्रियतावादी विचारधारा अपनाई। इसमें लैंगिक न्याय हेतु संघर्ष में अपनी सक्रिय भूमिका को हमने अपना पुश्तैनी-सामाजिक उत्तरदायित्व माना। साथ ही संविधान की समानता वाले अनुच्छेदों से प्राप्त लाभों का परिणाम। शिक्षा व्यवस्था में वर्षों के अनुभव के परिणामस्वरूप हम शैक्षिक संस्थानों की परिवर्तनात्मक क्षमता को भांप गए। हां, यह क्षमता तब कारगर होती यदि वे लैंगिक न्याय समझ सकते और तदर्थ बाधाओं को दूर करने का प्रयास करते। ये बाधाएं संरचनात्मक, व्यवहारजन्य और मूल्य विषयक थीं—अतीत से उद्धृत और वर्तमान से निस्सृत होती हुई। इन बाधाओं के स्रोत न सिर्फ भारत में बल्कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से उपजी और बढ़ती हुई एकरूपता में थे। महिलाओं की समरूपता से उत्पन्न होतीं बाधाएं थीं, हालांकि भूमंडलीकरण के इस परिदृश्य में दुनिया भर की महिलाओं को एक सांचे में ढालना जमीनी सच को झुठलाना होता। सन् 1986 में भारत सरकार पर एक दबाव डालने में हमने सफलता पाई। संसद द्वारा सन् 1986 में अपनाई गई राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अंतर्गत स्त्री समानता की शिक्षा पर एक अनुच्छेद दिया गया जिसके अंतर्गत मौजूदा संस्थानों में बतौर परिवर्तनकारी बल के रूप में एक ऐसे माहौल को प्रोत्साहित करना था जिससे महिला सशक्तीकरण में शिक्षण संस्थान एक सक्रिय संरचनात्मक भूमिका निभा सके।

नारी आंदोलन वस्तुतः बहुध्रुवीय है। यह भारतीय राजनीति की यथार्थता में विद्यमान आदर्शों की भिन्नताओं से बहुत प्रभावित है। परंतु स्त्री-विषयक अध्ययनों का सांस्थानिक आधार अधिकांशतया उन लोगों के बीच है जो 'प्रोफेशनल' की भांति एक खास विधा के आदी हैं। पर इन भिन्नताओं एवं यदा-कदा बनते तनाव के बावजूद दोनों के बीच अन्योन्याश्रय, निरंतर और निकट का संबंध रहा है। बीसवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में भारतीय नारी आंदोलनों ने विभिन्न संकटों—परिचय और आदर्श का संकट, सत्ता की रणनीति, कानून और न्याय, समाज और संस्कृति, शक्ति और दायित्व—के समाधान हेतु विकल्पों को अपनाया। यह एक सतत, जीवंत एवं जटिल प्रक्रिया थी जैसा कि दोनों आंदोलनों से जुड़े सदस्यों द्वारा प्रदर्शित रचनात्मकता एवं विक्षोभ से पता चलता है। यथार्थतः सीखने

की हमारी प्रक्रियाओं एवं स्रोतों में क्रांति आ चुकी है। मैं स्वयं निरक्षर खेतिहर महिलाओं और नगरों के असंगठित क्षेत्रों में रहने वाली मुखर गरीब महिलाओं से बहुत अधिक सीख रही हूं, भ्रांतियां मिटा रही हूं। उनका साहस, बुद्धिमत्ता और नैतिक बल सराहनीय है। वे नए ज्ञान को आत्मसात कर रही हैं। अपनी परतंत्रता, हाशिए की जिंदगी और अनदेखी को चुनौती देने के लिए वे इस ज्ञान को अरसों पुराने व्यावहारिक ज्ञान के साथ सम्मिश्रित कर रही हैं। वे समानता, न्याय, आत्मसम्मान, भागीदारी एवं विकास के लिए अपने संवैधानिक अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही हैं। इस प्रकार अपने सदैव विस्तृत होते सामाजिक दायित्वों के प्रति उनका लगाव मेरे और मुझ जैसे अनेकों के लिए संबल बन रहे हैं। मुझे स्वयं अपनी आरंभिक शैक्षिक महत्त्वाकांक्षा को छोड़ने का कोई पछतावा नहीं है।

कुमुदिनी लाखिया *(जन्म 1930) सुप्रसिद्ध कथक नृत्यांगना एवं नृत्य निर्देशिका हैं। क्षेत्र के ख्यातनाम व्यक्तित्व राम गोपाल की शिष्या कुमुदिनी पर गुरु का गहरा प्रभाव रहा है। कुमुदिनी ने 40 से अधिक देशों में मंचन किया है। उन्होंने अब एकल नृत्य छोड़कर अहमदाबाद में 'कदंब नृत्य केन्द्र' की स्थापना की है। वहां शिष्यों को शास्त्रीय कथक नृत्य कला का प्रशिक्षण दिया जाता है। उनकी अन्य उपलब्धियों में है उमराव जान और सुर संगम जैसी सफल हिंदी फिल्मों का नृत्य निर्देशन। उन्हें प्राप्त प्रमुख सम्मान इस प्रकार हैं—अखिल भारतीय संगीत नाट्य कला पुरस्कार (1977); राष्ट्रीय संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार (1982); और पद्मश्री (1987)। 'स्वाधीनता के 50 वर्ष' के अवसर पर अहमदाबाद नगर ने उन्हें नगर-भूषण की उपाधि दी।*

3

सेतु

कुमुदिनी लाखिया

यदि मेरा बाल मन आज मुझे देख पाता तो वह चकित रह जाता। उसके लिए यह अविश्वसनीय होता कि मैं नृत्य के क्षेत्र में कार्य कर रही हूं। स्वान्तः सुखाय के लिए नृत्य का भेद खोलती, उसका अनुवाद करती। आप चाहें तो इसे *कोरियोग्राफी* यानी नृत्य निर्देशन कह सकते हैं। इस मामले में मैं खासकर उन नर्तकों से ईर्ष्या रखती हूं जो दावा करते हैं कि उनका जन्म ही नृत्य के लिए हुआ। अर्थात आरंभ से ही उनके लिए यह सीसे की तरह साफ था। पर मैं तो कहूंगी कि मुझे यह कथन संदेहास्पद लगता है। बहुत कम लोगों के लिए यह इतना सुलभ होता है। नृत्य का अर्थ ही संघर्ष है। बल्कि मैं तो मानती हूं कि यह किसी भी विधा में लागू है क्योंकि साधना मात्र का अर्थ ही संघर्ष है। मैं मानती हूं कि नृत्य से मेरा जन्मजात संबंध नहीं था। मैं तो बस यों ही जीने के लिए पैदा हुई थी। और आज जबकि मेरे जीवन के टुकड़े-टुकड़े प्रत्यक्ष सिमटकर सामने आते हैं तो मैं एक सेतु साफ-साफ देख सकती हूं—जीवन के मेरे अनुभवों एवं नृत्य में मेरे कार्यों के बीच बना सेतु।

यथार्थतः बचपन में मैं कभी नृत्य नहीं करना चाहती। एक तो मुझ पर जान छिड़कने वाली मां, और दूसरे शांत पिता ने मुझ पर यह थोप दिया था। मेरे पिता प्रायः तर्क-कुतर्क से बचने के लिए चुप्पी लादे रहते। मेरा प्रशिक्षण आरंभ से ही कठिन परिस्थिति में हुआ। हालांकि मेरा मानना है कि परिस्थिति मेरी मां के लिए कहीं अधिक विषम थी। दिन भर की स्कूल से थकी 'ना-नुकुर' करने वाली एक बच्ची को नृत्य की कक्षा में ले जाना होता। वह भी भीड़-भरी लोकल ट्रेनों में! वह पूरे एक घंटे मेरे गुरु के पिछले गंदे कमरे में प्रतीक्षा करती। फिर वापसी की वही धक्का-मुक्की। यह मुंबई की बात है। वहीं मैंने अपने गुरु सुंदर प्रसाद से नृत्य की आरंभिक शिक्षा प्राप्त की। मेरे गुरु चौपाटी में, जबकि हम खार में रहते थे। हम पहले ट्रेन पकड़ते, तब बस, फिर पैदल चलते—कुल लगभग

45 मिनट का सफ़र तय करते।

मजेदार बात यह है कि मेरी मां ने फिल्म उद्योग की चकाचौंध में पड़कर नृत्य प्रशिक्षण में मेरा नामांकन करवाया था। मैं जब सात साल की थी तो हम हास्य अभिनेता महमूद के पिता मुमताज अली की फिल्म देखने गए थे। अली ने एक नृत्य प्रस्तुत किया जिसे देखकर मैं सम्मोहित रह गई। वापस घर आकर मैं उनकी नकल उतारते हुए इधर-उधर नाचने लगी। मेरी मां यह सब चुपचाप देख रही थी। उसी ने कहा था—"कुमुदिनी, तुम्हारा जन्म नाचने के लिए हुआ है।" यों तो इस वाकये की कोई स्पष्ट स्मृति मेरे मन में नहीं है पर मेरी मां ने मुझमें जन्मजात विद्यमान इस क्षमता को भांप लिया था। उसका विश्वास इतना दृढ़ था कि वह बिना शिकायत सप्ताह में चार दिन मुझे नृत्य प्रशिक्षण के लिए ले जाती। वह भी इतना सब कुछ झेलकर!

मेरे बचपन की शिक्षा में नृत्य और पढ़ाई के अतिरिक्त भी बहुत कुछ था। मैं कभी भावनाशून्य होकर नहीं रहती। मेरे इर्द-गिर्द जीवंतता थी और मैंने उससे बहुत कुछ सीखा। आज भी मैं उन्हें याद रखती हूं। दरअसल, मैं परिवर्तन के भारी दौर में पली-बढ़ी। वह युद्ध का समय था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम चल रहा था और ऊपर से द्वितीय विश्वयुद्ध, जिसकी सैन्य कार्यवाहियों में भारत की भी भूमिका थी। अभियंता होने के नाते मेरे पिता को सैनिक छावनियां बनवाने के लिए बुलवाया गया—पहले दिल्ली, फिर नैनी और उसके बाद इलाहाबाद। दिल्ली में हमें एक आलीशान मकान दिया गया। हार्डिंग एवेन्यू (अब तिलक मार्ग) के इस मकान की बगल में लियाकत अली (बाद में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री) का निवास था। एक बार मुझे और मेरे भाई सुरेश को उनके पेड़ से अमरूद तोड़ते हुए माली ने पकड़ लिया। माली ने हमारे कान खींचते हुए हमें उनके समक्ष सजा के लिए पेश किया। लियाकत अली ने न सिर्फ अमरूद हमारे पास रहने दिया बल्कि हमें मर्जी से जब-तब अमरूद तोड़ने की छूट दे दी। परंतु इस दरियादिली के साथ ही माली का खौफनाक और तमतमाया चेहरा भी था। यह इतना खौफनाक था कि हम दुबारा बगीचे में नहीं गए। राजनीतिज्ञों के खेल से मैंने पहला सबक लिया था।

पिताजी को अब वहां जाना पड़ता जहां सैन्य-विनिर्माण की आवश्यकता होती। इसलिए मैं जब नौ वर्ष की थी तो मुझे आवासीय विद्यालय भेजने का निर्णय लिया गया। मेरे माता-पिता के बीच ढेरों बहस-विचार, शोध और सलाह के बाद मुझे क्वीन्स मैरी कॉलेज, लाहौर भेज दिया गया। लाहौर उन दिनों भारत में था। मैं अब तक घर से बाहर एक दिन नहीं रही थी। पर ढेरों लड़कियों के

साथ रहने और एक शानदार स्कूल में पढ़ने की बात मुझे एक साथ उत्तेजित और चिंतित कर रही थी। उत्सुकता और दुःख का घालमेल! नृत्य की कक्षा में आना-जाना बंद। भारी-भरकम गुरुजी से कोई लेना-देना नहीं।

पर ऐसा भाग्य कहां? मां ने नाच सिखाने के लिए मेरे साथ राधेलाल मिश्रा, सुंदर प्रसाद के भतीजे, को भेज दिया। लाहौर में उनके लिए एक छोटा घर किराए पर लिया गया। और मेरे नृत्य के लिए एक समय-सारणी बनाई गई। मां के इस दृढ़ विश्वास के बावजूद मुझे नृत्य प्रशिक्षण में मन नहीं लगता। साफ-साफ कहूं, तो इसमें बिल्कुल मजा नहीं आता। मुझे लगता मानो इसमें कोई प्रगति नहीं हो रही थी। मैं बस अपने गुरु के हुक्म पर नाचती रही। पर मैं सदा से जिज्ञासु थी और जानना-समझना चाहती थी कि मैं आखिर कर क्या रही थी। मैं क्यों उस तरह उनकी अंगुलियों के इशारे पर नाच रही थी? लेकिन मेरे शिक्षक न तो इसकी व्याख्या करते और न ही कर पाते। मैं अन्य लड़कियों से ईर्ष्या करती जो टेनिस और बास्केटबॉल खेलतीं जबकि मैं कथक नामक इस चीज में लगी रहती। मेरी मां ने अंग्रेज प्रिंसिपल को समझा दिया कि नृत्य एक प्रकार की अर्चना थी और वह (प्रिंसिपल) धार्मिक स्वतंत्रता पर रोक नहीं लगा सकतीं। एक ऐसे स्कूल में जहां अधिकांशतः ब्रिटिश शिक्षक थे, वर्षों बिताने के बाद मैं उनके अनुशान को पसंद करने लगी थी। दिनचर्या में अनुशासन पालन करने से सोच में अनुशासन उत्पन्न होता है। आप अपने विचारों को भी साफ-सुथरा; पोशाकों और जूतों को भी तहदर्ज करना आरंभ कर देते हैं।

स्कूल की मेरी अंतिम परीक्षा—उन दिनों मैट्रिकुलेशन—से तीन सप्ताह पूर्व मेरे जीवन में नाटकीय मोड़ आया। मुझे प्रिंसिपल के कार्यालय में बुलाया गया था। मेरी क्या गलती थी? दरअसल मिस कॉक्स के कार्यालय में बुलाए जाने की एक ही वजह होती—कुछ उलटा-पुलटा काम। यों वे एक दयालु और व्यवहारकुशल महिला थीं, पर ठोस और कठोर भी थीं। बाद में जब मैं स्वयं एक शिक्षिका बनी तो उनके आचरण से प्रभावित रही। उनके कार्यालय पहुंचते ही मैं इस उधेड़-बुन में थी कि क्या सुबह में खेल के बाद मैं टेनिस रैकेट रखना भूल गई? या कमरे में ताला लगाना भूल गई?

"क्या मैं अंदर आ सकती हूं, मैडम?" मैंने सहमते हुए पूछा।

"हां, अंदर आ जाओ, मेरी बच्ची," उन्होंने इस दयालुताभरी आवाज में जवाब दिया कि मैं सशंकित हो गई। "तुम्हें घर जाना होगा।"

"लेकिन क्यों? मुझे परीक्षा की तैयारी करनी है!"

"तुम्हारे पिता ने यह कहने के लिए फोन किया था कि तुम्हारी मां बीमार

हैं और वह चाहती हैं कि तुम उनसे मिलने आओ।"

मिस कॉक्स के कार्यालय से वापस अपनी कक्षा में जाते समय मैं एक अजीब ऊहापोह में डूब गई थी। यह एक ऐसी मनोदशा थी जिससे मैं पूरा-पूरा कभी नहीं उबर पाई। आज भी जब मैं कोई नई सर्जना करना चाहती हूं तो जो विषय मेरे मन-मस्तिष्क में पहले आता है वह उसी ऊहापोह से कंपित हो उठता है।

छत्तीस घंटे और तीन ट्रेन बदलने के बाद मैं जब घर पहुंची तो मां मर चुकी थी। मैंने जब उसे सफेद और निश्चेष्ट देखा तो समझ गई कि मुझे क्यों बुलाया गया था। तब मैं चौदह वर्ष की थी। हवा शांत थी और किसी ने मेरी ओर नहीं देखा। मैं समझ नहीं पाई कि किधर देखूं, या अपने हाथों से क्या करूं? मेरे हाथ लुंजपुंज हो, मेरे शरीर से लटक रहे थे। अचानक हाथों ने मेरे पेट को पकड़ लिया। पेट की आग भड़क गई थी। मैं तीन दिन से लगभग भूखी थी और एक खालीपन था जिसे मैं भरना चाहती थी। पर लोग पेटू न समझ लें इसका डर था। इसलिए मैंने अपनी भावनाओं को दबा दिया। हालांकि मेरे पेट के अंदर मरोड़ पड़ रहा था।

आज भी विभिन्न प्रकार की भूखों को समझने में मैं गलती कर बैठती हूं। यह मेरे काम में भी परिलक्षित हो जाता है। लटकती बाहें मेरे नृत्य निर्देशन में प्रकट हो जाती हैं। 'दुविधा' में मैंने एक ऐसी मध्यवर्गीय नारी की दुःस्थिति को परखा जो भारतीय जीवन की परंपराओं से बंधी है। वह घर के दायरे में सीमित है। बिना बांह का ब्लाउज पहनना उसके लिए गुनाह है। उसे अपने बाल का जूड़ा बनाकर रखना है और अपने पति की सेवा करनी है। पर वह अपनी छोटी-सी खिड़की से झांकती है। बाहर अखबार बेचने वाला एक ऐसी महिला की तस्वीरें हिलाकर दिखा रहा है जिसके छोटे बालों में सफेद धारियां प्रत्यक्ष हो जाती हैं। वह महिला बिना बांह का ब्लाउज पहने हुई है और पुरुषों से घिरी है जो उसे दत्तचित्त होकर सुनते हैं। वह एक विधवा है, पर रंगीन साड़ी पहनती है। इतना ही नहीं, वह करोड़ों के एक देश का संचालन करती है। यों तो खिड़की से बाहर देखती हुई यह स्त्री उक्त छवि को देखकर हैरत में है पर वह परस्पर विरोधी भावनाएं अनुभव कर रही है। 'दुविधा' की नायिका दो जीवनों के बीच बंटी हुई है—वह अपने अंदर एक शून्य अनुभव करती है। पर उसे पता नहीं चलता कि किस चीज की क्षुधा है उसे? वह किस प्रकार का जीवन चाहती है? मैंने स्वयं अकसर यही तो अनुभव किया है। पर अब, जबकि मैं सबकुछ इतना पीछे छोड़ आई हूं, मैं अधिक दृढ़ हो गई हूं। और जानती हूं कि हाथ कहां रखा

जाए। मेरी परीक्षा का परिणाम आश्चर्यजनक ढंग से अच्छा था। पर, आगे क्या? यहां से मैं कहां जाऊं? ये प्रश्न जीवनपर्यंत बार-बार मेरे मन में उपजते रहे और वर्षों बाद मेरी रचना 'अतः किम्' में साकार हुए। यह कितना मजेदार है कि हम अपने अनुभवों को मस्तिष्क में संगृहीत करते हैं मानो हम पहले से रिकार्ड किए हुए कैसेट हों। अकसर बिल्कुल सही कैसेट खांचे में आ बैठता है जब आप उसकी कतई उम्मीद नहीं करते। स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद मैं चौराहे पर थी और मेरे सामने रास्ता साफ नहीं था। जीवन में मैं क्या करना चाहती, इसको लेकर मेरे पास ढेरों विचार थे पर नृत्य को सदैव उनमें प्राथमिकता नहीं होती। मुझे हमेशा कोई दिग्दर्शक चाहिए होता। यह बात अंशतः उस यथार्थ की उपज थी कि मेरा बचपन दब्बू रहा था। मैं सुरक्षा के एक घने कोहरे से घिरी थी और मैं उससे उबरना चाहती थी। खुद को तलाशना चाहती थी। मैं यथार्थतः शक्तिशाली होना चाहती थी; लोगों के विशाल समूह को नियंत्रित करना चाहती थी। 'अतः किम्' में मैंने अपनी इस आकांक्षा को साकार किया। लेकिन फिर वही बात, एक बार शक्ति प्राप्त करने के बाद आप इसके साथ क्या कर सकते हैं? एक बार लक्ष्य पा लेने के बाद वहां से आप कहां जाते हैं? यह सवाल अनुत्तरित रह जाता है। पर मैं मानती हूं कि यह जरूर पूछा जाना चाहिए।

पंद्रह वर्ष की अवस्था में मेरे पास अनेक विकल्प थे। मनोविज्ञान या अंग्रेजी में स्नातक, और फिर स्नातकोत्तर की शिक्षा के लिए किसी कॉलेज में प्रवेश पा लेना मेरे लिए बाएं हाथ का खेल होता। लेकिन वह तो हर कोई करता है। "तुम्हें लीक से हटकर कुछ करना है, घिसा-पिटा काम नहीं करना है।" मेरे पिता ने मुझसे कहा। इस प्रकार निर्णय यह हुआ कि मैं नैनी (इलाहाबाद) में कृषि महाविद्यालय में दाखिला लूं। तीस छात्रों के वर्ग में उनतीस लड़के, और मैं थी। लड़कियों के स्कूल में वर्षों पढ़ने के कारण मुझे लड़कों के व्यवहार का तनिक ज्ञान न था। मेरा भाई सात वर्ष छोटा था, सो उसके दोस्तों की मानो पीढ़ी ही अलग थी। पर कृषि महाविद्यालय में मुझे लड़कों और लड़कियों के बीच संबंधों का पता चला। हमें साइकिल से मीलों खेतों में जाना पड़ता। लड़के मेरी साइकिल की टायर से हवा निकाल देते ताकि वे मेरे साथ पैदल चलकर वापस आ सकें। परिणामतः रास्ते भर नई-नई फिल्मों के गीत और कलाकारों की निरर्थक चर्चाएं होतीं जिनमें मेरी कोई रुचि नहीं थी।

मैं वहां के प्राध्यापकों, जो कि अधिकांशतः अमेरिकी थे, से प्रभावित रहती। वे शॉर्ट्स पहने होते क्योंकि उन्हें खाद, कीटनाशक और फसल के साथ, कीचड़ में सने खेतों में काम करना होता। एक दिन मैं भी शॉर्ट्स पहनकर पहुंच गई

और 58 आंखें मेरी टांगों को घूर रही थीं। मेरी दादी हमेशा कहतीं कि लड़कियों को कभी भी सीना आगे कर या टांगों को अनावृत कर नहीं रहना चाहिए। मुझे अब पता चला कि वे ऐसा क्यों कहतीं? पर उसे सही मानना मुझे स्वीकार्य नहीं था। "और आप जो अधकटी ब्लाउज पहनती हैं, जिससे आपकी पीठ का मध्य भाग झांकता है?" मैंने उनसे पूछ दिया।

"बहस मत करो," उनका उत्तर था।

हम नारी-यष्टि की सौम्यता को कब समझेंगे? दरअसल एक नर्तकी को खास सौम्यता से चलना होता है। यह ऐसा गुण है जो नर्तकों में होना जरूरी है, पर अफसोस, ऐसा होता नहीं है। खासकर नर्तकियों में क्योंकि जीवन भर उन्हें सीख यह दी जाती है कि अपनी यष्टी को कतई प्रखर न होने दें। बेशक मेरी दादी को ही उनके विचारों के लिए पूरी तरह दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। यह एक ऐसी समस्या है जिसकी जड़ें समाज की संरचना में गहराई तक जाती हैं। चाहिए तो यह कि हम अपनी संवेदनाओं को अंगीभूत करें और उनका भरपूर प्रयोग करें, न कि उन्हें छिपाएं।

एक अन्य विवाद जो अकसर हम दोनों के बीच होता वह धर्म और मंदिर जाने को लेकर था। "परीक्षा से पहले मंदिर जाओ, भगवान तुम्हें अच्छा करने की ताकत देगा," दादी कहतीं। मैं इस विचार से उनकी बात को तूल देती कि वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए भला बाहरी ताकत से तोलमोल जरूरी है! क्या यह ताकत अंदर से नहीं आती, मैं सोचती। मेरे लिए यह विश्वास करना कठिन था कि यह भगवान की ही कृपा थी जिसके फलस्वरूप मुझे यह क्षमता प्राप्त हुई थी। वस्तुतः मंदिर जाने से आपकी प्रज्ञा जागृत होती है, हालांकि आप इस पर कभी गौर नहीं करते। आप स्थापत्य कला की भव्यता देखते हैं और पत्थरों की गोलाइयों को अनुभव कर सकते हैं। धूपबत्ती, फूल और चंदन की सुगंध आपस में मिलती हैं। आप टनाटन करती घंटियों की गूंज सुनते हैं और पंचामृत का रसास्वादन करते हैं। आप विभिन्न सतहों को अपनी हथेलियों एवं पैर के तलुवे से स्पर्श करते हैं। कैसा अनुभव होता है? लेकिन इसमें भगवान से सौदेबाजी क्यों—मानो वे किसी ट्रेडिंग कंपनी के एजेंट हों। जो भी हो दादी के साथ ये तर्क लाभदायक होते। मैं अब संवेदना और भावुकता में अंतर करने लगी थी। बाद में मैंने 'पंच पारस' (पांच संवेदनाएं) नामक एक सर्जना भी की जिसमें संवेदनाओं के संसार को समझने का प्रयास किया गया है।

अठारह की उम्र में कृषि में स्नातक की डिग्री प्राप्त करने के बाद मेरे सामने दो-एक नौकरियों की संभावनाएं थीं। और मैं एक बार फिर चौराहे पर खड़ी थी।

संयोग से मेरा सौभाग्य बिन पुकारे मेरे सामने आ गया। यह मुंबई की घटना है। मैं अपने भाई सुरेश को विदा करने रेलवे स्टेशन गई थी। वह नैनीताल में शेरवुड कॉलेज में पढ़ रहा था। मैं उस ट्रेन को हाथ हिलाए जा रही थी जो आंखों से ओझल हो चुकी थी। इसी बीच किसी ने मेरे कंधे पर थपकी दी। मैं मुड़ी और वहां जो महिला खड़ी थी उसने मेरे जीवन का रूप ही बदल दिया। अब तक नृत्य की कक्षा में बिताई गई बोरियत भरी शाम ने मानो मुझमें एक नई ऊर्जा भर दी हो। वह महिला कोमलता दत्त थी—मेरे पिता की दोस्त। पर कहीं महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उसी ने उदयशंकर का परिचय नृत्य सम्राट अन्ना पाव्लोवा से पेरिस में करवाया था। फिलहाल वह मेरे सामने प्रत्यक्ष खड़ी थी! मुझसे कह रही थी कि मैं लंदन स्थित राम गोपाल की नृत्य संस्था में शामिल हो जाऊं!

पेशेवर नर्तकों एवं गायकों के एक ट्रूप के साथ सहज होकर काम करने के लिए मुझे कुछ सीखना पड़ा। हम सदैव चलायमान होते। और मुझे नृत्य शिक्षा के एक अति भिन्न पक्ष से रू-ब-रू होने का अवसर मिला। ढेर सारे नृत्य भी सीखने पड़े, जैसे केरल का कुंभी, राजस्थान का घूमर, गुजरात का डांडिया। हमारी मंडली में सबकुछ था। मुझे स्वयं राम गोपाल से भरत नाट्यम सीखने में सबसे अधिक आनंद आया। वे सख़्त अनुशासन पसंद थे और कला की पूर्णता के लिए उनमें जुनून भरा था। यद्यपि अंत में उन्होंने कहा, "तुमने तकनीकी पूर्णता प्राप्त कर ली है, अब इसे प्रदर्शित करो और नृत्य प्रदर्शन किया करो।" यही पाठ मैंने अपने शिष्यों को भी सिखाया—प्रयोग करने से पूर्व प्रयोग की जाने वाली तकनीकी को पूरी तरह सीखो।

राम गोपाल के साथ यात्रा के क्रम में मैंने न सिर्फ नृत्य के बारे में बहुत कुछ सीखा बल्कि अपने व्यक्तित्व के संबंध में भी नई चीजों का अन्वेषण कर पाई। विभिन्न देशों के लोगों से मिलकर आप खुद को एक नए अंदाज में देखने का अवसर पाते हैं। मैंने पाया कि जब-तब मेरी गलतियों पर प्रखर प्रकाश डाला जाता। मैं संदर्भ की महत्ता समझने लगी। समझ गई कि वस्तुएं स्थान परिवर्तन के साथ किस प्रकार स्वयं बदल जाती हैं। उक्त यात्रा के दरम्यान युद्ध के बाद के जर्मनी में बिताए क्षण बहुत ही विदारक थे। जर्मनी उस समय अविश्वसनीय ढंग से विषादपूर्ण था। भारत में भूखे, भीख मांगते बच्चे आम दृश्य हैं पर जर्मनी में वही दृश्य देखकर एक भिन्न अनुभूति हुई। मुझे अचरज हुआ कि एक परिस्थिति बदलते ही परिवेश कैसे विभिन्न प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करते हैं। नृत्य में भी यह बात लागू होती है। आप किसी नृत्य प्रदर्शन को मंच पर दूसरी जगह रखकर देखिए, यह बहुत भिन्न दिखेगा। मैं तो अकसर स्वयं बदलती परिस्थिति में भिन्न

व्यक्ति हो जाती।

मैं उन दिनों निरंतर भारत एवं विश्व के विभिन्न भागों की यात्रा पर होती। पर थकान का लेशमात्र नहीं होता, जबकि वस्तुतः आज भी यूरोप के कई देशों एवं अमेरिका की लंबी यात्रा थकाने वाली होती है। कुल मिलाकर मैं तीन साल बाहर रही और अंत में मुझे घर आने की आवश्यकता महसूस हुई। लेकिन घर था कहां? और फिर लोग खुद के लिए घर कैसे बनाते हैं? घर खरीदा, शादी कर ली, बच्चे हो गए और दोस्त बना लिया, बस? पर मेरी योजना में सिर्फ अंतिम बात थी। लाहौर में अपने स्कूल के दिनों में मैंने ढेरों मित्र बनाए थे पर अब वे एक अलग देश, पाकिस्तान में रहते हैं। सप्ताहांत में भी यदि मैं अपने ज़िगरी दोस्त से मिलना चाहती, तो वीसा लेना होता। मैं यह कहना पसंद करती कि मैं राजनीति से परे हूं लेकिन मैं जल्द ही समझ गई कि राजनीति बिन बुलाए मेहमान की तरह आ धमकती है।

आखिरी बार भारत वापस आने पर, जो बात मेरे नसीब में बदी थी वह थी—शादी, बच्चे और मुंबई में एक फ्लैट। अंततः मुझे एक घर मिल गया था। लेकिन इसकी खासी कीमत चुकानी पड़ी थी। मुझे इस नए घर को चलाना था। हमारे समाज में यदि महिलाएं घर से बाहर काम करना चाहती हैं तो उन्हें उसके अतिरिक्त घर की जिम्मेदारियां भी लेनी पड़ती हैं। यह रहस्योद्घाटन बौखला देने वाला था। पर मैं वहां भी बहुत बुरी नहीं साबित हुई, धन्यवाद के पात्र हैं रजनीकांत—संबल देने वाले मेरे पति। वे एक ऐसे परिवार में पले-बढ़े, जहां पुरुषों को खास दर्जा प्राप्त हो जाता है। पर वे अच्छे इंसान थे। उनमें सब कुछ मान लेने की असाधारण क्षमता थी। 'संदेह' नामक शब्द तो उनके शब्दकोश में था ही नहीं। वे इस वजह से लोकप्रिय, पर असफल रहे—एक प्रोफेशनल, और पिता के रूप में भी। हां, एक पति के रूप में बहुत ही समझौतावादी थे। उनके साहचर्य का जो सबसे बड़ा लाभ मुझे मिला वह उनके द्वारा जगाई गई संगीत की अभिरुचि थी। काश उन्होंने संगीत को पेशा बनाया होता—जीवन में कहीं अच्छा कर पाते। पर लंदन के 'लिंकंस इन' में प्राप्त कानून की शिक्षा ने उन्हें गलत रास्ते पर खड़ा कर दिया था।

मैं निश्चय ही कहूंगी कि भगवान ने मुझे सुखद परिवार दिया। दो सामान्य और तंदुरुस्त बच्चे हैं—बेटा श्रीराज और बेटी मैत्रेयी। अब उनकी शादी हो गई है और उनके बच्चे भी हैं। पीछे मुड़कर देखती हूं तो अचरज में पड़ जाती हूं कि मां के रूप में मैंने क्या दिया? निस्संदेह यह प्रदर्शन संतोषप्रद रहा होगा, तब तो ऐसे परिणाम मिले। दोनों भाई-बहन अपनी आकांक्षाओं एवं दर्शन में कितने

भिन्न हैं! एक की आकांक्षा विस्तृत है जबकि दूसरा घटनाओं को उनकी नियति पर छोड़ देता है। उनके बीच सिर्फ एक बात पर सहमति होती है—'मेरे पेशे से असहमति' के मुद्दे पर! एक ही परिवार में इस प्रकार की मतभिन्नता बहुत ही रोचक है। भिन्न व्यक्तित्व के लोगों के एक समूह के साथ एक ही छत के नीचे रहना मंच पर अन्य कलाकारों के साथ काम करने के समान है। इस परिस्थिति में आपसी समीकरण, स्थान, स्पंदन और संबंधों को निश्चय ही ध्यान में रखना होता है। आपका प्रदर्शन सोलो (एकल) नहीं होता। आप एक बड़े बिंब से जुड़ जाते हैं जहां नए कौशलों की एक शृंखला विकसित करनी होती है।

पहले शादी, फिर दो बच्चों के जन्म के बाद मैंने कुछ दिनों के लिए नृत्य छोड़ दिया, पर शीघ्र ही भांप गई कि मैं पूरी तरह नाता नहीं तोड़ सकती। मैंने अनुभव किया कि मुझे कथक से आहिस्ते-आहिस्ते लगाव हो गया था जो यों ही मिटने वाला नहीं था। कथक कांगड़ा और राजस्थान की महीन चित्रकारी की भांति है। यह कश्मीर के जामवाड़ शॉल की महीन बुनाई की तरह है। इस शैली में कुछ है जो अंदर तक छूती है और बहुत महीन है। सो मैंने कथक की गहराई में उतर जाने का निर्णय लिया। शंभु महाराज ने मुझे शिष्या बनाना स्वीकार कर लिया। वे भारतीय कला केन्द्र, नई दिल्ली में सिखाते थे। मैं उनके पास राष्ट्रीय छात्रवृत्ति के साथ दो वर्षों तक गहन प्रशिक्षण पाने वाली थी। मैं दिल्ली आ तो गई पर मेरा कोई पता ठिकाना नहीं था। अंततः कनॉट प्लेस के पास एक अच्छी जगह मिल गई। वहां महिलाओं के लिए पेइंग-गेस्ट की व्यवस्था थी। मुझे लगा वहां की अन्य लड़कियां बहुत ही मैत्रीपूर्ण हैं। उन्होंने मुझे उसी शाम पार्टी में आने का निमंत्रण भी दिया। पर दिन हमेशा एक-से नहीं होते। बुरे दिन की तरह, अच्छे दिन का भी अंत होता है। मुझे जल्दी ही पता चल गया कि ये लड़कियां नैतिक रूप से संदिग्ध पेशे में लिप्त थीं। अगले दिन जब मैं नृत्य केन्द्र पहुंची तो मेरे चेहरे पर निस्संदेह परेशानी के भाव रहे होंगे तभी तो केंद्र की तत्कालीन अध्यक्षा सुमित्रा चरतराम ने मुझसे पूछा कि क्या मैं बीमार थी। मेरी समस्या सुनने के बाद उन्होंने मुझे खींचकर अपनी गाड़ी में बिठाया और वहां गईं जहां मैं रहती थी। उन्होंने मेरा बोरिया-बिस्तर समेटा और वापस अपने घर चली आईं। मैं दो वर्षों तक उनके साथ, पारिवारिक सदस्य की भांति उनके घर पर रही। क्या अब ऐसे लोग मिल सकते हैं जो एक अपरिचिता को अपनी बांहों में यों समा लेंगे? लगाव की इस अनुभूति ने मेरे उस निर्णय को पुष्ट किया जिसके अंतर्गत मैंने नृत्य को एक पेशे के रूप में अपनाने की ठानी थी।

नृत्य सम्राट से तीन वर्षों का प्रशिक्षण मेरे लिए अनमोल अनुभव था। नाच

के अतिरिक्त भी मैंने महज उनकी जीवन-गाथा से बहुत कुछ सीखा। शंभु महाराज न सिर्फ एक मंजे हुए नर्तक, शिक्षक और गायक थे बल्कि एक अजीब करिश्माई व्यक्ति थे। वे साधारण घटनाओं का बखान बखूबी अलंकृत भाषा में करते। मैंने महाराज जी से सीखा कि किसी कहानी का सम्मोहक होने के लिए उसके कथानक का आडंबरपूर्ण या जटिल होना जरूरी नहीं है। बल्कि प्रस्तुतीकरण ही किसी कथा को विशिष्ट बनाता है। आगे चलकर बतौर नृत्य निर्देशिका मैं 'ध्वनि' और 'शक्ति' सदृश मामूली विषयों पर केंद्रित होकर पूरी शाम के कार्यक्रम में शमा बांध देती।

दिल्ली में मेरे प्रशिक्षण कार्यक्रम के दौरान ही भारतीय कला केन्द्र ने 'नृत्य नाटिका' प्रस्तुत करना प्रारंभ किया। राष्ट्रीय नृत्य समारोह, सन् 1959 में प्रस्तुत 'मालती माधव' पहली नृत्य नाटिका थी। सभी ने इसके निर्माण में सुझाव दिए, जबकि निर्माण की कोई जानकारी उन्हें नहीं थी। कुछ लोगों ने माना कि यह एक शानदार प्रस्तुति थी जबकि मेरी राय में सारा गुड़ गोबर हो गया था। नायिका मालती की भूमिका में मैं बहुत असहज थी क्योंकि नाटिका के पात्रों के बीच संबंधों को मैं नहीं समझ पाई थी। वस्तुतः सभी नर्तकों का समग्र रूप से आपस में जुड़ा होना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि लोगों के इस समूह का एकल भाव में गतिशील रहना जरूरी है। परंतु इस स्थिति को प्राप्त करना बहुत कठिन है। वस्तुतः पारंपरिक भारतीय शास्त्रीय नृत्य में प्रत्येक नर्तक को एकल प्रदर्शन का प्रशिक्षण दिया जाता है। भारत में समूह में नृत्य के प्रशिक्षण की कोई अवधारणा नहीं है। न ही नृत्य निर्देशन का प्रशिक्षण दिया जाता है। नृत्य निर्देशन में हाथ आजमाने वाले अधिसंख्य कलाकार स्वयं अपने शिक्षक होते हैं। और जो दृश्य सामने आता है वह सामान्यतया पहले से विद्यमान स्वरूपों का पुनर्समायोजन होता है। विभिन्न दिशाओं में किया गया सोलो कलाकारों के एक समूह का प्रयास होता है। यथार्थतः इसे नृत्य निर्देशन नहीं कह सकते। नृत्य निर्देशन का अर्थ है अपनी सोच की प्रक्रिया को नृत्य की एक शैली में ढाल देना। इसमें आप उस तकनीकी का इस्तेमाल करते हैं जिसमें सिद्धहस्त होते हैं।

कथक के प्रशिक्षण के बाद मेरे सामने भविष्य आईने की तरह साफ था। भारत के विभिन्न स्थानों पर मुझे एकल नृत्य के कार्यक्रम करने थे। ऐसे कार्यक्रमों को संगीत सम्मेलन कहा जाता। वहां मंच अच्छे नहीं होते। प्रकाश प्रबंध की कोई परिकल्पना न थी। सिर्फ रोशनी होती। और जब लाइटमैन को कुछ बख्शिश दी जाती तो वह एक विभिन्न रंगों वाला गोल संयंत्र लेकर आता और उसे गोल-गोल घुमाता। इस प्रकार नर्तक का रंग बदलता रहता—लाल, पीला, हरा, नीला, या गुलाबी। अधिकांश समय दर्शक दीर्घा में बैठे लोग यही देखकर चकित रह जाते।

मैंने यह भी देखा कि भारतीय दर्शकों की प्राथमिकताएं सही नहीं होतीं। वे नृत्य में रुचि नहीं लेते और उल-जुलूल बातों को लेकर तालियां पीटते हैं। कुछ समय बाद मैं सोचने लगी कि उनके लिए मैं क्यों नृत्य करूं? वैसे भी एकल नृत्य ने कभी भी मुझे बहुत उत्साहित नहीं किया था क्योंकि उसमें सरकस की तरह कलाबाजी अधिक होती। मैं जब भी अकेले नाचती तो मुझे लगता मानो एक घोड़ा सामने पड़ी बाधाओं को छलांग रहा है। और फिर मंच की तलाश, और आलोचकों के सामने जबरन मुस्कराते रहना—मुझे ये बातें एकदम नागवार गुजरीं। समय की घोर बर्बादी लगी।

तो अब मैं क्या करती?

इन्हीं दिनों मुझे तोड़ने वाला एक दूसरा जोरदार झटका लगा। मेरा भाई सुरेश बीमार हो गया। वह इटली में रहता था। मैं तीन बार इटली गई क्योंकि उसके साथ समय बिताना चाहती थी। मैं जानती थी वह मरणासन्न था। मैं अभी तीसरी बार जाने की तैयारी कर ही रही थी कि मुझे पता लगा वह सदा के लिए चला गया। हम साथ-साथ पले-बढ़े थे और हमारे लिए सुरेश का अर्थ एक छत के नीचे रहने से कहीं अधिक था। मां की अल्पायु मृत्यु ने हमें और निकट ला दिया था। यह बंधन उसकी मृत्यु के बहुत बाद भी बना रहा। पहले मां, फिर सुरेश को खोकर मैं समझ गई कि जीवन का अंतिम सत्य मृत्यु है। यह बात दीगर कि आप यदि मंच के लिए कुछ सर्जना करते हैं तो उसे अमर होना चाहिए। शाश्वत होना चाहिए। दर्शकों के मन-मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ना ही सर्जना की सफलता है। इसलिए मैं उस कला की सर्जना करना चाहती थी जो चिरस्थायी हो।

ढेरों लड़कियां बचपन में 'टीचर' बनने का खेल खेलती हैं। मैं अपवाद नहीं थी। लेकिन मैं जब इलाहाबाद गई तो वस्तुतः शिक्षक बनने के लिए तैयार भी थी। पर एक बात से मुझे परहेज था। मैं उस तरह नहीं पढ़ाना चाहती जिस तरह मुझे पढ़ाया गया था। मैं जब भी अपने गुरु से नाच के बारे में कुछ पूछती या उनके पाठ में विरोधाभास को मुखर करती तो वे बिल्कुल दादी की तरह जवाब देते—"बहस मत करो।" यथार्थतः गुरु-शिष्य परंपरा में सवाल करने की कोई गुंजाइश नहीं रहती। पर मुझे शिक्षक के स्थापित मूल्यों से ढेरों शिकायतें रहतीं। "सामने देखो, अपने हाथ माथे से ऊपर करो!" पर कहां? सामने? कितना ऊपर? मैं सटीक माप चाहती (ध्यान रहे, मेरी शिक्षा एक ब्रिटिश स्कूल में हुई थी!)। मैं सोचती मेरी शिक्षण शैली में सब कुछ सटीक होना चाहिए—निर्देशन, कोण, डिग्री, भार और माप। मेरे नर्तकों को उनकी गतिविधियों की बारीकियों का पता

होना चाहिए। साथ ही उनमें उत्सुकता होनी चाहिए।

संध्या मेरी पहली छात्रा थी। उसका पति अतुल देसाई उसे कक्षा समाप्ति के बाद ले जाने के लिए आता। हमारा संबंध शुरू में तो 'नमस्कार' तक सीमित था। पर मुझे जब पता चला कि वह एक संगीतज्ञ था तो हमारे आपसी अभिवादन में गर्मजोशी आ गई और साथ ही एक मुस्कान। एक बार मैंने उससे पूछा कि क्या वह एक नृत्य के लिए संगीत देगा जिसका निर्देशन मैं कर रही थी। इसके बाद तो 40 वर्षों का साथ रहा। इस अवधि में उसने मेरी प्रत्येक नृत्य रचना के लिए संगीत सर्जना की। वह बहुत ही सृजनशील और संवेदनशील व्यक्ति है। हमारी सर्जना के क्रम में उसने ढेरों मान्य सुझाव दिए।

कुछ वर्षों की अवधि में कई लड़कियों ने अच्छा नृत्य करना प्रारंभ कर दिया। मैं जल्दी ही भांप गई कि सभी एकल नृत्य में नहीं बढ़ सकते क्योंकि उतने अवसर कहां थे! हां, दिल्ली में रहने वालों के लिए कुछ और बात थी। वहां महत्त्वपूर्ण लोगों, नेताओं, राजदूतों और विदेश से आए मेहमानों के लिए नृत्य प्रस्तुत करने का अवसर मिलता। यह इतनी प्रचुरता में था कि दिल्लीवासी भूल गए कि उनके महानगर से बाहर भी एक भारत है। नर्तकों के लिए दिल्ली में रहना लाभदायक है क्योंकि यहां वे सही संपर्क साध सकते हैं। साथ ही अनुदान और पुरस्कारों के लिए पैरवी कर सकते हैं और इस प्रकार उनके लिए देश-काल-पात्र एक साथ सध जाते हैं। बावजूद इसके मैं नहीं मानती कि मैं इतनी उत्तेजना झेल पाती। और मैं एक छोटे-से समूह को प्रशिक्षित कर प्रसन्न थी। हालांकि मेरी उन शिष्याओं ने अच्छी नृत्यांगना बन कर मुझे चकित कर दिया। पर उनका हश्र क्या होता? अतः मैं पांच नर्तकियों को साथ लेकर नृत्य सर्जना किया करती।

सर्जना की शुरुआत कैसे होती है? हमें स्रोतों के लिए अंतर्मन में झांकना चाहिए। मैं खुद से पूछती, "मेरे अंदर क्या धड़कता है?" मुझे लगा मेरा हृदय और मेरी नाड़ी (धबकार) ढोल की भांति धड़क रहे थे। "धबकार" नामक मेरी नृत्य रचना कथक की थिरकन के समान थी। निश्चय ही इसके संबंध में एक शाश्वतता थी क्योंकि तीस वर्षों के बाद भी यह बिल्कुल नई लगती है। विषय चुनते समय अधिकांश नर्तकियां मिथकीय कहानियों से प्रेरित होती हैं। ऐसी कहानियों पर आधारित कार्यक्रम सुलभतया आकर्षक हो जाते हैं क्योंकि दर्शक उन कहानियों से पूर्व परिचित होते हैं। इस प्रकार ऐसे कार्यक्रम स्वीकार्य ही नहीं अपितु लोकप्रिय होते हैं। लेकिन नृत्य निर्देशन में स्वीकार्यता अहमियत नहीं रखती। यह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है। इसलिए मेरा मुख्य उद्देश्य दर्शकों के समक्ष वह परोसना नहीं है जो वह चाहते हैं, बल्कि उनके मस्तिष्क को विस्तार देना है।

ऐसा नृत्य सृजित करना है जो विचारोत्तेजक हो। एक नृत्य निर्देशक को नृत्य शैली के परे भी देखने की आवश्यकता है। अर्थात उसे अपनी रचना में सर्वस्व न्योछावर कर देना चाहिए ताकि रचना जीवंत हो जाए। अपने जीवन के अनुभवों के तार को अपनी रचनाओं से जोड़ने के लिए मैंने बहुत ध्यान दिया। दोनों को एक-दूसरे से अलग रहने की छूट नहीं दी। हम अकसर देखते हैं कि हमारा जीवन और हमारी क्षमताएं पृथक्-पृथक् होती हैं। खासकर समय प्रबंधन के मामले में मैंने इस अंतर को देखा। नृत्य की परंपराओं में 'समय' और उसकी 'विविधताओं' पर गहन विचार किया गया है। लोग इसका अध्ययन करते हैं और इस पर अधिकार करने की कोशिश करते हैं। अच्छी तरह नाचने के लिए यह अनिवार्य है : लेकिन यह समय प्रबंधन हमारे जीवन में उपेक्षित क्षेत्र बनकर रह जाता है। दरअसल यह किसी अनुशासन को अपने ही अस्तित्व के दूसरे पक्ष से जोड़ने वाली बात है। अतएव लोगों को चाहिए कि वे सेतु निर्माण पर बल दें। अपनी इस आपबीती "सेतु" में मैं जीवन में सेतु निर्माण पर केंद्रित रही। हालांकि मैंने उसके पात्र में अंधापन का एक तत्त्व जोड़ दिया क्योंकि हम जब सेतु से गुजरते हैं तो उसे देखते नहीं। पार करने के बाद जब हम मुड़कर देखते हैं तो सेतु नजर आता है। और उसके नीचे बहता पानी।

मैं एक ऐसे पेशे में हूं जिसमें सेवा से अवकाश का कोई विकल्प नहीं है। बढ़ते ही जाना है। खाली जगह प्रतिदिन मुझे घूरती है। मुझे एक खाली, गूंजता हुआ कमरा दिखाई पड़ता है। मैं फर्श पर बैठती हूं, विस्तृत फलक को घूरती हूं। इतने बड़े फैलाव में पिंड कितने छोटे दिख पड़ते हैं? धीरे-धीरे खालीपन की बजाय मैं उस शून्य को एक सुषुप्त ऊर्जा से आवेशित होते हुए देखती हूं। वह आकार लेने के लिए लालायित है। किसी सोए हुए दानव को जगाने की भांति मैं इन पिंडों में जान फूंकना प्रारंभ करती हूं। संगीत को अपना दिग्दर्शक बना लेती हूं। धीरे-धीरे आकृतियां उभरने लगती हैं। वे मेरे निजी जीवन से उभरती हुई आकृतियां हैं। मेरे अंतःकरण से जुड़ी शैलियां हैं। फिर ये पिंड बृहत् आकार लेने लगते हैं। सामने फलक में एक लचीलापन आ जाता है। हर बार यह स्थान और काल के बीच संवाद की भांति प्रकट होता है।

मुझे अपनी किसी भी रचना के क्रम में कथक से परे कुछ तलाशने की आवश्यकता नहीं पड़ी। मैं मानती हूं कि लोग जितना समझते हैं कथक उससे बहुत अधिक संपन्न है। जब मैंने अपने नृत्य केन्द्र का नाम *'कदंब'* चुना तो मैं कथक की प्रकृति पर ही सोच रही थी। मेरे लिए कदंब के दो अर्थ हैं। पहला तो यह कि कदंब ही वह पारंपरिक वृक्ष है जिसकी छांव में श्रीकृष्ण नाचते हैं।

इसकी जड़ें मजबूत और अंदर तक जाती हैं। वस्तुतः कथक की नींव भी वैसी ही है। और फिर कदंब का पेड़ हमारी इंद्रियों के लिए सदैव मनोहर दृश्य उत्पन्न करता है। इसको ढंकने वाली सुसज्जित छाल, शाखाओं पर खिले सुंदर फूल और हरे-भरे, घने पत्ते—सचमुच, कदंब के पेड़ एक व्यक्तित्व और जीवंतता से परिपूर्ण होते हैं। मुझे कोई जिज्ञासा नहीं हुई कि कदंब की छांव से बाहर झांकूं।

मेरे लिए *कदंब* मात्र एक नृत्य केंद्र नहीं रहा। एक तरह से यह मेरा मंदिर है। यहां हम नृत्य को धर्मतः अपनाते हैं और तदनुसार भक्तिभाव रखते हैं। इसे संजोते हैं। मैं जब भी चालीस वर्षों में फैली सैकड़ों शिष्याओं के इस परिवार पर सोचती हूं तो रोमांचित हो जाती हूं कि इस पेड़ की शाखाएं कितनी फैल चुकी हैं। मेरी कुछ शिष्याएं ख्यातनाम शिक्षिका, नृत्य निर्देशिका और कला समीक्षक बन गई हैं। यदि मुझे पुनर्जन्म का अवसर मिले तो क्या मुझे कुछ भिन्न की चाहत होगी? मुझे तो नहीं लगता। मैं तो बल्कि यह भी कहूंगी कि 'नृत्य के लिए ही जन्म लेना' मेरे लिए लज्जा की बात होती। मैंने तो अपने जीवन की शाखाओं में फैली चुनौतियों से संबल प्राप्त किया। इन्हीं शाखाओं पर तो फूल खिलते हैं।

रोमिला थापर *(जन्म : जनवरी 1931) प्राचीन भारत की मूर्धन्य इतिहासकार हैं। ईसा की छठी शताब्दी के अध्ययन में उनका अद्वितीय योगदान रहा है। वह भी खासकर सम्राट अशोक का काल। उनके कार्य सामाजिक इतिहास के क्षेत्र में अग्रगण्य रहे हैं। आगे चलकर उन्होंने संस्कृति, समाज एवं इतिहास के बीच कड़ियों का पता लगाया। इसका भी अन्वेषण किया कि इतिहास कैसे बनते और प्रस्तुत किए जाते हैं। जन-जन के बीच प्रबुद्ध मानी जाने वाली रोमिला ने निरंतर हमें सचेत किया कि राजनीतिक लाभ के लिए इतिहास की गलत व्याख्या न करें। उन्होंने हमारी राजनीति में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता पर बल दिया है। प्राचीन भारत के इतिहास पर उनकी पुस्तकें बहुत ही सम्मानित हैं। 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया', 'द पास्ट एण्ड प्रेज्युडिश', और 'शकुंतला : टेक्स्ट, रीडिंग्स, हिस्ट्रीज' उनमें प्रमुख हैं। रोमिला को ढेरों पुरस्कार और सम्मान मिले हैं। उन्हें सन् 1993 में शिकागो विश्वविद्यालय से; सन् 1992 में परेदेनिया विश्वविद्यालय (श्रीलंका) से; सन् 2001 में इंस्टीट्यूट नेशनल डेस लैंग्स एट सिबिलाइजेशंस ओरएंटल (पेरिस) से; और सन् 2002 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से, कम-से-कम चार मानद उपाधियां प्रदान की गईं। सन् 1997 में उन्हें फुकोका सांस्कृतिक पुरस्कार दिया गया।*

4

इतिहास : अतीत और वर्तमान

रोमिला थापर

मेरी सबसे पुरानी स्मृतियों में बसा है लड़के और लड़कियों का एक छोटा-सा स्कूल—वहां होने वाली पढ़ाई नहीं, बल्कि मौज-मस्ती और खेल-कूद के दिन। ऐसा प्रायः इसलिए क्योंकि मैंने घर पर ही आरंभिक ककहरा सीखना शुरू कर दिया था। यह बस एक संयोग था कि मुझे दो भाषाओं—अंग्रेजी और उर्दू—की वर्णमाला सीखनी पड़ी। मैं दरअसल पंजाबियों की उस पीढ़ी से हूं जो अपनी दादियों को पंजाबी में ख़त लिखते समय अकसर अरबी लिपि का प्रयोग करते हैं। अपने छोटे-से स्कूल के बाद मैं अन्य स्कूलों में गई और मेरी शिक्षा उत्तरोत्तर औपचारिक होती गई। सबसे पहले हम डलहौजी गए जहां कुछ दिनों के लिए मेरे पिता की नियुक्ति हुई थी। उसके बाद हम पेशावर गए, फिर रावलपिंडी। पर स्कूल में दाखिला से पूर्व मैं उन दिनों के उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत के किलों में रह चुकी थी। मेरे पिता सेना में चिकित्सा पदाधिकारी थे। रावलपिंडी के बाद उन्हें पुणे भेज दिया गया। यह भारी परिवर्तन था क्योंकि पहले मैं पंजाबी और पठान समाज के बीच रही थी और अब अचानक मराठी समाज के केंद्र में थी। दोनों के बीच भाषा और भूदृश्य में बहुत भिन्नता थी। लेकिन मेरे यायावरी बचपन का सबसे बड़ा हिस्सा पुणे में ही बीता।

औपचारिक स्कूली शिक्षा पेशावर और रावलपिंडी से खास भिन्न नहीं थी क्योंकि कानवेंट स्कूल देश भर में कमोबेश समान थे। मुझे पांच बार स्कूल बदलना पड़ा। पर असली समस्या हर बार नए दोस्त बनाने को लेकर थी, न कि पढ़ाई-लिखाई की। फिर भी सह-शिक्षा से बालिका विद्यालय में प्रवेश एक परिवर्तन था और सोचने पर लगता है कि ये भिन्न-भिन्न अनुभव थे। बालिका विद्यालय में सहपाठी लड़कियों के साथ मेलजोल सुलभ था और शैक्षिक प्रतिस्पर्द्धा अपेक्षाकृत कम (हालांकि जिस प्रकार के स्कूलों में गई उनमें यह आम मुद्दा नहीं होता)। लड़के बातचीत के मुद्दे होते, पर बेवजह नहीं। पढ़ाई की हमारी दिनचर्या में उनकी

चर्चा शामिल होती जो हमारे इर्द-गिर्द होते। स्कूलों में अन्य लोगों के बीच उनकी चर्चा अकसर छिड़ जाती।

मुझे लगता है शुरू से ही इतिहास में मेरी रुचि थी। लेकिन यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं था क्योंकि मैं तीन विषयों के बीच खिंच रही थी—इतिहास, साहित्य और वनस्पति विज्ञान। एक ही शिक्षिका हमें इतिहास और साहित्य पढ़ातीं। वे बेजोड़ थीं और हमें सतत् प्रश्न पूछने के लिए उकसातीं, स्वयं अपने बारे में सोचने को प्रेरित करतीं। वनस्पति विज्ञान की शिक्षिका बहुत ही आकर्षक थीं। मुझे वनस्पति विज्ञान में बहुत आनंद मिलता क्योंकि हमें पुणे और उसके आसपास भव्य उद्यानों में ले जाया जाता। हम पौधों के चित्र खींचते या सूक्ष्मदर्शी से उनके ऊतकों का अध्ययन करते। इस प्रकार एक दृश्य-प्रभाव उत्पन्न होता। सरल से जटिल संरचनाओं को देखना भी उतना ही सम्मोहक होता था। लेकिन इतिहास और साहित्य निस्संदेह अधिक मानसिक रुचि के विषय थे। आज जब मैं उनके बारे में सोचती हूं तो याद आता है कि दोनों में से कोई भी 'नन' नहीं थी जबकि वे एक कानवेंट में पढ़ा रही थीं।

आखिरकार मैंने दो कारणों से इतिहास पढ़ना तय किया। एक बहुत ही निजी कारण था, और दूसरा सामान्य। स्कूल की समाप्ति और विश्वविद्यालय के सत्र के शुरू होने के बीच मेरे पास छह माह का समय था। उन दिनों मेरे पिता की रुचि, शौक की तरह, दक्षिण भारतीय कांस्य मूर्तियों में हो गई थी। वे एक असाधारण इंसान थे। तीस के दशक में मूक फिल्में बनाने में भी उनकी रुचि थी। उनमें कुछ तो अद्भुत थे। पर इस नई रुचि के बाद तो वे मूर्तिकला, इतिहास और कला के इतिहास पर मोटी-मोटी रचनाएं घर ले आए। फिर उन्होंने मुझ पर जोर दिया कि मैं उन्हें पढ़ूं ताकि कोई उनके साथ उन किताबों पर बात कर सके। मेरी मां ने पल्लू झाड़ दिया—उन्हें ढेरों अन्य काम करने थे। मैंने भी शुरू में विरोध किया, पर अंततः मेरी छह माह की छुट्टी कठिन तपस्या में बदल गई। मैंने पढ़ना आरंभ किया और धीरे-धीरे मुझ पर नशा छा गया। मैं इतिहास में डूबती चली गई।

चालीस के दशक में राष्ट्रीय आंदोलन का ज्वार भी समान रूप से हावी था। पुणे में रहने के कारण उसका असर और अधिक था क्योंकि वहां गांधीजी की प्रार्थना सभाएं हुआ करतीं। हम अकसर उसमें जाते। राष्ट्रवाद की सुगंध हवा में फैली थी और स्वाधीनता दस्तक दे रही थी। इसलिए हमारे समक्ष ज्वलंत मुद्दे थे कि हम अपने अतीत को कैसे समझते, और अपने समाज के भविष्य की क्या कल्पना करते? निस्संदेह इतिहास के चर्चे गर्म थे।

विद्यालयों में राष्ट्रवाद के प्रश्नों की दो तरह से व्याख्या होती। इस पर विचार करते समय हमें यह अवधारणा दी जाती कि राष्ट्रवाद एक दौर है जिससे विभिन्न समाजों को गुजरना होता है। उदाहरण के रूप में फ्रांसीसी क्रांति, इटली के राष्ट्रवाद और जर्मनी के एकीकरण की चर्चा होती। भारतीय राष्ट्रवाद पर चर्चा के क्रम में उक्त क्रांतियों एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध क्रांतियों के बीच अंतर मुखर होकर सामने आते। यद्यपि यथार्थतः शिक्षक ब्रिटिश शासन के खिलाफ नहीं होते पर वे उस पर चर्चा के लिए बेहिचक तैयार होते। हमें सदैव कहा जाता—विरले ही गुपचुप तरीके से—कि चूंकि स्वाधीनता अवश्यंभावी है, सो युवा पीढ़ी को निश्चय ही सोचना चाहिए कि उसे स्वाधीनता के बाद कैसा राष्ट्र उत्तराधिकार में मिलेगा और वह उसे कैसा बनाना चाहेगी। सन् 1947 में हुआ वास्तविक परिवर्तन वाकई एक समस्या थी क्योंकि हममें से कुछ लोगों के सगे-संबंधी बंटवारे की चपेट में आ गए थे। मुझे अचानक ध्यान आया कि अगस्त के उन कठिन दिनों, दो सप्ताह, हमारे स्कूल में अखबार नहीं मिले। चूंकि मेरे माता-पिता बाहर थे सो मैं उन दिनों स्कूल के हॉस्टल में ही रहती। हमें दंगों की छिट-पुट सूचना हॉस्टल से बाहर रहने वाले बच्चों से मिलती। असल में स्कूल जिस वजह से चिंतित था वह यह कि मां-बाप की अनुपस्थिति में बच्चे अखबारों को पढ़कर परेशान हो जाते। अक्तूबर में अवकाश मिलने पर मैं जब घर गई तो मुझे पता चला कि हुआ क्या था! पहले तो मैंने अपनी नाराजगी जाहिर की कि मुझसे यह सूचना छिपाई गई थी। पर आज गौर करने पर मैं द्विविधा में पड़ जाती हूं। फिर भी मैं सोचती हूं कि हमें स्कूल में ही विभाजन पर विचार करना चाहिए था क्योंकि हममें से कई के लिए यह सबसे बड़ा आघात था कि अब हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एक अप्रत्याशित खाई उत्पन्न हो गई थी।

मुझे 15 अगस्त, सन् 1947 के प्रति ननों की प्रतिक्रिया ने सचमुच प्रभावित कर दिया। पूरे स्कूल ने मिलकर एक समारोह किया, नए राष्ट्र के नाम शुभ संदेश दिए गए। बतौर प्रीफेक्ट मुझे एक पौधा लगाने और भाषण देने के लिए कहा गया। वह मेरा पहला सार्वजनिक भाषण था! मैं एकदम घबराई हुई थी, जैसा कि आज भी लोगों के बीच बोलते वक्त होता है। मैं अपने उस भाषण को दिन-रात बार-बार लिखती रही। अंततः समारोह संपन्न हुआ और मैंने एक पौधा लगाया। भावनाओं के उतार-चढ़ाव के बीच अपना भाषण दिया, पर यह प्रयास करती रही कि उस क्षण के भावातिरेक में डूब न जाऊं। साथ ही भारत की स्वाधीनता से मैं गर्वोन्नत भी हो रही थी। आपको बता दूं कि मेरे द्वारा लगाया गया वह पेड़ आज भी बढ़ रहा है।

मेरी सोच में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इतिहासकार के रूप में हम इन भयानक परिस्थितियों के प्रति कैसे प्रतिक्रिया करते हैं। हमने सन् 1984 में दिल्ली के दंगे देखे, फिर सन् 1992 में बाबरी मस्जिद और कई अन्य छिट-पुट घटनाएं देखीं। दरअसल संवेदनशील मुद्दों पर बात-चीत करने की आवश्यकता है, न कि उन्हें दरकिनार करने या छिपाने की। खासकर बच्चों के साथ तो इस पर बात-चीत होनी ही चाहिए। उन्हें मुद्दों की पृष्ठभूमि से अवगत करवाया जाना चाहिए। उस पर उनके मंतव्य सुनने चाहिए। उन्हें बताया जाना चाहिए कि उस पर लोगों का क्या नजरिया है। उनके समक्ष यह स्पष्ट करना जरूरी है कि परिस्थिति ऐसी नहीं जिसमें एक वर्ग 'काला' तो दूसरा 'सफेद' है। इतनी भिन्नता नहीं है। उन्हें पता तो चले कि इन संबंधों की बारीकियां क्या हैं? उन्हें यह भी ज्ञात हो कि जिस प्रक्रिया से द्वेष और वैमनस्य बढ़ता है वह कतई सदियों पुरानी नहीं है। स्थानीय और हाल की घटनाएं ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करती हैं। मुझे खुशी है कि भारत-पाक विभाजन में इतिहासकारों ने एक नई रुचि दिखाई है और यह अब तक लिखे गए इतिहास से भिन्न है।

मेरा कॉलेज, पुणे का वाडिया कॉलेज, अत्यधिक अनुशासित समय-सारणी वाला नहीं था, मोटे तौर पर मौज-मस्ती भरा था। कालेज पास में ही था और मैं हर सुबह साईकिल से जाती। वहां दोस्तों की टोली के साथ इधर-उधर टहलती। पर मैं वहां सिर्फ दो साल रही। मेरे पिता का स्थानांतरण पुनः दिल्ली हो गया। इस बार मैं मां-बाप के साथ दिल्ली आ गई। निस्संदेह 'मिरांडा हाउस' मेरी पहली पसंद थी। लेकिन दिल्ली विश्वविद्यालय के अंतर्गत त्रिवर्षीय बी.ए. करने की बाध्यता थी जो मुझे शुरू से करना होता क्योंकि पूना विश्वविद्यालय में चार-वर्षीय, अंतरस्नातक समेत, पाठ्यक्रम था। पांच वर्षों में सिर्फ स्नातक की डिग्री प्राप्त करने की कल्पना से ही मेरा दिल बोझिल हो जाता इसलिए जहां तक मुझे याद है मैंने चार महीने तक मिरांडा हाउस में पढ़ने के बाद उससे छुट्टी ले ली। फिर मैं शिमला गई और पंजाब विश्वविद्यालय से बी.ए. (आनर्स) की डिग्री प्राप्त की। मैं दरअसल यह शीघ्र पूरा करना चाहती थी। लंदन विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए मुझे इस डिग्री की आवश्यकता थी। वहां स्कूल ऑफ ओरियंटल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज से इतिहास में स्नातकोत्तर करना चाहती थी। मेरे पिता ने मुझसे कहा कि उन्होंने कुछ रुपये मेरे दहेज के नाम कर रखा है और मैं अपनी मरजी से उसका उपयोग या तो दहेज के रूप में कर सकती थी या लंदन विश्वविद्यालय में अपनी पढ़ाई पर। मैंने लंदन विश्वविद्यालय को चुना। हालांकि उन दिनों शिक्षा के क्षेत्र में जाने के प्रति मैं उदासीन थी। दरअसल खींच तो मुझे लंदन रहा

था—तत्कालीन विश्व का केन्द्र। माता-पिता की ओर से हल्का दबाव तो था कि मैं निर्णय पर पुनर्विचार करूं, लेकिन मैं स्वीकार करती हूं कि दोनों ही बहुत उदार प्रकृति के थे। उन्होंने अंतिम निर्णय मुझ पर छोड़ दिया। सचमुच इस मामले में मैं बहुत सौभाग्यशाली थी।

लंदन में तो मैं खुशी से नाच उठी थी। वहां नाना प्रकार की विभिन्न गतिविधियों में हमारी सुलभ पैठ हैरत में डालने वाली थी। मैं जो कुछ करना चाहती सब तो था वहां—वह भी एकदम सुलभ। व्याख्यान, गोष्ठियां, जाज क्लब, कला प्रदर्शनियां, कवि गोष्ठी, नाटक, फिल्में आदि-आदि। यह तो सपनों की दुनिया थी जिसमें हर चाहत पूरी होती। मेरे लिए अब तक ऐसी बात नहीं थी क्योंकि भारत के किसी नगर में एक युवा स्त्री के लिए जिंदगी में अपेक्षाकृत बहुत पाबंदियां होतीं। पर यह भी नहीं कि सब जगह यों ही खुला-खुला था। लंदन विश्वविद्यालय के नियमानुसार मुझे इतिहास में बी.ए. की डिग्री चाहिए थी। उसके बाद ही मैं एम.ए. की सोच सकती थी। पर मैं पंजाब विश्वविद्यालय से साहित्य में बी.ए. थी। हां, उन लोगों ने मुझे तीन वर्षों की बजाय सिर्फ दो वर्षों में इतिहास में स्नातक हो जाने की छूट दे दी। आगे चलकर यह मेरे लिए बहुत लाभदायक रहा क्योंकि मुझे इतिहास अध्ययन की विधियों एवं स्रोतों के विश्लेषण का प्रशिक्षण मिल गया। मैंने अब भी अन्य रुचियों को बनाए रखा। उनके लिए समय निकालती। पहले ही वर्ष मैं चीनी कला और पुरातत्त्व में डिप्लोमा करने लगी क्योंकि मुझे लगा कि किसी अन्य एशियाई सभ्यता से अवगत होना जरूरी था। मेरी इन गतिविधियों के बावजूद मेरे परीक्षा परिणाम अच्छे रहे और अब मैं लंदन में ही रहने के लिए अधिक प्रतिबद्ध हो गई। लेकिन मेरे पिता ने स्पष्टतया कह दिया कि आगे वे लंदन में मेरी पढ़ाई का खर्च वहन नहीं कर सकते। उन दिनों लंदन में छोटे-मोटे काम के उतने अवसर नहीं थे जितने आज हैं। मैं एक पत्रकार बनने पर विचार करने लगी, लेकिन मेरे भाई के अनुसार मैं इस पेशे के लिए कतई नहीं बनी थी। मेरे शिक्षक प्रो. (ए. आर.) बाशम ने सुझाव दिया कि मैं लंदन विश्वविद्यालय में शोधार्थी के लिए मिलने वाली छात्रवृत्ति के लिए आवेदन कर दूं। पहले तो मैं झिझकी पर बाद में आवेदन किया और मैं तो चकित रह गई जब मुझे वह मिल भी गई। इस घटना ने मेरा भाग्य एक प्रकार से सुनिश्चित कर दिया। अब लंदन में रहना तय था। और अध्यापन में जाना भी।

मैं अशोक मौर्य के काल की पुनर्व्याख्या करना चाहती थी। उसके शिलालेखों में खचित व्यक्तित्त्व से मैं सम्मोहित थी। वह एक उल्लेखनीय राजनयिक था जिसने सामाजिक न्याय पर बल दिया और उसे लागू करने का प्रयास किया। मैं इस

बात की छान-बीन करना चाहती कि किस हद तक ये बातें बौद्ध धर्म में अशोक की अभिरुचि से प्रेरित थीं। या फिर ऐतिहासिक यथार्थ के प्रति उसकी प्रतिक्रिया से! मैंने यह पुष्ट करने का प्रयास किया है कि सामाजिक प्रतिक्रिया ही मूलतः उसे प्रभावित करती थी, लेकिन बौद्ध-प्रभाव भी किसी तरह अप्रासंगिक नहीं था। मेरे दिल में उसके लिए अगाध श्रद्धा है। यद्यपि कुछ लोगों ने मेरी निंदा इसलिए की कि मैंने अशोक की नीतियों की समालोचना की। भारत के आरंभिक इतिहास में अशोक की इस सामाजिक प्रतिक्रिया को एक महत्त्वपूर्ण बिंदु माना जाता था। राज्य, नगर-सभ्यता और अभूतपूर्व राजनीतिक परिवर्तन की जड़ें मजबूत हो रही थीं। मौर्यकालीन तत्त्वों को साकार करने वाली व्यवस्था तथा उक्त काल के बाद उन तत्त्वों का फैलाव प्रारंभिक इतिहास में एक नया आयाम जोड़ता है।

डॉक्टरेट के बाद भी मैं लंदन में रहना चाहती थी। लेकिन अब मुझे लगने लगा था कि एक तरह से शौकिया इतिहासविद् बन कर बहुत दिन तक काम नहीं किया जा सकता। और फिर शोध के दरम्यान मुझे महसूस हुआ कि प्राचीन इतिहास के संबंध में मैंने जो विचार विकसित किए थे उन्हें यदि किसी प्रकार प्रासंगिक बनाना था तो मेरे लिए जरूरी था कि मैं भारत के किसी विश्वविद्यालय में अध्यापन करूं। मैं इस दिशा में सोचने लगी और इसके लिए कई अन्य निजी कारण भी थे। इसी बीच मुझे नए स्थापित कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से कार्य करने का निमंत्रण मिला। और मैं सन् 1961 में लंदन से कुरुक्षेत्र आ गई। पर कुरुक्षेत्र ही क्यों? दरअसल मैंने स्वयं को शिक्षा के क्षेत्र में अगुआ के रूप में देखा था। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में प्राचीन भारत के इतिहास का एक प्रभाग खुलने वाला था। पाठ्यक्रम और शिक्षा-विधि की योजना बनाने की जिम्मेदारी मेरी थी। मुझे तो यह एकदम अविश्वसनीय लगा। पहली ही नौकरी में यह सब! विश्वास ही नहीं हो रहा था। आपने देखा, मैं किस प्रकार सही ही खुद को अपने क्षेत्र में अग्रणी मानती थी! यदि इंसान स्वयं पर केंद्रित हो जाता है तो वह दुस्साहसी बन जाता है। पर इसके विपरीत, एकदम विषम परिस्थिति मेरे सामने खड़ी थी—शिक्षक विहीन मेरे विभाग में न तो छात्र थे और न ही पुस्तकालय। इसलिए मैं अध्यापन कार्य नहीं शुरू करा पाई। उस मुकाम पर एक विभाग की स्थापना और उसमें अध्यापन संबंधी मेरे विचार और विश्वविद्यालय की योजना में जमीन आसमान का फर्क था। आगे चलकर निस्संदेह यह एक बहुत ही सम्मानित विश्वविद्यालय हो गया। पर उस समय तो मैं सचमुच एक ऊहापोह में पड़ी थी। वहां करने के लिए कुछ नहीं था। भारत आने से पूर्व मैंने पेंगुइन प्रकाशन से एक करार किया था कि मैं 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया' का प्रथम खंड लिखूंगी। मैं

बेचैन थी क्योंकि इसके लिए मुझे बहुत पढ़ना था—पर पुस्तकालय कहां था! इसलिए डेढ़ वर्ष बाद मैंने निर्णय किया कि अब और नहीं। सो मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की छात्रवृत्ति के लिए आवेदन कर दिया और दिल्ली आ गई। पुनः एक वर्ष बाद दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर पद के लिए विज्ञापन दिया गया और मेरी नियुक्ति हो गई।

उन दिनों महिला शिक्षाविद् होना, पुरुषों की तुलना में, बहुत भिन्न बात थी। मैं यह न सिर्फ महसूस करती, बल्कि मुझे यह जताया जाता। मेरे सहकर्मी! कुछ तो इस पर भड़क गए कि एक महिला को अध्यापक का पद मिल गया। वे छात्र-छात्राओं से इस बात को लेकर मजाक करते कि एक सेनाधिकारी की बेटी होने के कारण मैं भला प्राचीन इतिहास कैसे समझ पाती! इस परिस्थिति में जैसा कि आम तौर पर महिलाओं के साथ होता है, मैं भी यह धारणा बना बैठी कि यदि मुझे अच्छी छवि बनानी है तो मुझे अपने पुरुष सहकर्मियों की तुलना में दोगुना अच्छा साबित होना पड़ेगा। सौभाग्य से यह इतना कठिन कार्य नहीं था। लेकिन मैं यह जरूर कहूंगी कि कुछ ऐसे सहकर्मी भी थे जो परिवर्तन के पक्षधर थे और उन्हें अपने विभाग में एक सहकर्मी महिला की उपस्थिति नहीं खलती। फिर भी मैं सदैव सावधान रहती कि मैं अपने पेशे में एक महिला थी। लोगों ने बार-बार इस पर टिप्पणी कर मुझे यह जताया भी। आज महिलाओं की अनदेखी बहुत कम हो गई है, हालांकि स्थिति फिर भी संतोषप्रद नहीं है। लोग लैंगिक असमानता की समस्याओं से कहीं अधिक अवगत हो गए हैं क्योंकि उन्हें तूल दिया गया है। पर मैंने कभी भी इस पर गौर नहीं किया है कि मैंने लोगों के सामने एक प्रतिमान दिया है।

सन् 1970 में मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय चली गई। वे शुरुआत के दिन थे। दरअसल दिल्ली विश्वविद्यालय में कोई खास परिवर्तन मैं नहीं ला सकी—प्रायः मेरा प्रयास अधूरा था—और इस दृष्टिकोण से जे. एन. यू. आकर्षक था क्योंकि वहां सब कुछ नया था। मैं समझती हूं कि अगुआ बनने की मेरी प्रवृत्ति पुनः जागृत हो गई थी। मैं यह समझ गई कि अंतर-विषयी अध्ययन और अध्यापन के लिए एक गहरी रुचि वहां थी और पारंपरिक विचारों को लोग नए नजरिये से देखना चाहते थे। और हम कुछ नया करने की स्थिति में थे। हमें जो सार-संक्षेप में कहा गया था वह यह कि इतिहास के अन्य स्थापित विभागों से पाठ्यक्रम की अनावश्यक नकल न की जाए। इसलिए हमने भिन्न पाठ्यक्रम बनाने का यत्न किया। पाठ्यक्रमों को सुचारु बनाने के लिए उन्हें सेमेस्टरों में विभाजित कर उनके नियमित शिक्षण की व्यवस्था की गई। पहले तो हमारी पाठ्य व्यवस्था

की बहुत निंदा हुई पर सौभाग्यवश हमने उसे अक्षुण्ण रखा। दस वर्षों बाद कई विश्वविद्यालयों, एन ई एच यू, शिलांग; हैदराबाद और यहां तक की दिल्ली विश्वविद्यालय ने भी धीरे-धीरे हमारे कुछ पाठ्यक्रमों को अपनाया। हमारे लिए यह बहुत ही सुकून की बात थी।

लेकिन अध्ययन कार्य कठिन हो गया था। छात्रों की संख्या कम थी। उन्हें विषय विशेष पर गहन अध्ययन करना होता; शिक्षकीय लेख लिखने होते और छोटी-छोटी बैठकों में उस विषय के शिक्षक के समक्ष उस पर चर्चा करनी होती। विश्वविद्यालय के अंदर ही मूल्यांकन हेतु लेखों का लेखा-जोखा किया जाता। इसलिए छात्र-छात्राओं के साथ कार्य करने की जो प्रतिबद्धता यहां थी वह मैं नहीं समझती कि भारत के किसी अन्य विश्वविद्यालय में थी। एक और अजीब बात थी कि उस अवधि में ही, अर्थात सत्तर और अस्सी के दशकों में, मैंने पहले की अपेक्षा अधिक सृजनशील होकर रचना की। छात्र-छात्राओं के साथ गहन विचार-विमर्श, और मेरे अपने शोध एक-दूसरे के पूरक बनते रहे। यहां नए विचारों को कसौटी पर रखने से पूर्व उन्हें स्पष्ट बनाना जरूरी होता।

सत्तर का दशक घोर राजनीतिक उथल-पुथल का था। सन् 1975-77 का समय श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा लगाए गए आपातकाल के कारण और महत्त्वपूर्ण हो गया था। जे. एन. यू. में हममें से कई ने विरोध जताया। उसके बाद मोरारजी देसाई सरकार सत्ता में आई। मोरारजी देसाई की सरकार ने राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद से प्रकाशित इतिहास की पुस्तकों को प्रतिबंधित करने का आदेश देकर तो मुझे चौंका ही दिया। मैंने कक्षा छह एवं सात के लिए प्राचीन और मध्य भारत का इतिहास लिखा था और वे सन् 1966-67 से ही पाठ्यक्रम में शामिल थे। यह अचरज की बात इसलिए थी क्योंकि आपातकाल खत्म करने का तात्पर्य था अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता। बाद में हमें पता चला कि मोरारजी सरकार में यह नानाजी देशमुख का योगदान था और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से पहली बार मेरा वास्ता पड़ा था।

अब लोगों को हैरत नहीं होती क्योंकि सब जानते हैं कि इन पुस्तकों पर बार-बार होने वाले आक्रमणों के पीछे कौन हैं! उस समय हमने इस सिद्धांत पर इसका विरोध करने का निर्णय लिया कि कोई प्रधानमंत्री या शिक्षामंत्री अपनी उस हैसियत से इतिहास की पाठ्य पुस्तक की सामग्रियां निर्धारित नहीं कर सकता। यह इतिहासविदों के एकल अधिकार में होना चाहिए। इसलिए निर्णय हुआ कि यदि पुस्तकों की समीक्षा के लिए सरकार इतिहासविदों की एक समिति बनाए तो हम उसका निर्णय मानेंगे। आगे चलकर जिस समिति का गठन किया गया

उसने उक्त पुस्तकों का अनुमोदन कर दिया। तीन वर्ष तक इस मुद्दे पर आम बहस चलती रही। लोग इस उम्मीद में थे कि यह विचार-विमर्श जनता को इतिहास की व्याख्या के महत्त्व से अवगत करवाएगा।

एक मायने में यह बहस सत्तर के दशक के एक अन्य पहलू का द्योतक थी—भारतीय समाज में देखा-देखी आधुनिकता आ गई थी। एक युवा महिला के रूप में मैं गर्वोन्नत महसूस करती कि एक महिला ही मेरे राष्ट्र की प्रधानमंत्री थी। यह बात दीगर थी कि मैं उसकी राजनीति की पक्षधर नहीं थी। हमने सोचा कि साठ के दशक में एक नए भारत का उदय हुआ था और अब आए इन परिवर्तनों का असर सर्वव्यापी होगा। हमारे सपनों और दृष्टिकोण में एक ऐसा भारत बसा था जिसमें प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता और नागरिकों में समानता परिलक्षित हो। बेशक हमारे सपने साकार हो रहे होंगे परंतु हम जिस तथ्य को नजरअंदाज कर रहे थे वह यह कि सारा परिवर्तन सतही था। प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता और नागरिकों के लिए समान अधिकार हेतु अनिवार्य तत्त्वों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था। शिक्षा को नजरअंदाज किया गया था। यही हाल जन-कल्याण और स्वास्थ्य का था। न्याय व्यवस्था और मानवाधिकार का मुद्दा तो जन-जन की पहुंच से परे था। ये एक मायने में वर्तमान समस्या की जड़ें थीं।

जे. एन. यू. में बीस वर्ष मेरे लिए सकारात्मक अनुभव के रहे। मैं छात्र-छात्राओं के निकट संपर्क में आई। आज वे अन्य स्थानों पर शिक्षण के क्षेत्र में लाभदायक सिद्ध हो रहे हैं या फिर अन्य काम कर रहे हैं। मैं देश के विभिन्न भागों से आए युवा छात्र-छात्राओं से मिल पाई जो सचमुच आंख खोलने वाला अनुभव रहा। भारतीय इतिहास के अध्ययन-अध्यापन को जो दिशा देने में हम सक्षम रहे थे वह अपने-आप में एक चुनौती थी। यद्यपि इस काम में सिर्फ हम नहीं थे पर एक प्रकार की समालोचनात्मक समीक्षा जो हमने की वह निस्संदेह प्रभावी और विचारोत्तेजक थी। मेरी रुचि इतिहास लेखन के सवाल पर और ऐतिहासिक व्याख्याओं की छान-बीन के मुद्दे पर केंद्रित रही। प्राचीन इतिहास के विविध पहलुओं का एक समालोचनात्मक अन्वेषण करने का प्रयास भी मैंने किया जिसके साक्ष्य 'कल्चरल पास्ट्स' (सांस्कृतिक अतीत) नामक पुस्तक में संकलित लेखों में हैं। ये ऐसे पहलू हैं जो इतिहासविदों को उन लोगों से भिन्न करते हैं जो आज भी यह समझते हैं कि इतिहास सूचनाओं की गाथा है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती है।

मुझे अपने छात्र-छात्राओं की कमी बहुत खलती है। वे दिन कितने सुहावने थे जब नई पीढ़ी के साथ मेरा संपर्क होता। मैं समझने की कोशिश करती कि

अतीत के प्रति उनका नजरिया क्या है या फिर वे मुझे क्या कहने को उद्यत हैं। मुझे यह सब बहुत उत्तेजित करता। सेवामुक्त होने के बाद ही मैं कई निजी कार्य कर पाई। मैंने सेवा-विस्तार के बारे में सोचा भी नहीं क्योंकि मुझे लगा कि मैं वह सब करूंगी जो मैं करना चाहती थी पर कर नहीं पाई—संगीत सुनना, कविता पढ़ना और कई अन्य कार्य, शायद चाक पर बर्तन बनाना भी! वस्तुतः मैं आज भी वह सब नहीं कर रही हूं क्योंकि मैं शोध और लेखन में एकदम तल्लीन हूं। यत्र-तत्र व्याख्यान देती हूं—खासकर भारत के दूर-दराज के इलाकों में ताकि खुद भी कुछ सीख सकूं।

हाल की मेरी परियोजनाओं के अंतर्गत 'पेंगुइन हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के प्रथम खंड का पुनर्लेखन हो रहा है। मैं जब तीस की थी तब इसे लिखा था और इसका संशोधन कभी नहीं हुआ। मैंने सोचा कि इसे सिर्फ नवीकृत कर दूंगी पर शीघ्र ही मुझे लगा कि कुछ साक्ष्यों के अतिरिक्त मेरी अपनी व्याख्या भी बहुत परिवर्तित हो गई थी। इस प्रकार मैंने तो बल्कि एक नई पुस्तक ही लिख दी। अगला कार्य जो मैं पूरा करना चाहती हूं वह एक लघु शोध है जो सोमनाथ मंदिर पर महमूद गजनी के आक्रमण के बाद की घटनाओं पर केंद्रित है। यह कई मायने में इतिहास विधि पर शोध एवं अभ्यास है। इसमें स्रोतों को आमने-सामने रखकर एक 'राशोमन सदृश कहानी' बनाया गया है। सदियों से किसी घटना के गिर्द जमती सोच और दृष्टिकोण की परतों को खुरच कर साफ करने का प्रयास किया गया है। और फिर आखिरी सवाल यह है कि अतीत के बारे में किस प्रकार स्मृतियों का ताना-बाना बुन जाता है। उक्त कार्य के बाद मैं अपने एक पुराने पसंदीदा काम में डूब जाना चाहती हूं जो रह-रह कर करती आई हूं। वह है आरंभिक भारत में ऐतिहासिक चेतना का अध्ययन। यह अंशतः उस 'पूर्वी सिद्धांत' को नकारता है जिसके अनुसार भारतीय सभ्यता में न तो इतिहास की समझ थी और न ही लोगों ने इतिहास जाना। अंशतः इसका उद्देश्य यह समझना है कि किस प्रकार अतीत को आरंभिक लेखन में संकलित किया गया और वह किस तरह परिलक्षित होता है। पुनः यह समझना भी इसका उद्देश्य था कि परिकल्पनाओं और लोगों को वैध ठहराने के लिए किस प्रकार आरंभिक लेखन का उपयोग हुआ।

आज इतिहास परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। इसके प्रति भारत-विद्या (इंडोलॉजी) से सामान्य विज्ञान में परिणत होता दृष्टिकोण पहले भी देखा गया था। अब अधिक-से-अधिक लोग इसे मान रहे हैं। पहले ये लोग ही प्राचीन इतिहास को भारत-विद्या का एक अंग मानते थे। पर इस प्रभाव के प्रति कभी-कभी प्रतिक्रिया मुखर होती है क्योंकि इसमें इतिहास को देखने के नजरिये नए-नए होते हैं। मैं

सोचती हूं कि ये परिवर्तन दो स्तरों पर प्रकट होंगे। यदि वर्तमान सरकार सत्ता में बनी रहती है तो स्कूलों का मौजूदा पाठ्यक्रम मिट जाएगा। उसकी जगह वैसे विषयों को पढ़ाया जाएगा जो बच्चों को सोचने की शक्ति नहीं देंगे। वस्तुतः वर्तमान सरकार सोचने वाले लोगों से डरती है। भारतीयों की एक ऐसी पीढ़ी उभरेगी जो न सिर्फ इतिहास बल्कि समाज विज्ञानों को भी जिज्ञासा शांत करने का प्रभावी साधन नहीं मानेगी। मैं बावजूद इसके आश्वस्त हूं कि स्वयं को स्वतंत्र इतिहासकार, समाज विज्ञानी और वैज्ञानिक के रूप में स्थापित करने वाले उत्सुक मुट्ठी भर लोगों को सरकारी दबाव का विरोध करना चाहिए और अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता बनाए रखनी चाहिए। यह तो हर ज्ञान-गंगा में लिखा है। तब तो सवाल सिर्फ व्यवहार्यता का है कि किस सीमा तक यह ज्ञान और इसके साधक दावा कर सकते हैं। इसलिए मैं यह नहीं कहूंगी कि मैं घोर निराशावादी हूं। मैं यह भी मानती हूं कि क्षेत्र में विशिष्टता का अपना अंश होगा। लेकिन मोटे तौर पर विगत आधी सदी में हमने जो स्वयं को अपने अतीत की ओर पुनः उन्मुख किया है, उससे लाभान्वित रहे हैं, वह खोने का डर है यदि वर्तमान नीति चलती रही।

अनसुनी कर देने वाली सरकार के विरुद्ध खड़ा होना बहुत कठिन है। लेकिन सरकारी दृष्टिकोण के अतिरिक्त लोगों के दृष्टिकोणों का निरंतर सामने रहना जरूरी है। यह सदैव ध्यान में रहना चाहिए कि लोग एक मानव-विज्ञान की तरह, इतिहास लिखते, उस पर चर्चा करते और, जहां तक संभव हो, पढ़ाते हैं। हमारा समाज, जो निस्संदेह संस्कृति की विविधता रखता है, इस इतिहास के प्रति हमारे दृष्टिकोणों को जीवित रखता है। कई ऐसे पक्ष हैं जो चाहेंगे कि आगे लिखे जाने वाले इतिहास में उनकी भूमिका परिलक्षित हो। इन दिनों लिंग-भेद आधारित इतिहास, दलित इतिहास और पर्यावरण केंद्रित इतिहास पर शोध हो रहे हैं। ये अब तक अनदेखी के शिकार रहे हैं। इन विषयों को इतिहास के अनुशासन में एकीकृत करने के लिए यह सुनिश्चित करना होगा कि ये इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में परिलक्षित हों। मैं इस बात को लेकर आश्वस्त हूं कि इतिहास बचा रहेगा क्योंकि अपने-आपको और अपने अतीत को समझने के लिए, सामाजिक या व्यक्तिगत रूप से सही, यह नितांत आवश्यक है। लोगों की जीवनी जिस प्रकार बदस्तूर कही-सुनी जाती रही है उसी प्रकार इतिहास भी कहा-सुना जाएगा। उसका अस्तित्व बचा रहेगा।

(कुमकुम राय को दिए गए साक्षात्कार के आधार पर)

इला आर. भट्ट (जन्म : 1933) 'स्व-रोजगार महिला संगठन' की पर्याय बन गई हैं। मूलतः अहमदाबाद में कार्यरत निर्धनतम महिलाओं का यह संगठन उनके द्वारा ही सन् 1972 में स्थापित किया गया। उन्होंने वस्त्रोद्योग श्रमिक संघ (अहमदाबाद) में एक सक्रिय सदस्या के रूप में अपना जीवन आरंभ किया। अपने काम के क्रम में वह कई महत्त्वपूर्ण संगठनों एवं संस्थानों में महत्त्वपूर्ण पदों पर रहीं। इनमें प्रमुख हैं : इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट (अहमदाबाद); फ्रेंड्स ऑफ वीमेंस वर्ल्ड बैंकिंग, इंडिया; राष्ट्रीय श्रम आयोग; एशिया सोसाइटी, न्यूयॉर्क; इंटरनेशनल कॉलिशन ऑफ वीमेन एंड क्रेडिट, न्यूयॉर्क; वर्ल्ड कमीशन ऑन अर्बन फ्यूचर, बर्लिन; स्ट्रीट नैट : इंटरनेशनल एलायंश ऑफ स्ट्रीट वेंडर्स; डब्लू आइ ई जी ओ (वीमेन इन इन्फॉर्मल एंप्लायमेंट : ग्लोबलाइजिंग ऑर्गनाइजिंग), बॉस्टन; और वीमेंस वर्ल्ड बैंकिंग, न्यूयॉर्क । वह 'सेवा' (एस ई डब्लू ए) की संस्थापक महासचिव और 'सेवा' सहकारी बैंक की संस्थापक अध्यक्षा हैं।

इला भट्ट ने कामकाजी महिलाओं पर अंग्रेजी और गुजराती में बहुत लिखा है। उनके सम्मानों की सूची लंबी और विशिष्ट है। सन् 1977 में सामुदायिक नेतृत्व के लिए उन्हें रामन मैग्सेसे पुरस्कार; सन् 1982 में राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सुसन बी. एन्थोनी पुरस्कार; सन् 1984 में मानवीय परिवेश परिवर्तन के लिए 'राइट लाइवलीहुड' पुरस्कार; सन् 1994 में केयर मानवतावादी पुरस्कार; और सन् 2000 में एशियाई और अमेरिकियों के बीच सेतु निर्माण के लिए एशिया सोसाइटी पुरस्कार मिला। पर यह सूची यहीं खत्म नहीं होती। उन्हें सन् 1985 में पद्मश्री; सन् 1986 में पद्मभूषण; सन् 1996 में विश्व गुर्जरी; और सन् 1999 में राष्ट्रीय एकीकरण के लिए यशवंतराव चौहान पुरस्कार मिले। उन्हें कम-से-कम छह विश्वविद्यालयों से मानद उपाधियां दी गईं जिनमें एस एन डी टी विश्वविद्यालय, मुंबई (1991); हैवरफोर्ड कॉलेज, अमेरिका (1993); सेंट फ्रांसिस जेवियर विश्वविद्यालय, कनाडा (1999); तथा हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, अमेरिका (2001) शामिल हैं।

भारत के विशिष्ट नागरिकों में गिनी जाने वाली डा. भट्ट भारत के योजना आयोग एवं राज्य सभा की सदस्या भी रही हैं।

5

परिवर्तन के लिए संगठन

इला आर. भट्ट

कोई अपनी जिंदगी की कहानी कैसे कहे? सत्तर वर्षों में फैली जिंदगी, जिसे किसी तप की भांति बिताया गया हो! मैं क्या-क्या चुन कर सुनाऊं? हां, मुझे कम-से-कम इतना पता है कि कहां से शुरू करूं : अपने जन्म से।

मेरा जन्म 7 सितंबर, सन् 1933 को नागर ब्राह्मण परिवार में अहमदाबाद में हुआ था। मेरी मां वनलीला व्यास डा. मणिप्रसाद की बेटी थी। मेरे नाना गांधीजी के आह्वान पर स्वाधीनता आंदोलन में कूद पड़े थे। उन्होंने दांडी यात्रा में भाग लिया था। इसे नमक सत्याग्रह के नाम से भी जानते हैं। वे खाने के नमक पर कर लगाने वाली ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उठ खड़े हुए पहले जत्थे में शामिल थे। मेरे दादा एक वकील थे—सरकारी वकील। उनमें राष्ट्रवाद की भावना नहीं थी। लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से दोनों परिवारों में बहुत समानता थी और वनलीला और सुमंत भट्ट का विवाह संपन्न हो गया। परिस्थिति कुछ ऐसी बनी कि मेरी मां के परिवार का प्रभाव मुझ पर अधिक रहा। और मैंने तदनुसार अपना पेशा चुन लिया।

मैं पुराने सूरत में एक बड़े मकान में पली-बढ़ी। हमारा घर कांग्रेस पार्टी के प्रांतीय अध्यक्ष के घर के बहुत समीप था। जैसा कि सर्वविदित है यह पार्टी ब्रिटिश साम्राज्य की गुलामी की बेड़ियों से देश को आजाद करवाने के लिए संघर्षरत प्रसिद्ध राजनीतिक पार्टी थी। हमारे घर के सामने, सड़क पार कर, एक छापाखाना था जो प्रत्यक्ष रूप से बच्चों की किताबें छापता। मैं उसे अंदर से देखने को लालायित रहती। पर वहां जाकर पढ़ने के लिए पुस्तकें लूं या यह देखूं कि वह क्या छाप रहे हैं, इसकी मनाही थी। बाद में मुझे पता चला कि वहां उन लोगों के पर्चे और पत्र-पत्रिकाएं छपते जो ब्रिटिश शासन का विरोध कर रहे थे और अधिकांश समय राष्ट्र द्रोह के बिना पर गिरफ्तारी के डर से भूमिगत रहते। भारतीय स्वाधीनता के नाम पर हो रही ढेरों गतिविधियां हम अपने पड़ोस में देखते। ब्रिटिश सरकार

द्वारा उनका दमन भी देखते।

विवाह के कारण मेरी मां को कम उम्र में ही पढ़ाई छोड़नी पड़ी। वह इससे असंतुष्ट थी और स्वयं पढ़ने के हर अवसर का लाभ उठाती। उसने यह भी निर्णय लिया कि वह अपनी बेटियों को विश्वविद्यालय भेजेगी। मेरी मां कविताएं और गज़लें लिखती। सायंकालीन सार्वजनिक बैठकों में अकसर उनका पाठ करती। मेरे पिता और उनके भाई वकील थे। हमारे दो परिवार गर्मी की लंबी छुट्टियां (जब कचहरी और विद्यालय बंद होते) समुद्र-तटों पर, पहाड़ियों में, या जंगलों में घूमकर बिताते। मेरे पिता हमारे साथ लंबी शाम व्यतीत करते—हमें अपनी प्रिय कविताओं को कंठस्थ करने के लिए प्रेरित करते। मैं सोचती हूं कि वे अंग्रेजी साहित्य के प्रति एक लगाव हममें उत्पन्न करना चाहते थे। साथ ही उनकी दिली इच्छा थी कि हमें नैतिक शिक्षा दें जो जीवनपर्यंत हमारे काम आए। हमारे अभिभावक इस पर बहुत तत्पर रहते कि हम अपने विद्यालय में अच्छा करें। उनकी इच्छा पूरी करने के लिए मुझमें जो उत्साह होता उसका पता इस बात से चलता है कि ग्रीष्मावकाश शुरू होते ही हम अगले सत्र के लिए पाठ्य पुस्तकें खरीद लेते और विद्यालय का नया सत्र शुरू होने से पूर्व ही मैं उन्हें पढ़ लिया करती।

भारत 15 अगस्त सन् 1947 को स्वाधीन हुआ। मैं 14 वर्ष की थी और हाल में ही हाई स्कूल की परीक्षा पास की थी। मुझे कॉलेज में प्रवेश मिला। एक नई साईकिल मिली और मुझे अपनी स्वतंत्रता के आयाम दिखने लगे। मुझे खासकर अंग्रेजी और गुजराती कविताओं की कक्षाओं में बहुत आनंद आता। और औपचारिक शिक्षा के साथ-साथ मैंने लकड़ी के कोयले से चित्रकारी, फोटोग्राफी और संगीत भी सीखा।

मैं जब कॉलेज की द्वितीय वर्ष में थी तो स्वतंत्र भारत की पहली जनगणना होने वाली थी। युवा कांग्रेस के सदस्यों को कहा गया कि वे चुने गए क्षेत्रों में जाकर जनगणना में मदद करें। उसी समय पहली बार मैं रमेश भट्ट से मिली। वह सजीला और ऊर्जावान था—एक नेता। हममें से कई देखते-देखते उसके अनुयायी हो गए। उसके साथ साइकिल से सूरत की झोपड़पट्टियों में जाते जहां हममें से प्रत्येक को 65 घरों के आंकड़े संग्रह करने होते थे। मैं तो वहां के निवासियों के घर और जीवन स्तर को देखकर हैरान थी। जनगणना हेतु किए गए सर्वेक्षण के दौरान गरीबी से मेरा पहली बार वास्ता पड़ा। उस वक्त मैं यह नहीं जानती लेकिन अब सिंहावलोकन के क्रम में मुझे लगता है कि यह मेरे जीवन के लिए नया मोड़ था।

मेरे माता-पिता को मेरा झोपड़पट्टियों में घूमना और कामगार वर्ग के परिवारों से मिलना अच्छा नहीं लगता। लेकिन वे नहीं समझ पाते कि मुझ पर किस प्रकार अंकुश लगाया जाए। साथ-साथ काम करने के क्रम में रमेश और मैं एक-दूसरे को पसंद करने लगे, और हमने विवाह करने का निर्णय लिया। यह मेरे माता-पिता के लिए एक आघात था। वे इस बिना पर इसे बेमेल कहते कि रमेश एक गरीब परिवार का था—कपड़े की फैक्ट्री में काम करने वाले का लड़का। एक तो मेरा हमेशा गरीबों की समस्या पर चर्चा करना मेरे मां-बाप को नहीं भाता, और अब एक ऐसे लड़के से शादी का निर्णय जो कतई मेरी आर्थिक बराबरी का न था! मेरे मां-बाप को यह शादी बिल्कुल रास न आई। मेरे पिता ने पूछा, "तुम्हें गरीबी के बारे में क्या पता है?" मैंने भी सोचा मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। स्वयं पर एक प्रयोग करने की गरज से मैंने तत्काल सूरत के निकट एक गांव में साठ रुपये प्रतिमाह किराए पर एक साल तक रहने की ठान ली। मैं मन-ही-मन सोचती कि मैं खुद को यह साबित करने का प्रयास कर रही थी कि मैं बहुत सादगी के साथ रह सकती थी।

सन् 1955 में कानून की डिग्री प्राप्त करने के बाद मैंने वस्त्रोद्योग श्रमिक संघ (टी एल ए), अहमदाबाद में नौकरी के लिए आवेदन किया। इसकी स्थापना अनसूयाबेन साराभाई, शंकरलाल बैंकर और महात्मा गांधी ने मिलकर की थी। इस संस्था की पहले से ही विचार-विमर्श के माध्यम से विवादों को निपटाने के लिए ख्याति थी। कार्यारंभ करते वक्त मैं झिझकी और घबराई थी, पर मैंने श्रमिकों की ओर से न्यायालय में कुछ मुकदमे पेश किए। आगे चलकर, टी एल ए ने महिला शाखा खोली और मुझे उसका प्रभारी बनाया गया था। सबसे पहले मैं झोपड़पट्टियों में गई जहां औरतें रहती थीं। मैं सभी जगह अपने लैम्ब्रेटा स्कूटर पर जाती। उन दिनों एक महिला का स्कूटर चलाना अस्वाभाविक था इसलिए ढेरों लोग मुझे देखते। जाहिर है यह आकर्षण अनायास था। इस नौकरी में मुझे घर-घर जाकर औरतों से मिलने और उनकी खास समस्याओं को समझने का अवसर मिला।

सन् 1956 में रमेश भट्ट को अर्थशास्त्र और कानून दोनों में स्नातकोत्तर की डिग्री मिली। मेरे मां-बाप प्रभावित हो गए और उन्होंने मेरी पसंद को मान लिया। हमने 20 अप्रैल, सन् 1956 में शादी की। यद्यपि मैंने लाल पट्टी वाली खादी की एक सफेद साड़ी और आभूषण के नाम पर सिर्फ पारंपरिक हाथी दांत की चूड़ियों को पहनने की जिद्द की थी पर मेरे मां-बाप ने भव्य समारोह का आयोजन कर दिया था। विवाह के बाद, दो वर्षों तक हम गुजरात विद्यापीठ के

अहाते में रहे। वहां रमेश पढ़ाने का काम करता था। हमारा जीवन सादगीपूर्ण था—गांधीवादी। मैं जनवरी, सन् 1958 में अपनी बच्ची अमीमयी के जन्म से दो माह पूर्व तक टी एल ए में काम करती रही। मिहिर, मेरे बेटे, का जन्म नवंबर, सन् 1959 में हुआ। हम दोनों पति-पत्नी अमीमयी और मिहिर के बचपन का आनंद लेते। मिल जुलकर उनकी देखभाल और घर का काम करते।

सन् 1960 में बंबई प्रेसीडेंसी का विभाजन गुजरात और महाराष्ट्र में हो गया। परिणामतः सरकारी नौकरियां अधिक संख्या में उपलब्ध हो गईं। मैंने सहायक रोजगार अधिकारी के पद के लिए आवेदन किया और मुझे चुन लिया गया था। तीन लोगों का मेरा स्टाफ था और मेरा दायित्व था गुजरात विश्वविद्यालय में एक रोजगार मार्गदर्शन केंद्र की स्थापना करना। मैं नए स्नातकों के लिए नौकरियां ढूंढ़ने का यत्न करती और मुझे लगता है मैं सफल थी। तीन वर्षों बाद मेरा स्थानांतरण मुख्य कार्यालय में कर दिया गया और व्यवसाय सूचना अधिकारी का पद दिया गया। मुझे जांच-परख कर नए-नए पेशों की परिभाषा देनी थी। मैं लोगों को काम करते हुए गौर से देखती और उनकी कार्यप्रणाली की बारीकियों को लिखती। यद्यपि इसमें मुझे घूमने का और वास्तविक दुनिया में जाने का अवसर मिलता पर अफसरशाही मुझे कुछ ज्यादा हावी लगी। इसलिए मैंने अपनी नौकरी छोड़ दी और जुलाई, सन् 1968 में अहमदाबाद में होने वाली भारतीय राष्ट्रीय मजदूर संगठन की बैठक के लिए टी एल ए को तैयार करने लगी।

दो बड़ी घटनाओं ने मुझे उस पेशे की ओर उद्यत किया जो आगे चलकर मैंने अपनाया। पहली घटना थी सन् 1968 में दो महत्त्वपूर्ण कपड़ा मिलों की तालाबंदी। सड़क पर आ गए मजदूर विरोध प्रदर्शित कर रहे थे। उनकी पत्नियां माल लादने, ढोने से लेकर दर्जी और नौकरानी तक का काम करतीं। मैं समझ गई कि असंगठित क्षेत्र में काम की कोई सुरक्षा नहीं थी। बीमा नहीं था। यहां तक कि किसी भी बही में 'मजदूर' नामक कोई प्रविष्टि ही नहीं थी। जहां तक सरकारी नजरिये का सवाल है सभी मजदूर नामरहित, चेहराहीन थे। औरतें नाना प्रकार के काम कर अपने परिवार को खिलातीं।

दूसरी घटना थी अहमदाबाद में सांप्रदायिक दंगा जो सन् 1969 में एक गंभीर रूप ले चुका था : हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तनाव था और दंगे हो जाते थे। उन दिनों टी एल ए के सदस्यों को शांति बहाली के लिए बाहर जाने की इजाजत थी। इसलिए मैं कुछ अन्य लोगों के साथ प्रभावित क्षेत्रों में गई। एक रात तो हमने कर्फ्यू वाले क्षेत्रों में लहू-लुहान लाशों को देखा। मैंने उन्हें मिलिट्री के ट्रक में लादने में मदद की ताकि उन्हें सार्वजनिक शव-दाह केंद्रों

पर ले जाया जा सके। भयानक मृत्यु की घटनाओं के साथ मेरा पहली बार आमना-सामना हो रहा था। टी एल ए की जिम्मेदारियों को पूरा करते हुए मैं घायल महिलाओं को देखने अस्पतालों में भी गई। वहां ढेरों मुस्लिम महिलाएं थीं। मैं दंगे की शिकार महिलाओं की उनके खोए हुए सगे-संबंधियों को ढूंढ़ने में मदद करती। मैं अधिकांश समय उनके जीवन को पुनः जीने लायक बनाने में व्यतीत करती। कई परिवार बेघर हो गए थे। उनके पास काम नहीं था और वे दरिद्र हो गए थे।

अपने सर्वेक्षण कार्य के क्रम में मैंने गौर किया कि हजारों महिलाएं फटे-चीथड़े कपड़ों को पुनः उपयोगी बनाने, बीड़ी बनाने, कबाड़ चुनने, सिलाई, सब्जी ढुलाई और ठेले चलाने में लगी थीं। ऐसे कार्यों का कोई नाम न था और इसके लिए उन्हें बेगार ही मिलता। उन्हें सतत ऊंची दरों पर कर्ज लेना होता ताकि किसी तरह दिन काट सकें। दैनिक जीवन में औरतों द्वारा उठाए जाने वाले बोझों तले मैं स्वयं दबती महसूस कर रही थी। इसी बीच इजरायल के राष्ट्रीय श्रमिक संघ 'हिस्ताद्रत' ने मुझे एक प्रशिक्षण कार्य के लिए इजरायल आने का निमंत्रण दिया। मैंने वहां देखा कि श्रमिक संघ किस प्रकार सहकारिता की भांति भी कार्य कर सकते हैं। इजरायल में बैंक, स्वास्थ्य सेवा, यातायात और यहां तक कि वायुसेवा भी संघ के सदस्यों द्वारा उनकी सहकारिताओं के माध्यम से संचालित हो रहे थे। मैं यह सोच कर उत्तेजित हो जाती कि मैं भी उन महिलाओं को संगठित कर सकती हूं—उन्हें न सिर्फ किसी के विरुद्ध बल्कि उनकी अपनी भलाई के लिए भी संगठित कर सकती हूं। अपने अभियान के अगले चरण के लिए जो महत्त्वपूर्ण बल मुझे चाहिए था वह इस यात्रा से मिल गया।

संगठित करने का मेरा पहला प्रयास सफल रहा था—प्रायः श्रीगणेश करने का फल। मुझे पता चला कि सिर पर माल ढोने वाले मजदूरों की मजदूरी भीख की तरह मिलती, सो मैंने एक अखबार में इस पर लेख लिखा। व्यापारियों ने इसे एकदम से झुठला दिया। वे कथित मजदूरी का चौगुना देने का दावा कर रहे थे। साथ ही उनका कहना था कि वे उचित दर अखबारों में भी छपवा चुके थे। मैंने कार्डों पर उन दरों को छपवाया और प्रत्येक श्रमिक को एक कार्ड दे दिया। अब चूंकि ये दरें अखबार में छपी थीं, व्यापारी उससे पीछे नहीं हट सकते थे। इस प्रकार सिर पर माल ढुलाई की दर ऊंची हो गई।

एक अन्य वर्ग पुराने कपड़े बेचने वाली महिलाओं का था। मैंने उनके साथ एक बैठक की और वे तीन रुपए प्रति वर्ष का सदस्यता शुल्क देने के लिए सहर्ष तैयार हो गईं। यह शुरुआत थी 'सेवा' (सेल्फ इंप्लायड वीमेंस एसोसियेशन) अर्थात

'स्वाश्रयी महिला सेवा संघ' की। तरह-तरह की बाधाएं लांघनी पड़ी थीं, पर हमने 12 अप्रैल, सन् 1972 में एक श्रमिक संघ की तरह 'सेवा' का पंजीकरण करवाया। इसमें टी एल ए की मदद मिली। आरंभ में हमने आठ शहरी व्यवसायों का सर्वेक्षण किया। उनमें जांच-पड़ताल उस क्षेत्र के लोग ही करते। सर्वेक्षण के क्रम में नेता और संगठन करने वाले लोग स्वतः आते गए। मैंने सर्वेक्षण के आंकड़ों को लिखा और टी एल ए द्वारा इसका प्रकाशन हुआ। मूल समस्या सामने आ गई : श्रमिकों के पास न तो अपने औजार थे और न ही पूंजी पर कोई हक।

हमारा अपना बैंक हो—यह विचार हमारे एक कार्यकर्ता चंदाबेन (चंदा पापु) का था। यह कठिन था पर हमने महिला सेवा सहकारी बैंक लिमिटेड की स्थापना मई, सन् 1974 में की। हमने बैंक पासबुक बनाए। पहचान के लिए यह चित्र के साथ था क्योंकि कई महिलाएं निरक्षर थीं। परंतु उन्होंने अपने नाम का हस्ताक्षर सीखने की जिद्द की और इस प्रकार बैंकिंग ने साक्षरता को बढ़ावा दिया। चूंकि महिलाओं को बैंक जाने में असुविधा होती सो हमारे क्षेत्रीय कार्यकर्ता ही उनके काम की जगह पहुंच जाते। उनकी बचत का संग्रह करते और तदनुसार बही में आंकड़े दर्ज करते।

ऋण की स्वीकृति एवं वसूली के लिए कामकाजी-समूह को उत्तरदायी बनाना एक नई खोज थी। हमने एक न्यास बनाया जिसमें विभिन्न काम करने वाले सदस्यों का प्रतिनिधित्व था। मैं खुद भी शामिल थी। हमें महिलाओं का पूरा अता-पता होता इसलिए हम सामान्य बैंक से अधिक जोखिम ले सकते थे। आज हमारा बैंक अहमदाबाद के एक बहुमंजिले भवन में 'बैंक दे पेरिस' के समीप है, और हम अपनी महिला सदस्यों के साथ अच्छा व्यवसाय करते हैं। उनमें साक्षर एवं निरक्षर दोनों प्रकार की महिलाएं होती हैं।

सन् 1976 में हमने ग्रामीण क्षेत्रों में संगठन का काम शुरू किया। समस्याओं में विविधता थी और हमें यह सीखना पड़ा था कि किस प्रकार उनका समाधान किया, और करवाया जाए। हमने देखा कि सिर्फ खेतों में मजदूरी कर पैसा कमाने वाली महिलाएं कुशल श्रमिकों की तुलना में बदतर जीवन व्यतीत कर रही थीं। इसलिए हमने निर्णय लिया कि राष्ट्रीय डिजाइन संस्थान की मदद से उनके बुनने की कला को निखारा जाए। इसी प्रकार राष्ट्रीय डेयरी बोर्ड की सहायता से उनके दुग्ध उत्पादन संबंधी ज्ञान को उन्नत करने का निर्णय लिया गया। हमने एक ऐसी पूंजी बनाई जिसका उपयोग महिलाएं मवेशी खरीदने के लिए बारी-बारी से कर सकती थीं। सन् 1978 में मैं एक अध्ययन के लिए ससेक्स विश्वविद्यालय गई। वहां मैंने एक शोध पत्र पढ़ा जिसने अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन और अन्य

अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का ध्यान आकर्षित किया।

सन् 1977 में मुझे सामुदायिक नेतृत्व के लिए मैग्सेसे पुरस्कार मिला। यह 'सेवा' की गतिविधियों के लिए उत्प्रेरक साबित हुआ। पर दुर्भाग्यवश हम अपने मूल संगठन टी एल ए से दूर होते चले गए। कई ऐसे लोग थे जिन्हें 'सेवा' का इस तरह प्रसिद्ध होना नहीं भाता। लेकिन मेरा हौसला फिर भी बुलंद था। मैंने स्नातकोत्तर चिकित्सा संस्थान, गुजरात में अनुसूचित जाति/जन जाति के दो छात्रों के आरक्षण को लेकर दलितों के मुद्दे को तूल दिया। अधिकांश छात्र आरक्षण का विरोध कर रहे थे जबकि मैं जन-सामान्य के बीच इसका समर्थन करती रही। मीडिया में यह मुद्दा छा गया था। मध्यमवर्गीय परिवारों (हमारे पड़ोसियों) में घोर असंतोष व्याप्त था और एक बार तो हमारे घर पर पथराव भी हुआ। टी एल ए को लगा कि मैं अपनी सीमा से बाहर जा रही थी। अंत में, मुझे दो टूक शब्दों में टी एल ए के कार्यालय को छोड़ देने के लिए कहा गया और 'सेवा' को राष्ट्रीय श्रम संगठन से संबंध तोड़ना पड़ा। मैं तो इसे सहजता से कह रही हूं पर यह दिल तोड़ने वाला अनुभव था। हालांकि इस समस्या से निबटते हुए हम कुंदन की तरह तप कर निकले—बिल्कुल आधुनिक कलेवर में।

अस्सी के दशक में 'सेवा' की सदस्यता तेजी से बढ़ी—सन् 1981 में 6,000 से सन् 1984 में 23,000! हमने कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ा दी। बाहर से विशेषज्ञों को आमंत्रित किया ताकि प्रशासन आधुनिक और चुस्त-दुरुस्त हो। संघ की संरचना मजबूत बने। उन दिनों छह मुख्य उद्यम (और उनमें संलग्न लोग) थे जिनसे संघ बना था : वस्त्र एवं पोशाक; बीड़ी; सिर पर बोझा ढोने वाले और ठेले वाले; सफाई करने वाले; फेरी वाले और खेती में लगे मजदूर। उन्होंने अपने बीच से ही अपने-अपने नेता का चुनाव किया। सभी मुद्दों पर खुलकर विचार होता। महिलाएं जमकर अपने विचार रखतीं। एक मुद्दा प्रायः सबसे अधिक हंगामा वाला यह था कि क्या पुरुषों को भी 'सेवा' की सदस्यता दी जाए। मैं जब भी यह सवाल खड़ा करती महिलाएं इसे निर्विवाद खारिज कर देतीं। महिलाओं को लगता कि उनके अपने परिवार के पुरुषों की उपस्थिति उनकी गतिविधि में बाधक होती। इस प्रकार 'सेवा' की दृढ़ छवि आज भी एक महिला संगठन के रूप में बनी हुई है। यह एक ऐसी संस्था है जिसकी आवाज कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर सुनी जाती है।

मेरे कार्य का एक फल यह था कि यह दुनिया भर के जागरूक लोगों को गहरे तक प्रभावित करता। सन् 1984 में मानवीय परिवेश में परिवर्तन के लिए मुझे राइट लाइवलीहुड एवार्ड दिया गया। इसे वैकल्पिक नोबल पुरस्कार कहते

हैं। इसके बाद भारत सरकार ने सन् 1985 में मुझे पद्मश्री और सन् 1986 में पद्मभूषण से सम्मानित किया। फ्रांस और अमेरिका से भी सम्मान मिले। अहमदाबाद नगरपालिका से भी! इन पुरस्कारों से मेरे काम को जो पहचान मिली मैं उसके लिए पुरस्कारों की आभारी हूं। वैसे भी महिला श्रमिकों की निरंतर बढ़ती हुई पहचान से मैं प्रभावित थी। पर ये सम्मान अपने-आप में कभी भी मुझे उत्तेजित नहीं करते। हां, मैं इन्हें ग्रहण करते वक्त घबरा जरूर जाती। कभी-कभी मुझे ऐसा भी लगता कि मैं अपने सहकर्मियों से इन सम्मानों के कारण अलग-थलग पड़ गई हूं।

सन् 1987 में मुझे तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने राज्यसभा सदस्य बनने का निमंत्रण दिया। उसी वर्ष प्रधानमंत्री ने स्व-रोजगार में लगी महिलाओं के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की। मुझे उसकी अध्यक्षता की जिम्मेदारी दी गई। आयोग के कार्यों के सिलसिले में मुझे भारत के सभी राज्यों में जाना पड़ा। हम सरकारी अधिकारियों, स्वयंसेवी संगठनों एवं महिलाओं से मिले। यों तो गरीब महिलाओं की दुर्दशा और तंगी मेरे लिए नई बात नहीं थी, पर इस स्तर पर फैली हुई दुर्दशा! कानून और विधियों की उनकी आवश्यकताओं के प्रति ऐसी उदासीनता! ऊपर से कुर्सियों पर बैठे हुए लोगों द्वारा शोषण! ऐसे कटु सत्यों ने मुझे झकझोर दिया था। हमने अपनी रिपोर्ट 'श्रम शक्ति' सन् 1988 में प्रस्तुत की। ढेरों सुझाव दिए गए—आर्थिक उत्पादन पर महिलाओं का कम-से-कम आंशिक अधिकार और नियंत्रण हो; असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं के लिए एक केंद्रीय सामाजिक सुरक्षा निधि बनाई जाए। यहां परिकल्पना यह थी कि उक्त निधि मातृत्व से संबद्ध लाभ, स्वास्थ्य सेवाएं और बच्चों की देखभाल की व्यवस्था करेगी। ये सुझाव अगले दशक के लिए मेरी योजना में शामिल किए गए।

मैं सन् 1991 में अहमदाबाद वापस आ गई। 'सेवा' फल-फूल रही थी। न सिर्फ सदस्यों की संख्या बढ़ी थी बल्कि नए-नए कार्यक्रम बने थे। कई क्षेत्रों में उमंग भरा नेतृत्त्व भी था। एक कार्यक्रम था 'वीडियो सेवा'। इसकी शुरुआत 'सेवा' महिलाओं के वीडियो प्रशिक्षण से हुई थी। उन लोगों ने अपने जीवन की असाधारण घटनाओं की तस्वीरें ली थीं। महिलाओं की जीवन-गाथाओं को रिकार्ड किया गया था। घटनाओं एवं कार्य-दशाओं के वृत्तचित्र तैयार किए गए। वीडियो कैमरा उनके हाथ में एक सशक्त सामाजिक अस्त्र की भांति था। सेवा अकादेमी नामक एक संस्था की स्थापना की गई। यह नई संस्थाओं को 'सेवा' की गतिविधियों के बारे में शिक्षा देती। उन्हें सामूहिक सोच एवं गतिविधि की ताकतों के संबंध में जागृत करती।

घरेलू कामगारों के लिए अधिकारों की लड़ाई हमारे नाना प्रकार के संघर्षों में एक थी। किसी अंतर्राष्ट्रीय मंच पर इस मुद्दे पर विचार करना ही बहुत दुष्कर था। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने 20 जून, सन् 1996 को घरेलू कार्य पर कुछ नियम-कानून अपनाए। 'सेवा' के लिए तो यह सोलह वर्षों के अभियान का चरमोत्कर्ष था। इसे हमने "हवाबीबी से आइ एल ओ जेनेवा कन्वेंशन" का नाम दिया था। दरअसल हवाबीबी 'सेवा' के आरंभिक दिनों में एक बीड़ी बनाने वाली महिला थी। इसलिए इस घटना को मील का पत्थर भी माना गया। सामूहिक गतिविधि में हमारे विश्वास की जीत और मान्यता का प्रतीक!

महिला विश्व बैंक का विचार सन् 1975 में मैक्सिको में हुए महिला सम्मेलन में उठा। सन् 1979 में इसकी स्थापना हुई और जल्द ही यह एक प्रभावी विश्वव्यापी संगठन बन गया। यह संगठन एक मध्यस्थ के रूप में कार्य करता और गरीब महिलाओं के लिए ऋण सुनिश्चित करता। पूंजी तक पहुंच के साथ-साथ महिलाओं को व्यवसायों की दक्षता भी मुहैया करवाई गई। वे बाजार, सूचना-तकनीकी और अन्य सेवाओं का उपयोग करने में सक्षम हो गईं। मैं महिला विश्व बैंक की कार्यकारी समिति में शुरू से ही थी और सन् 1988 से 10 वर्षों तक इसके अध्यक्ष पद पर रही। 'सेवा' के बाद महिला विश्व बैंक ही ऐसा संगठन है जिसके साथ मैंने अपनी पहचान बनाई और निकटता अनुभव किया।

विश्वनाथ प्रताप सिंह जब प्रधानमंत्री बने तो मुझे योजना आयोग में आमंत्रित किया गया और रोजगार एवं श्रम का दायित्व सौंपा गया। मैं अकादेमी पृष्ठभूमि वाली अर्थशास्त्री नहीं थी इसलिए अपने सहकर्मियों को यह समझाना और स्वीकार करवाना मेरा पहला काम था कि दक्षता और उत्पादन-क्षमता पारंपरिक अर्थव्यवस्था के बाहर भी पाई जा सकती है। पर सरकार अधिक दिनों तक नहीं चली और इसलिए हमारी योजनाओं को फलीभूत होते नहीं देख सकी। अपने सहकर्मियों को यह मनवाने के लिए मैं संघर्षरत रही कि सेवाओं का समायोजन जरूरी था पर मेरी बातों को योजना में अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। मैंने बाद में देखा कि यूनीसेफ ने अपनी पंचवर्षीय योजना में उसे शामिल कर लिया था।

दुनिया के बहुत भागों में 'सेवा' के आदर्श एवं संगठन का प्रभाव पड़ने लगा था। मैं निरंतर भ्रमणशील रहती। लोगों को बताती कि हम किस प्रकार गांधीवादी धारा में रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। 'सेवा' अभियान के बारे में बताती जो महिलाओं का, उनके लिए तथा उनके द्वारा संचालित था। वर्तमान में मैं तीन महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और नेटवर्क की अध्यक्षा हूं : स्ट्रीटनेट, होमनेट और वीगो। मैंने तो रॉकफेलर फाउंडेशन, जिसकी एक न्यासी भी हूं, को इसके

लिए मना लिया कि वह बेंलाजियो (इटली) के प्रसिद्ध सम्मेलन केंद्र में फेरीवालों का एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करे।

अंतिम दशक में अकादेमी की दुनिया में भी लोगों ने मेरे योगदान को स्वीकार करना प्रारंभ कर दिया। दो भारतीय विश्वविद्यालयों—एस एन डी टी और एम एस—ने मुझे डॉक्टरेट की मानद उपाधियां दीं। विदेश के चार विश्वविद्यालयों—हैवरफोर्ड कॉलेज, टेम्पल विश्वविद्यालय, सर फ्रांसिस जेवियर विश्वविद्यालय और हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने भी सम्मानित किया। मुझे जब भी सम्मान प्राप्त होता है मैं उन सभी महिलाओं की सोचती हूं जिन्होंने मेरे साथ काम किया। और मैं मुग्ध हो जाती हूं कि मैंने एक बड़ी संख्या में कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया और स्वरोजगार में लगाया। उनमें से कुछ आगे चलकर 'सेवा' को नेतृत्व प्रदान करेंगी।

भारत को राजनीतिक आजादी सन् 1947 में मिली। मैं सोचती हूं कि हमें एक अन्य आजादी के लिए काम करना होगा। वह है हमारे देश के श्रमरत गरीबों का आर्थिक सशक्तीकरण। मैं इसे प्राप्त करने के लिए रणनीतियों के बारे में सोचती रहती हूं। आज 'सेवा' में 3,18,527 स्वरोजगार महिला कर्मी हैं। उनके अतिरिक्त लाखों की संख्या में लघु-उद्यमी, फेरी वाले, सेवक और दुग्ध-उत्पादन, कृषि, या बुनाई उद्योग में लगे लोग हैं। लेकिन न तो उनका लेखा-जोखा है और न ही उनकी कोई पहचान है। मैंने इस विशाल संख्या को 'लोक क्षेत्र' की संज्ञा दी है क्योंकि ये न तो सार्वजनिक और न ही निजी क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। भारत की कुल श्रम शक्ति का लगभग 92 प्रतिशत 'लोक क्षेत्र' में है। एन सी ए ई आर के हाल के सर्वेक्षण से पता चलता है कि जी डी पी का 63 प्रतिशत, बचत का 55 प्रतिशत और निर्यात का 47 प्रतिशत असंगठित क्षेत्र से ही आते हैं। और जैसा कि आप जानते हैं, यह क्षेत्र मोटे तौर पर महिलाओं का है। काम की दुनिया में महिला, गरीबी और असंगठित क्षेत्र एक-दूसरे का पर्याय बनते रहते हैं। लोग कभी-कभी मुझे पूछते हैं कि 'सेवा' राष्ट्र के पक्ष में कार्यरत है या बाजार के हित में कार्य करती है। मेरा जवाब साफ रहता है—'सेवा' गरीबों के हित में है। हमारा लक्ष्य है गरीबों को उनके काम और कला में दक्ष बनाकर उन्हें सशक्त बनाना। उन्हें बाजार की तकनीकों का उपयोग करने लायक बनाना। हमारा अभियान इसे पूर्ण होता हुआ देखेगा जब असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत सभी लोगों के लिए पूर्ण रोजगार और आत्म-निर्भरता का स्वप्न साकार होगा।

मैं अपनी जीवन-गाथा का समापन न्यासी संबंधी गांधीजी की परिकल्पना में अपना गंभीर विश्वास दुहरा कर करना चाहती हूं। उनके विचार में न तो प्रतिभा और न ही धन अपने गुण का असीम आनंद लेने का हकदार है। यह गुण तो

बल्कि सार्वजनिक न्यास की तरह संजोया जाना चाहिए। पहली नजर में यह मिथ्या लग सकता है पर हाल के इतिहास में भी परोपकार, साझेदारी की इच्छा के उदाहरण हैं। आज की अर्थवादी दुनिया में भी यह संभव है कि समानता और सामाजिक न्याय के आदर्श जीवित रहें। एक ऐसा जीवन संभव है जिसमें उपलब्धि, सम्मान और खुशी को महत्त्व हो।

(एस. आनंदलक्ष्मी को दिए गए साक्षात्कार पर आधारित)

पद्मा रामचंद्रन *(जन्म : 1934) पचास के दशक के आरंभ में ही भारतीय प्रशासनिक सेवा में जाने वाली पहली महिलाओं में एक थीं। वह केरल सरकार में मुख्य सचिव के पद से सेवा-निवृत्त हुई। अन्य महत्त्वपूर्ण पद जिनका दायित्व उन्होंने संभाला, वे हैं : कुलपति, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा; निदेशक, महिला और विकास एशिया-प्रशांत केंद्र, बैंकॉक; निदेशक, प्रशासन प्रबंधन संस्थान, तिरुवनंतपुरम। वर्तमान में वह तिरुवनंतपुरम के शहरी एवं क्षेत्रीय विकास संस्थान की अध्यक्षा हैं। उन्हें संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की ओर से सन् 1976 में कीनीया एवं श्रीलंका में महिलाओं के अधिकारों के अध्ययन के लिए मानवाधिकार शिक्षावृत्ति मिली थी।*

6

मैं और मेरा काम

पद्मा रामचंद्रन

मेरा जन्म एक दक्षिण भारतीय परिवार में हुआ था। यह तिरुनेवेलि अय्यरों के अपेक्षाकृत धर्मभीरु समुदाय से संबद्ध है। मैं अपने मां-बाप की पांचवीं लड़की और छठी व अंतिम संतान थी। मेरे पिता प्रायः चंद तमिलों में थे जिन्होंने जीविका की तलाश में विंध्य के उत्तर का रुख किया था। उनकी प्रबल इच्छा थी कि लोक सेवा में जाएं परंतु उन्हें परीक्षा देने की अनुमति नहीं मिली क्योंकि उसमें उत्तीर्ण होने का अर्थ होता प्रशिक्षण के लिए सात समुद्र लांघना, जो उन दिनों वर्जित था। उन्होंने प्रण किया कि उनके बच्चे वह करेंगे जिसकी अनुमति स्वयं उन्हें नहीं मिली थी। पर अफसोस, उनका एकमात्र बेटा था और उसके बाद मेरा यानी अंतिम संतान का जन्म हुआ था। वे सोचते काश मैं बेटा बनकर आती। उन दिनों स्त्रियां विरले ही स्नातक होतीं और प्रशासनिक सेवा में आतीं—उच्च पदों की तो बात ही नहीं! उनके भाग्य में अल्पायु विवाह—अधिकांशतः किशोरावस्था से पूर्व—से बचने की कम, बल्कि बिल्कुल गुंजाइश नहीं होती। इतना ही नहीं, विवाह के समय दहेज, और बाद में वधू के माता-पिता को लक्षित नाना प्रकार के ताने सुनने को मिलते। मेरी एक भी बहन को कॉलेज जानें का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। मेरी उच्च शिक्षा का अर्थ यह था कि मुझे छात्रावास में रहना पड़ेगा।

पर मुझे यह स्वीकार करना होगा कि समय और लड़कियों की शिक्षा के प्रति लोगों की प्रवृत्ति बदल रही थी। निस्संदेह, मेरा भाग्य भी। मैं तत्कालीन मद्रास में इंटरमीडिएट की पढ़ाई करने लगी। मेरा भाई भी वहीं पढ़ता था। एक छात्रावास में रहना और महिला कॉलेज में पढ़ना बहुत आनंददायक था। पर वहां अर्थशास्त्र में बी.ए. (आनर्स) की पढ़ाई नहीं थी। इसके लिए मैंने एक सहशिक्षा महाविद्यालय में प्रवेश लिया। मैं सिर्फ अपने उदारमना माता-पिता की आभारी हूं जिनके कारण मैं वहां स्नातक कर पाई। लोकसेवा में मुझे भेजने का दृढ़ लक्ष्य जो मेरे पिता ने बनाया मैं उसके लिए भी आभारी हूं। स्वाधीनता के बाद के वर्षों में सभी

सफल उम्मीदवारों के नाम की उद्घोषणा रेडियो पर की जाती थी। खासकर इक्की-दुक्की सफल महिलाओं की। आश्चर्यजनक था कि हमारे सत्र में कुल 67 या 68 में से हम दो एक ही कॉलेज की थीं, और अय्यरों के उसी रुढ़िवादी परिवार से! जब मेरा नाम घोषित किया गया तो आप मेरे माता-पिता, खासकर मेरे पिता, की खुशी और गर्व की कल्पना कर सकते हैं।

मेटकॉफ हाउस, दिल्ली में एक साल के प्रोबेशन के दरम्यान हमसे ढेरों शारीरिक अभ्यास करवाए जाते, जैसे, घुड़सवारी और फिर माउंट आबू में पुलिस के साथ प्रशिक्षण और कश्मीर में सेना के साथ। हम दोनों महिलाओं को लड़कों की भांति ही सब कुछ करना होता लेकिन हम पहाड़ की चढ़ाई और बागवानी में कहीं अधिक उत्साह और दक्षता प्रदर्शित करतीं। हमें लगता कि हमें लड़कों की तुलना में अच्छा नहीं, तो बराबर रहना ही है। उन दिनों यथार्थतः लड़कों की तुलना में कम-से-कम आधा अच्छा दिखने के लिए उनकी अपेक्षा दूना अच्छा प्रदर्शन करना होता। उन दिनों अहमियत इस बात की न थी कि अन्य प्रशिक्षु क्या कर पाया, बल्कि सिर्फ यह दिखाना था कि हम अच्छा कर सकें। लेकिन हमें वैसी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ा जो अन्ना जॉर्ज—सन् 1951 में भारतीय प्रशासनिक सेवा में प्रवेश करने वाली पहली और एकमात्र महिला—को करना पड़ा था। उन्होंने वह घटना सुनाई जब वे सप्ताह भर के लिए अस्पताल में थीं और मेटकॉफ हाउस से अपने कपड़े मंगवाने के लिए किसी को ढूंढ़ना कितना कठिन हुआ था। कहने को तो कई लोग स्वेच्छा से तैयार थे पर एक भी उपयुक्त नहीं था।

मैं जब प्रोबेशन पर थी तो मेरी सेवा राज्य कैडर के लिए नामित करते समय एक मजेदार घटना हुई। अपने आवेदन में मैंने 'मद्रास राज्य' का नाम प्रथम विकल्प के रूप में दे दिया था, क्योंकि बचपन और किशोरवय का बहुत समय मैंने इससे दूर बिताया था। सामान्यतया किसी लड़की को यह विशेषाधिकार था कि उसकी पसंद पूरी की जाती। पर क्या यह एक प्रकार की सुरक्षात्मक कार्रवाई थी? एक सहज स्वीकृति थी? मैं नहीं कह सकती। पर मुझे मद्रास नहीं मिला क्योंकि यह सत्यभामा को मिल गया जिसका स्थान मुझसे ऊंचा था। मुझे 'बंबई राज्य', मेरी दूसरी पसंद, भेजा गया। राज्यों का पुनर्गठन हाल में हुआ था और बंबई राज्य को महाराष्ट्र और गुजरात दो भागों में बांट दिया गया था। दो लोगों के नाम 'बंबई राज्य' के लिए प्रस्तावित थे। दोनों ही बंबई जाना चाहते थे। इस दशा में लाटरी निकालना ही तय था क्योंकि यहां महिला को स्वतः पसंद मिलनेवाली बात नहीं थी। प्रशिक्षण विद्यालय के प्रिंसिपल ने मुझसे पूछा कि क्या मेरी केरल

में रुचि है, जिसका गठन राज्यों के पुनर्गठन के बाद नवंबर, सन् 1956 में हुआ था, और जहां पद भी रिक्त था। मैंने किसी सोच-विचार के बिना हामी भर दी क्योंकि मैं दक्षिण भारत में ही सेवा करना चाहती थी। इस घटना के तुरंत बाद भारत के गृहमंत्री ने मुझे बुलावा भेजा। मैं तो कांप गई—पता नहीं क्यों बुलावा आया था। मैं गोविंद बल्लभ पंत, एक ओजस्वी व्यक्तित्व, के समक्ष प्रस्तुत हुई। वहां हम दोनों में कौन अधिक कांप रहा था, नहीं कह सकती। डर के मारे मैं, या स्वाधीनता संग्राम में आई चोटों के कारण वे? "तुम केरल जाने को तैयार हो?" उन्होंने पूछा। मेरे 'हां' कहने पर वे आगे बोले, "तुम्हें पता नहीं वहां कम्युनिस्टों की सरकार है? हम वहां भेजकर तुम्हें जोखिम में नहीं डालना चाहते।" मैं नहीं जानती कि उन्हें जवाब देने का दुस्साहस मैंने कैसे किया क्योंकि अब तक जिंदगी में मैंने कभी भी आवेगपूर्ण निर्णय नहीं लिया था। और फिर मैं यह भी तो नहीं जानती कि अपने निर्णय का क्या तर्क दूंगी। मैंने बस इतना कहा कि केरल जाने की ठान लेने के बाद मैं उस पर अडिग रहना पसंद करूंगी। मैंने कहा कि कोई भी राज्य दूसरे के समान ही अच्छा या बुरा है और उम्मीदतः मैं सरकार को यह अवसर नहीं दूंगी कि उसे मुझे किसी संकट से उबारना पड़े। मुझे लगता है वे मेरे जवाब से कुछ असंतुष्ट थे क्योंकि उन्होंने कहा, "लड़की, बाद में मुझे नहीं कहना कि मैंने चेतावनी नहीं दी थी।" असल में बात यह थी कि पहली बार सत्ता में आए कम्युनिस्टों (जिनका नेतृत्व नंबूदरीपाद, जिन्हें प्यार से लोग ई. एम. एस. कहते थे) के अपरिचित व अपरीक्षित शासन में एक लड़की को भेजने से केंद्र सरकार स्वयं हिचकिचा रही थी। मेरी नाव का डूबना तय था, वे सोचते। बाद में मैंने स्वयं भी सोचा कि क्या चयन सही था? लेकिन आज सेवानिवृत्ति के नौ वर्ष के बाद, मुझे कोई पछतावा नहीं है। मैं अनुभव करती हूं कि चुनौती सर्वत्र है और केरल में भी थी, मेरे लिए कहीं अधिक।

मेरी नियुक्ति जब जिला कलेक्टर के पद पर होने वाली थी तो राज्य सरकार बहुत हिचक रही थी। उसके सामने अब तक एक भी महिला इस पद के लिए नहीं आई थी। वे निर्णय को यथासंभव टालते रहे। मैं जब कभी मुख्य सचिव के कार्यालय से पता करती तो मुझे कहा जाता कि महीने भर की रिक्ति शीघ्र होने वाली थी क्योंकि पदासीन कलेक्टर छुट्टी पर जाने वाला था। तब मुझे यह स्पष्ट करना पड़ा कि मैं एक नियमित पद चाहती थी, न कि खानापूर्ति। अंत में मैं जब राज्यपाल के पास गई और उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत करवाया (केरल में उन दिनों राष्ट्रपति शासन था) तो मुझे नियमित पद दिया गया। फिर भी उन्होंने दूसरे जिले में भेज मुझे नजरों से ओझल करने का जोखिम नहीं उठाया।

उन दिनों केरल में खाद्य पदार्थ भंडारण की समस्या थी। सरकार द्वारा खरीद किया गया अनाज कभी भी पर्याप्त नहीं होता। आज भी यह प्रांत अपनी आवश्यकता का मात्र एक-तिहाई चावल, शाक-सब्जी और अन्य खाद्य पदार्थ उपजाता है। पड़ोसी राज्यों से उनकी आपूर्ति होती है। उन दिनों जिले में खाद्य-पदार्थों की कमी के कारण असंतोष बढ़ रहा था। केंद्र सरकार के विरुद्ध अपने क्षोभ को प्रदर्शित करने के लिए छात्र सड़कों पर उतर आए थे। हमने समझौते के लिए विभिन्न समूहों से कई बैठकें कीं। सभी पार्टियों एवं वर्गों के लोगों के साथ विश्वास बनाने के लिए विशेष प्रयास किया गया। कई छात्र नेता मेरे मित्र थे। उन्होंने मुझे वचन दिया था कि वे कोई हंगामा नहीं करेंगे। लेकिन वे पुलिस को देखते ही भड़क उठते थे। मैंने उनसे कहा था कि मैं उनकी बातों का कठोरता से पालन करूंगी—यदि वे मेरी शर्त पर चलें। शर्त यह थी कि सार्वजनिक संपत्ति को क्षति नहीं पहुंचाई जाएगी। किसी के उकसाने पर, कथित रूप से पुलिस द्वारा, उन लोगों ने एक बस को जला दिया और मुझे बातचीत के लिए उनके पास जाना पड़ा था। मैं छात्रों के समीप पहुंच ही रही थी कि पुलिस आयुक्त मेरी ओर दौड़े। परिस्थिति को ताड़ चुके आयुक्त ने मुझे बचाना अपना दायित्व समझा और मेरे साथ-साथ चलने लगे। छात्रों को लगा मैंने उन्हें धोखा दिया था। शीघ्र ही हम पर पत्थरों की बारिश होने लगी; कोलतार के कनस्तरों में आग लगा दी गई। परिस्थिति और बिगड़ जाती यदि हमने छात्रों की बेकाबू भीड़ में अश्रु गैस के गोले नहीं फेंके होते। छात्र धूएं में गायब हो गए। बदलती हुई परिस्थिति से मैं अंदर तक दुखी थी। संयोग से बहुत अधिक क्षति नहीं हुई थी लेकिन ढेरों सवाल पूछे जा रहे थे : कलेक्टर ने बेकाबू भीड़ पर गोली चलाने का आदेश क्यों नहीं दिया? पुलिस महानिदेशक ने बहुत नर्म होने और प्रशासन का ज्ञान न होने का आरोप मुझ पर लगाया। उनके अनुसार मुझे कठोर कार्रवाई करनी चाहिए थी। दरअसल जिला-प्रशासन में मैंने उन्हें कभी हस्तक्षेप नहीं करने दिया था और इसलिए वे हमेशा खार खाए बैठे रहते थे। उस घड़ी सिर्फ मैं जानती थी कि उत्पन्न परिस्थिति में छात्रों पर गोली चलाने का आदेश कोई नहीं दे सकता था। इस घटना से जो आग लगी थी, वह यथार्थतः कभी भी नहीं बुझी, पर मैं एक बात से आश्वस्त थी—भले ही मेरे वरिष्ठ अधिकारी मुझसे असंतुष्ट रहे हों, तिरुवनंतपुरम की जनता मेरे साथ थी। और मुझे लगता है कि सच्चे प्रशासक की यही पहचान है।

जिला कलेक्टर के रूप में बिताए गए डेढ़ वर्ष मेरे लिए आनंददायक रहे, क्योंकि इसमें प्रशासन और सेवा में लगे लोगों को निकटता से देखने का अवसर

मिला। मुझे उन घरों में जाना पड़ा था जहां बिजली गिरी हो। वहां लोगों को ढाढ़स और अनुकंपा राशि देना मेरा दायित्व होता। 'स्वर्ण बांड' अभियान के अंतर्गत मुझे धनाढ्यों से सोना निकलवाना पड़ा। बाढ़ और अकाल दोनों में राहत कार्य देखना पड़ा। इस क्रम में मैं विभिन्न प्रकार के लोगों से मिली और विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से निपटती रही—राशन की दुकान में आगजनी से लेकर सांप्रदायिक उन्माद तक। वस्तुतः एक समाहर्त्ता को प्राकृतिक विपदा और आपातकाल से निपटने के लिए सदैव तत्पर रहना पड़ता है। भारत सरकार इस दायित्व को 'तलवार की धार पर चलने' के समान मानती है। इसमें आप जन-सामान्य की जिंदगी में शामिल हो जाते हैं, जो स्पष्टतया कम भाग्यशाली होते हैं। उनके सुख-दुःख की भावनाओं एवं अनुभवों को महसूस करते हैं। एक समाहर्त्ता के रूप में मैं उनके लिए बहुत कुछ कर पाई। यह बात और कि मेरा समय अपना नहीं रहा और मेरे बच्चे, जो उन दिनों छोटे थे, मेरा पूरा ध्यान मांगते रहे। परंतु घर में मां और विश्वासपात्र सेविका की उपस्थिति से मुझे बहुत बल मिला। मैं दायित्व पूरा करती रही।

सन् 1974 में भारतीय महिला की दशा पर बनी समिति की रिपोर्ट 'समानता की ओर' (टुवर्ड्स इक्वलिटी) के बारे में मुझे पता चला। मैंने समाज कल्याण विभाग से अपने स्थानांतरण का आग्रह किया ताकि मैं रिपोर्ट पर आगे की प्रक्रिया पूरी कर सकूं। यद्यपि कई लोगों ने सोचा कि मैं उक्त विभाग में जाने की बात कर अपनी अज्ञानता का परिचय दे रही थी। उनकी सोच में इस विभाग में न तो चाकचिक्य था, न ही विदेश यात्रा की गुंजाइश। वहां काम करने के लिए अधिक बुद्धिमत्ता भी नहीं चाहिए थी। पर मेरे लिए तो यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। उस दायित्व के बाद से तो मैं निरंतर महिलाओं के मुद्दे पर अन्वेषण में लगी रही। सन् 1995 में मुझे महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा का कुलपति बनाया गया। वहां महिलाओं के मुद्दों पर किए अन्वेषण बहुत काम आए। यह एक कठिन प्रशासनिक कार्य था। विद्या के संसार में अर्थ की कमी! किसी प्रकार का नवीन प्रयोग करना दुष्कर था। पर मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता हो रही है कि मैं शोध और कार्य परियोजनाओं के लिए करोड़ों रुपए उगाहने में सफल रही थी। और हां, हमारे प्रशासन में महिला-हित की ओर झुकाव प्रत्यक्ष था।

क्या अपने काम के किसी बिंदु पर मुझे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ा? आरंभिक दिनों में जब प्रशिक्षण के लिए विदेश जाने की मेरी बारी थी तब मेरे नाम को अनदेखा कर दिया गया क्योंकि मैं पति के साथ पहले ही विदेश हो आई थी! मुझे यह समझाना पड़ा कि एक पत्नी के रूप में विदेश जाने और किसी अध्ययन हेतु स्वयं अपने अधिकार से जाने में क्या अंतर है। मुख्य

सचिव बहुत टाल-मटोल के बाद अंततः झुंझलाते हुए मान गए। एक अन्य ऐसा अवसर तब आया जब मैं स्वास्थ्य सचिव थी। एक नए कैथोलिक मंत्री पद संभालते ही मुझसे बोले कि मैं परिवार नियोजन संबंधी कोई भी फाइल उनके समक्ष न रखूं। फिर उन्होंने यह कहते हुए कि वह एक महिला सचिव के साथ काम नहीं कर पाएंगे, स्वास्थ्य विभाग से मेरे स्थानांतरण की बात की। चूंकि सचिव स्तर का कोई पद खाली नहीं था, सो मुझे स्थान देने के लिए कोई रास्ता निकालना था। इसी क्रम में शिक्षा विभाग को दो भागों—उच्च और विद्यालयीय—में बांट दिया गया। मेरी नियुक्ति विद्यालयीय विभाग में हुई। दस महीनों तक मेरे मुख्य सचिव रहने के बाद सन् 1992 में अंततः केंद्र और राज्यों में चुनाव हुए। एक अबोध सरकार और उसके मुख्यमंत्री ने साफ-साफ कह दिया कि वे अपने खास व्यक्ति को मुख्य सचिव रखना चाहते थे। अतः मुझे केंद्र में पुनर्वासित होना पड़ा। लेकिन ऐसी दिक्कतें तो हमारे काम में आती ही हैं। उम्मीदवार पुरुष हो या स्त्री चयन-स्थानांतरण की आड़ में मुख्यमंत्री की मनमानी को चुनौती नहीं दी जा सकती है। हालांकि बहुत लोगों को मुख्यमंत्री के इस नजरिये का पता था कि एक महिला का मुख्य सचिव होना सुविधाजनक नहीं था।

हमारे समय में, जब माहौल कम-से-कम महिला के पक्ष में तो नहीं ही था, महिलाओं को सिर्फ समाज कल्याण और शिक्षा से संबद्ध पद देने पर विचार होता, न कि वित्त या उद्योग। खैर...शिक्षा, प्रशिक्षण, प्रबंधन और महिलाएं—ये मेरी पसंद के क्षेत्र थे। मुझे इनमें रुचि और विशेषज्ञता थी। लेकिन मैं अधिक प्रसन्न रहती यदि मुझे योजना और वित्त सदृश तथाकथित 'कठिन' क्षेत्रों में प्रशिक्षण दिया जाता। सन् 1991 में बैंकॉक से वापसी के बाद मुझे सचिवालय से हटाकर लोक सेवा के एक प्रशिक्षण संस्थान में भेज दिया गया जो उस समय भ्रूणावस्था में ही था। उस समय उस पद पर जाने के लिए कोई तैयार नहीं था। मैंने वहां सुखपूर्वक नौ वर्ष बिताए। प्रशिक्षण के नए-नए तरीके अपनाने हेतु प्रयोग करती रही। वहां इस बात को लेकर मैं बहुत खुश थी कि मैंने प्रत्येक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में महिलाओं के मुद्दे को बनाए रखा। हमने संस्थान में नवजातों हेतु एक 'दैनिक देखभाल केंद्र' की स्थापना की ताकि प्रशिक्षण पाने के लिए महिलाएं भी आगे आएं। वस्तुतः इस प्रकार का समर्थन अनिवार्य है जिसके बिना महिलाएं मिलने वाले अवसरों का पूरा लाभ नहीं ले सकती हैं।

आज एक युग बीत चुका है और लोक सेवा में महिलाएं बड़ी संख्या में हैं। इस पेशे में डटे रहने के लिए ज्ञान, मजबूत नैतिक बल, भावनात्मक दृढ़ता, साहस की प्राप्ति, और विकास जरूरी है क्योंकि इसमें हमेशा राजनीतिज्ञों से पाला

पड़ता है। प्रशासकों के अच्छे कार्य शायद ही कभी दिखते हैं पर उनकी खामियों और गलतियों, कभी-कभी बढ़ा-चढ़ाकर, पर ही जनता की नजर जाती है। फिर भी, अंत में सेवानिवृत्ति के अवसर पर लोग अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि यह एक अच्छा अधिकारी था—एक ईमानदार और न्यायप्रिय व्यक्ति। लेकिन मेरी राय में यह गुलदस्तों या सरकारी प्रशस्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सई परांजपे (जन्म : 1936) मराठी की पुरस्कृत नाटककार, रंगकर्मी और फिल्मकार हैं जिन्होंने हिंदी और मराठी फिल्मोद्योग और टेलीविजन में भी काम किया है। उन्होंने फीचर-फिल्में, धारावाहिक, वृत्त-चित्र और अति लघु वृत्त-चित्र बनाए हैं। उन्होंने बच्चों के लिए पुस्तकें लिखीं और वे पुणे के 'चिल्ड्रेंस थिएटर' की सह-संस्थापिका हैं। सई परांजपे भारतीय बाल फिल्म सोसाइटी की अध्यक्षा रही हैं। उनकी कृतियों में हिंदी फिल्में स्पर्श (1979), चश्मेबद्दूर (1981) और साज़ (1997); लघु फीचर फिल्में, 'बेगर', अंगूठा छाप, एवं चूड़ियां; बच्चों की फिल्में सिकंदर (1973) और जादू का शंख (1971); वृत्त-चित्र 'द लिटिल टी शॉप' और 'बुक्स दैट टॉक' (1976); टीवी धारावाहिक अड़ोस-पड़ोस, हम पंछी एक चाल के, और बहना शामिल हैं। इनके लेखन में झली के गमत, जादू का शंख और सेप्तिचा शाप (बच्चों के लिए नाटक) और जसवंदी और माझा खेल मण्डू दे (मराठी नाटक) प्रसिद्ध हैं।

7

भावों के भंवर

सई परांजपे

मैं एक मायने में बहुत भाग्यशाली हूं। दरअसल मैं एक ऐसी मां की बेटी हूं जिसका जीवन उपलब्धिपूर्ण था। मेरी मां शकुंतला परांजपे, एक विशिष्ट और कुशाग्र महिला, ने उन दिनों कैंब्रिज विश्वविद्यालय से गणित में डिग्री ली थी जब लड़कियां विरले ही स्कूल की पढ़ाई भी पूरी कर पातीं। उन्होंने परिवार नियोजन को उस समय बढ़ावा दिया जब संभ्रांत और सभ्य समाज में इस विषय पर बात करना वर्जित था। वे सामाजिक पूर्वाग्रहों और कुरीतियों—विशेष कर महिलाओं एवं दलितों से संबद्ध, से लड़ती रहीं। उन्हें इन क्षेत्रों में अगुआ कार्य करने के लिए पद्मभूषण से सम्मानित भी किया गया था। मां अपनी शर्तों पर जीने की आदी रहीं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, जेनेवा में कार्यरत रहने के दरम्यान उन्होंने एक श्वेत रूसी (मेरे पिता) से शादी कर ली और कुछ समय बाद तलाक लेकर वापस अपने पिता, सर आर. पी. परांजपे, के पास रहने के लिए चली आईं, जो एक प्रसिद्ध गणितज्ञ, तर्कवादी, समाज सुधारक और शिक्षाविद् थे। क्षमा कीजिए, मुझे यदि अपने बचपन के लालन-पालन की चर्चा करनी पड़े तो इसमें 'बड़े-बड़े नाम' गिनवाने की मजबूरी होगी, न कि बड़प्पन दिखाने की।

मेरी मां और नाना ने मुझे पाला। आज मेरा व्यक्तित्व और मेरी उपलब्धि मात्र उनकी देन हैं। वस्तुतः मेरी परवरिश ही मां के जीवन का लक्ष्य प्रतीत होता है। यह तथ्य कई बार मुझे परेशान कर देता क्योंकि मेरी प्रतिभा के बारे में मां की धारणा कुछ अधिक ही व्यापक और अकसर बेबुनियाद होती। मुझे 6 से 9 वर्ष तक पुणे की प्रसिद्ध मिरासी बुआ से शास्त्रीय गायन सीखना पड़ा। तीन वर्षों तक प्रतिदिन सुबह-सवेरे पूरा एक घंटा! मेरी मुक्ति का दिन वह था जिस दिन बुआ ने हाथ जोड़कर मां से कहा, "मैडम यह निरर्थक है, नन्हीं सई सुर में नहीं गा सकती।"

मेरे अंदर की सर्जनात्मकता 'बेड टाइम स्टोरीज़' में जाग पड़ती थी। मां

मुझे हर रात एक नई कहानी सुनाती। एक दिन (बल्कि रात) उन्होंने कहा, "आज तुम एक कहानी सुनाओ", और मैंने सुनाई। यह एक लंबा ताना-बाना था जिसमें विचित्र पात्र थे। कहानी खत्म होने पर उन्होंने कहा, "बुरी नहीं है! तुम्हें किसने सुनाई?" मैंने कहा, "किसी ने नहीं। मैंने खुद बनाई।" और इस तरह मेरी सर्जनात्मक सामने आई! उस दिन के बाद मुझे खेलने के लिए जाने से पूर्व साहित्य पर तीन पृष्ठ लिखने होते—कोई लेख या फिर छोटी कहानी। मेरी साहित्य सर्जना ने एक सुंदर पुस्तक का आकार लिया और प्रकाशित हुई। उस समय मैं कुल आठ वर्षों की थी। मैं अकसर सोचती हूं कि कितने ऐसे भाग्यशाली बच्चे हैं जिनकी मांएं उनकी कल्पना की हर उड़ान में पर लगाने के लिए तैयार बैठी रहती हैं।

आधी रूसी होने के कारण मैं अधिकांश भारतीय बच्चों से बहुत भिन्न दिखती। उन दिनों तलाकशुदा मां-बाप की संतान होना रसपूर्ण चर्चे का विषय बनना था। मुझे ढेरों चॉकलेट का लोभ दिया जाता ताकि मैं अपने बाप के बारे में उनके सवालों का जवाब दूं। मुझे आज भी भयंकर उत्सुक लोग और उनकी घूरती आंखें याद हैं। बचपन की ये स्मृतियां मेरा पीछा नहीं छोड़तीं। मैं आज भी कछुए की तरह सिर छिपा लेती हूं जब अपरिचित लोग मुझसे सार्थक सही, पर निजी जिंदगी के सवाल पूछते हैं।

मुझे दोनों ही दुनिया (पूर्वी एवं पाश्चात्य) का भरपूर आनंद मिला। इसके लिए मां और अप्पा (नाना) की आभारी हूं। अप्पा आस्ट्रेलिया में भारत के पहले उच्चायुक्त थे। इसलिए मैं चार वर्षों तक पूरी तरह पाश्चात्य जीवन में पलती-ढलती रही। उस गर्मजोशी भरे और प्रीतिकर राष्ट्र में मैं कुछ ही दिनों में नन्हीं आस्ट्रेलियाई हो गई। मैं हॉलीवुड की नवीनतम फिल्में देखती। मंचों पर आयोजित भव्य संगीत समारोह देखकर दांतों तले अंगुली दबा लेती। गंभीर साहित्य के साथ-साथ कॉमिक्स पढ़ती और पूरे जोश में "वाल्ट्जिंग मटिल्डा" गाती। इनके विपरीत मुझे घर पर मराठी बोलना पड़ता और अंग्रेजी और मराठी दोनों में तीन-तीन पृष्ठ लिखना तो अनिवार्य था। यह कठिन था। पर इससे अधिक, मुझे संस्कृत का सुंदर प्राथमिक ज्ञान भी दिया गया था। मैंने रामरक्षा और कई स्तोत्रों एवं सुभाषितों को कंठस्थ किया था। यदि कोई चुनौती दे तो आज भी मैं रावण रचित 'शिव स्तोत्र' (जिसका उच्चारण दुःसाध्य है) का पाठ कर सकती हूं। एक नास्तिक परिवार में संस्कृत श्लोकों के लिए यह लगाव कुछ विचित्र लगता—पर हमारा परिवार भी तो बहुत विचित्र था।

बारह साल लगने से पहले ही मैं जोनाथन स्विफ्ट, स्कॉट, जेन ऑस्टिन,

हार्डी और चार्ल्स डिकेंस की कुछ रचनाएं पढ़ चुकी थी। और हां, मराठी के प्रसिद्ध लेखकों—हरी नारायण आप्टे, साने गुरुजी, खांडेकर आदि को भी पढ़ा। मां भाषाएं और उनकी शुद्धता को बनाए रखने पर बहुत जोर देतीं। हम अंग्रेजी में बात करते तो वह "मम्मी" होती और मराठी में "आई"। मराठी में बात करते समय अंग्रेजी का एक शब्द बोलने के लिए मुझे चार आने का जुर्माना होता। ऐसा अनुशासन था उनका। मैं यह सोचकर सिहर उठती हूं कि आज की खिचड़ी भाषा सुनकर उनका क्या हाल होता! अप्पा कोंकण के एक छोटे शहर अंजराले में एक देहाती पंडित के पुत्र थे। इंगलैंड प्रवास के दरम्यान उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल को पढ़ा और पूरी तरह तर्कवादी और नास्तिक होकर वापस आए। उन्हें परिवार के साथ खाने की मेज पर नहीं बैठने दिया जाता था और वे आंगन में अकेले खाना खाते थे।

उनसे अधिक सादगीपूर्ण व्यक्ति मुझे आज तक नहीं मिला है। शिक्षा उनके जीवन का सर्वस्व था। वे जब कैंब्रिज से 'सीनियर रैंगलर' की उपाधि पाने वाले पहले भारतीय बनकर लौटे तो देश में उनके पीछे ढेरों मोटी तनख़्वाह वाली नौकरियां पड़ी थीं। पर उन्होंने अपना जीवन फर्गुसन कॉलेज के नाम समर्पित कर दिया और 150 रुपए प्रतिमाह के वेतन पर प्राचार्य पद पर बने रहे। उन दिनों भी वैसे व्यक्तित्व (प्रतिभा) वाले लोगों के लिए यह वेतन नगण्य था। लेकिन वे अपने मूल्यों में कहां डिगने वाले थे? एक दिन वे मेरी नानी पर इस तरह बरसे कि लगा घर की छत उड़ जाएगी। नानी ने उनके कॉलेज का कागज-कलम निजी पत्र लिखने के लिए इस्तेमाल कर लिया था। आज के संदर्भ में जब अधिकांश राजनीतिज्ञ स्वार्थ के लिए देश को बंधक रखने से परहेज नहीं करते, यह बात अजीब लगती है।

अप्पा भौतिक-संपत्ति में विश्वास नहीं करते। उन्होंने मुझे और मां को कह दिया था कि वे अपनी सामान्य जमा-पूंजी और संपत्ति फर्गुसन कॉलेज के नाम करते जाएंगे। उनके देहांत के बाद किसी ने मां को सलाह दी कि वसीयत में फर्गुसन कॉलेज के नाम किए गए घर पर पुनः अधिकार के लिए एक याचिका दायर कर दे। "यह कहने की हिम्मत कैसे हुई तुम्हारी?" वह गुस्से से बिफर उठी। "मैं उनकी इच्छाओं को जानती और सम्मान करती हूं।" फर्गुसन कॉलेज ने सौजन्य भाव से मां को जीवनपर्यंत मकान की निचली मंजिल में रहने दिया। 'पुरुषोत्तमाश्रम' की निचली मंजिल का एक भाग मेरे अधिकार में आज भी है (सौजन्य : फर्गुसन कॉलेज)।

दुर्भाग्यवश मस्तिष्क के मामले में मैंने परांजपे परिवार की कुशाग्रता की रत्ती भर भी नहीं पाई। मैं तो बीजगणित, ज्यामिति और अंकगणित से कन्नी

काटती; अंकगणित आज भी मुझे अपना शत्रु लगता है। अप्पा मुझे पढ़ाने की कोशिश करते लेकिन वे जितना अधिक पढ़ाते मैं उतना ही गड्ड-मड्ड हो जाती। मैं हालांकि भाषा और इतिहास में अच्छा करती। इतिहास में मेरी कल्पना की उड़ान कुछ ज्यादा ही होती। अप्पा महिला शिक्षा के ध्वज-वाहक थे। वस्तुतः वे महान भारत रत्न महर्षि धोंडो केशव कार्वे के आश्रित और चचेरे भाई थे (माफ कीजिए, फिर संबंध की दुहाई दे रही हूं)। बाल गंगाधर तिलक महिला शिक्षा के विरोधी थे। उनका मानना था कि महिलाओं का स्थान घर में था। मुझे किसी ने कहा कि एक खुले मंच पर जब तिलक और मेरे अप्पा दो दिग्गज इस मुद्दे पर भाषण दे रहे थे तो लोगों ने तिलक पर सड़े टमाटरों की बरसात की थी। मैंने इस बारे में अप्पा से पूछा। "सही है", वे मुस्कराए, "पर मुझ पर भी विरोधी खेमे वालों ने सड़े अंडे फेंके।"

कॉलेज में—जाहिर है फर्गुसन कॉलेज में—मैं चार वर्षों तक उत्तीर्ण होती रही। अपने स्व और एक नई दुनिया से मेरा साक्षात्कार होता रहा। शिक्षा के क्षेत्र में मैं नाम करूंगी इसकी उम्मीद किसी को नहीं थी और मैंने किया भी नहीं। लेकिन मैं मंच की हर गतिविधि में शामिल रहती। लगातार चार वर्षों तक अंतरमहाविद्यालय नाट्य प्रतियोगिता में एकांकी नाटकों का निर्देशन करती रही। फर्गुसन सामान्यतया मराठी नाटकों तक सीमित रहा। मैंने 'डियर डिपार्टेड' ढूंढ़ निकाला; उसमें अभिनय और उसका निर्देशन किया। प्रतियोगिता के लिए भिन्न-भिन्न नाट्य मंडलियां तैयारी कर रही थीं। इसी बीच वाडिया कालेज के लड़के हमारी मंडली के समीप बढ़ आए। उन्हें जब पता चला कि हम एक अंग्रेजी नाटक कर रहे थे तो ठठाकर हंस पड़े। हालांकि बाद में हमारी हंसी ही गूंजती रही क्योंकि 'ऑथेलो' से अच्छा 'डियर डिपार्टेड' साबित हुआ। हमारी मंडली को सर्वश्रेष्ठ नाटक का पुरस्कार मिला और मुझे सर्वश्रेष्ठ नायिका का। फिर भी 'ऑथेलो' का निर्देशक हमारे पास आया और जब पुरस्कारों की घोषणा हुई तो उसने हमें जोर की सलामी दी। इस बड़प्पन का श्रेय तो उसे मिलना ही चाहिए।

मैं कॉलेज की पहली लड़की थी जो नाट्य सचिव के सामान्य (अनारक्षित) पद पर चुनी गई। दरअसल मैंने 'महिला प्रतिनिधि' के रूप में खड़ा होने से मना कर दिया था और अपने पुरुष प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबले विशाल मतों से विजयी हुई थी। हालांकि अगले वर्ष मैं उसी अंतर से हार गई—लड़के मुझे सबक सिखाना चाहते थे! मुझे वह दिन भली-भांति याद है जब यह तय हो गया था कि मैं एक फिल्मकार बनूंगी। अच्युत रानाडे, हमारे पारिवारिक मित्र, मुझे प्रतिदिन सुबह फर्गुसन कालेज की पहाड़ी पर बुलाया करते। अच्युत मामा एक सम्मानित फिल्मकार

थे—उन्होंने अपनी फिल्म 'गुड़िया' में बलराज साहनी को काम दिया था। हमारी प्रातःकालीन गुफ्तगू मजेदार होती। वे प्रतिदिन मुझे एक नई फिल्म की कहानी सुनाते। उनकी कहानियां फिल्मों की तरह धीरे-धीरे अनावृत्त होतीं और मुझे सम्मोहित कर लेतीं। मुझे आज भी 'वुदरिंग हाइट्स', 'गैस लाइट', 'द गुड अर्थ', और अन्य कहानियां याद हैं। एक दिन उन्होंने मुझे 'रामजोशी', उन दिनों की प्रसिद्ध मराठी फिल्म की कहानी सुनाई। कहानी का रामजोशी शराबी हो गया था और उसकी जीवनवृत्ति संकट में पड़ गई। उसने दुबारा एक बूंद भी नहीं लेने का प्रण किया। "हम उसे कमरे में बेचैन चहलकदमी करते देखते हैं," अच्युत मामा वर्णन करते रहे। "हम उसके पांवों को देखते हैं। उसकी महीन मसलिन की धोती संगमरमर के फर्श को बुहारती चल रही है। इसी बीच नक्काशीदार सुराही का मुंह किसी तरह उसकी धोती में फंस जाता है और रामजोशी के पांव के साथ ही सुराही घिसटने लगती है।" किसी परिकल्पना को पूरे हाव-भाव के साथ व्यक्त करने के लिए—बिना संवाद के—एक सशक्त दृश्य माध्यम की महत्ता से मैं अभिभूत रह गई थी। मस्तिष्क में बसा वह दृश्य मेरे समक्ष आज भी जीवंत हो उठता है। परंतु बाद में जब मैंने यह फिल्म देखी तो मुझे निराशा हाथ लगी। मैं तो बल्कि यह सुनना पसंद करती कि फिल्म का मेरा संस्करण अधिक नाटकीय हो सकता था। संभव है यह अपने मुंह मिट्ठूमियां वाली बात हो। पर सच तो यह है कि एक पटकथा-लेखक और निर्देशक के रूप में मेरे उद्भव का मूल श्रेय अच्युत मामा को जाता है।

संचार माध्यम में मेरी जीवनवृत्ति की शुरुआत आकाशवाणी, पुणे से हुई। यह जीवन की अद्भुत घटनाओं में से एक थी जो किसी व्यक्ति के भाग्य की दिशा निर्धारित कर देती है। मेरी स्नातक (कला) की परीक्षा में सिर्फ दो सप्ताह बचे थे और मैं किसी मनमौजी की तरह इस बात से अनभिज्ञ थी कि अपने जीवन में क्या करना चाहती थी। एक दिन सुबह में ही एक वर्दीधारी चपरासी दरवाजे पर प्रकट हुआ। उसके हाथ में एक सरकारी दिखने वाला भूरा लिफाफा था। मुझे मराठी 'आडिशन' (स्वर परीक्षा) के लिए बुलाया गया था क्योंकि उन दिनों रेडियो स्टेशन में उद्घोषकों की कमी थी। मुझे क्यों, और किसके द्वारा बुलाया गया—मैं कभी नहीं समझ पाई। लेकिन मैं गई, सिर्फ मजे के लिए। वहां जीभ ऐंठ देने वाले अनुच्छेदों का सुलभतया पाठ कर दिया। आभारी हूं संस्कृत भाषा के आरंभिक पाठों की। मैं जैसे ही स्टूडियो के दरवाजे से बाहर आई ड्यूटी आफिसर ने कहा, "कल से काम शुरू कर दीजिए।" परीक्षा समक्ष होने की बात कहकर मैंने खेद व्यक्त किया और दरवाजे की ओर बढ़ गई। एक चपरासी मेरे

पीछे भागा। मुझे 'ऑडिशन' के लिए दुबारा बुलाया गया। इस बार अंग्रेजी उद्घोषणा के लिए। वे सचमुच परेशान थे। कहानी का सारांश यह है कि मैंने आकाशवाणी, पुणे में अंग्रेजी उद्घोषिका के रूप में काम शुरू किया। स्थानीय समाचार वाचन का पांच मिनट का यह कार्यक्रम शाम को होता। मैं प्रतिदिन साइकिल से सेंट्रल बिल्डिंग्स जाती और इस काम के लिए मुझे 50 रुपए प्रति माह मिलते। परीक्षा खत्म हुए अधिक दिन नहीं हुए थे कि मैंने मराठी में भी उद्घोषणा प्रारंभ कर दी। साथ ही बच्चों के कार्यक्रम 'बालोद्यान' के लिए सूत्रधार का काम भी करने लगी। रेडियो के वे दिन सचमुच जादुई थे जब मैंने कमाते हुए सीखा और खूब आनंद भी किया।

वार्षिक 'रेडियो सप्ताह' के दौरान संगीत सम्मेलनों और नाटकों का सीधा प्रसारण होता। मैंने बच्चों के कई नाटक लिखे और उनका निर्देशन किया। बाद में वे एक पुस्तक के रूप में छपे। पत्तेनागरीत, शेप्तिचा शाप, भक्त्याचे भविष्य, झली के गम्मत और जादू का शंख आदि कुछ उल्लेखनीय नाम हैं। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि मेरी पांच पुस्तकों को राज्य और केंद्र दोनों सरकारों का सम्मान मिला। मैं अनजान में ही बच्चों के नाटक की लेखिका बन गई (आभार : रेडियो) और मेरे सभी नाटक पूरे महाराष्ट्र में आज भी स्कूलों में खेले जाते हैं।

'रेडियो सप्ताह' के दरम्यान मात्र एक नाटक का प्रसारण और फिर लंबी अवधि का पटाक्षेप। इसके लिए इतना प्रयास और ऊर्जा सर्वथा समय की बर्बादी लगती। इसलिए पूना का बाल थिएटर अस्तित्व में आया। हमारे पास नाटक, बाल कलाकार, निर्देशक और अदम्य उत्साह था। हमारे पास न था, तो पैसा। गोपीनाथ तलवरकर मंडली के अध्यक्ष बने। मैं और अरुण जोगलेकर इसके सचिव थे। हमने 'लैंड ऑफ कार्ड्स' (टैगोर का नाटक नहीं) से अभिनय-अभियान के शुभारंभ की घोषणा की। यह एक रंग-बिरगा भव्य आयोजन था। बच्चों ने ताश के बड़े-बड़े पत्ते धारण कर रखे थे। पूरे राजसी परिधान में राजा-रानी के चार जोड़े थे। हमें ताश के पत्तों के लिए ढेरों कड़े बकरम और सफेद पॉपलिन चाहिए थे। मुझे याद है मैं लक्ष्मी रोड की दुकानों में बेहिचक यह कहती हुई घुसती कि मैं प्रसिद्ध तर्कशास्त्री परांजपे की दौहित्री हूं और बच्चों के लिए एक भव्य नाटक का आयोजन करने जा रही हूं जिसके लिए क्या मैं कुछ गज कपड़े उधार खरीद सकती हूं? नाटक के मंचन होने के बाद तुरंत उधार चुका दिया जाएगा। आप मानें या नहीं, मेरी हिम्मत ने काम किया। या तो मेरे रिझाने की क्षमता के कारण या फिर अप्पा के लिए नागरिकों के सम्मान के परिणामस्वरूप हमने वह सब खरीद लिया जो नाटक के मंचन के लिए जरूरी था।

लक्ष्मी रोड के उदार दुकानदारों की पाई-पाई चुका देने की मेरी अंदरूनी इच्छा थी। मुझे रत्ती भर शंका नहीं थी कि नाटक असफल भी हो सकती है और पैसे नहीं वसूल होंगे। संयोग से नाटक का मंचन अत्यधिक सफल रहा और हमारा उधार आनन-फानन में चुक गया। हमारी छोटी-सी नाट्य मंडली शानदार काम करती रही। अप्पा भी बाल थिएटर, पुणे में अपने अद्भुत योगदान से चकित थे। पंडित नेहरू जब 'लैंड ऑफ कार्ड्स' देखने आए तो हमने सोचा कि हम सचमुच नामी हो गए।

जाहिर है, धीरे-धीरे मैं और अरुण एक-दूसरे के समीप आ गए थे क्योंकि नाटक के लिए हम दोनों में समान उत्कंठा थी। हमने विवाह कर लिया। अप्पा और मां हमारी जोड़ी से दुःखी थे लेकिन अप्पा ने हमें आशीर्वाद दिया। मां ने नहीं। कुछ दिनों बाद मुझे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली में अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति मिली और मैंने पूना को अलविदा कह दिया। बाल थिएटर बंद हो गया। अगले वर्ष अरुण को भी छात्रवृत्ति मिली और हम दोनों दिल्ली में नए अनुभव प्राप्त करने लगे।

अब्राहम अल्काजी के निदेशक बनने से पूर्व राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय पूरी तरह दिशाहीन था। मैं उस समय द्वितीय और अंतिम वर्ष की छात्रा थी। सिर्फ एक वर्ष में अल्काजी ने हमें थिएटर का सुंदर ज्ञान दे दिया था। उनकी दृष्टि, विशद जानकारी, तन्मयता, वाक्पटुता और बहुमुखी प्रतिभा का जादुई आकर्षण एक-एक छात्र को मंत्रमुग्ध कर देते। अल्काजी की सशक्त प्रस्तुतियां अब तक भारत में देखी गई प्रस्तुतियों से भिन्न थीं। वे काम करवाने में बहुत ही सख्ती बरतते और उतने ही अनुशासनप्रिय थे।

दिल्ली में अभी टेलीविजन की शरुआत हुई ही थी। उस पर सिर्फ स्कूली प्रसारण होते थे—वह भी सप्ताह में सिर्फ तीन दिन, कुछ घंटों के लिए। सामान्य कार्यक्रमों को शुरू करने की योजना से उन्होंने निर्माताओं के पद के लिए विज्ञापन दिया और मैंने भारतीय दूरदर्शन के कार्यक्रमों के आरंभिक छः निर्माताओं में एक के रूप में पद संभाला। वहां हमारे लिए एक उत्कृष्ट प्रशिक्षक थे। उन्हें बी बी सी से लाया गया था। हमने अगुआ के अदम्य उत्साह के साथ काम करना प्रारंभ कर दिया। श्वेत-श्याम टीवी का युग था। हमारे लिए एक मात्र छोटा-सा स्टूडियो था। नियम और शर्त भी अधिक नहीं थे। वहां हम अपनी कल्पना को हर संभव साकार किया करते। मैं नाटक, प्रश्नोत्तरी कार्यक्रम, एवं वेरायटी शो, बच्चों एवं महिलाओं के कार्यक्रम किया करती—वस्तुतः समाचार छोड़कर हर प्रकार का कार्यक्रम तैयार करती।

मैं आठ वर्षों तक दूरदर्शन में रही और पीछे मुड़कर उस अवधि को देखने पर बहुत ही संतोष और स्वाभिमान से भर जाती हूं। महिलाओं के कार्यक्रम बहुत अच्छे थे। बहुओं को जलाने से लेकर मेंहदी विन्यास तक, सभी प्रकार के मुद्दों पर कार्यक्रम होते। मैंने अनगिनत वृत्त-चित्र और लघु फिल्में बनाईं। 'द लिटिल टी शॉप' को एशियाई ब्रॉडकॉस्टिंग यूनियन का पुरस्कार मिला। आज उन फिल्मों का कोई दरस नहीं बचा है। मैंने एक फिल्म पंकज़ मलिक पर तब बनाई थी (जब उन्हें दादा साहब फाल्के पुरस्कार मिला)। उसके खो जाने का मुझे अत्यधिक दुख है। इसमें, जब वे राष्ट्रपति से पुरस्कार लेने जा रहे थे, तो हमने उनकी बनाई धुन 'आई बहार' बजा दी थी। इस फिल्म में और भी कई अद्‌भुत दृश्य थे। एक बार तो पंकज दा सत्तर पार कर चुकी अपनी पत्नी की ओर शरारती अंदाज में देखते हुए 'दो नैना मतवाले' गाते हुए कैमरे में कैद हो गए। सचमुच यह दृश्य अभिलेखागारों में रखने योग्य था, पर हवा के एक झोंके में सब कुछ बह गया।

कालांतर में दूरदर्शन ने मुझे एक फिल्म निर्देशक का अवतार दे दिया। मैंने जो टेली-फिल्में लिखीं और निर्देशित कीं उन्हें पहले छोटे पर्दे पर दिखाया गया। मेरी दो सर्वाधिक प्रसिद्ध फिल्में मूलतः दूरदर्शन की प्रस्तुति थी। दर्शकों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'रैना बीति जाए' कालांतर में 'स्पर्श' बन गई और 'धुआं-धुआं' प्रसिद्ध हुई 'चश्मेबद्‌दूर' नाम से।

मैं दूरदर्शन में कार्यरत रहने के बावजूद अरुण के साथ खाली समय में बढ़-चढ़ कर थिएटर में भाग लिया करती। मूलतः दो के अपने इस दल को हमने एक रोचक नाम दे दिया था—नाट्य द्वयी। पहले हम सिर्फ मराठी नाटक किया करते पर जल्द ही उन्हें हिंदी में भी प्रस्तुत करने लगे। इनमें अधिकांश लोकप्रिय मराठी नाटकों के स्थानीय संस्करण होते। तेंदुलकर का 'सखाराम बाइंडर', एलकुंचवार का 'वासनकांड', वृंदावन दंडवते का 'कुलवृत्तांत' और मेरा अपना 'पंजे' प्रमुख हैं। मैंने नोएल कवार्ड के 'ब्लाइद स्पिरिट', गोगोल का 'इंसपेक्टर के जनरल' और नील सीमोन के 'ऑड कपुल' को पहले रूपांतरित और फिर निर्देशित किया। अनवरत चलने वाली मेरी इस गतिविधि में हमारे साथ थिएटर प्रेमियों का एक अद्‌भुत झुंड। हम सभी भावनात्मक स्तर पर भी एक ही धरातल पर होते। उन्हीं दिनों दिल्ली के मंच प्रेमियों को हमने महाराष्ट्र का शानदार लोकनाट्य भेंट किया—तमाशा। इस योगदान के लिए मुझे आज भी आत्मसंतुष्टि है। रंगकर्मियों की अति-संपन्न टोली अपने संगीत, गीत, नाच, हाजिर जवाबी, श्लील-अश्लील परिहास से दर्शकों का मन मोह लेती। चूंकि तमाशा के अधिकांश

रंगकर्मी अशिक्षित होते, इसलिए पटकथा का कोई ठोस रूप नहीं होता और कलाकार मजे से मंच पर ही जोड़-तोड़ किया करते। उनमें सामाजिक कुरीतियों एवं राजनीतिक परिदृश्य पर जबरदस्त कटाक्ष होते।

मैंने मद्‌गुलकर की 'तू वेडा कुंभार' के पंजाबी रूपांतरण 'चक्का चल्दा ए' का निर्देशन दिल्ली में किया। यह एक विचित्र अनुभव था। मैं पंजाबी समझती थी पर बोल नहीं पाती। स्वाभाविक रूप से पंजाबी खेमों में मेरा हस्तक्षेप और मेरी पहचान सीमित थी। पूर्वाभ्यासों के दौरान कलाकारों के बीच अकसर उच्चारण की बारीकियों को लेकर हंगामा हो जाता। उच्चारण की मौलिकता को लेकर श्याम अरोड़ा, कुलभूषण खरबंदा, सुधा चोपड़ा, कीमती आनंद और सुदेश स्याल, सब के सब महारथी, के बीच विवाद छिड़ जाता और हमारा अभ्यास रुक जाता। लुधियाना, अमृतसर, होशियारपुर, जालंधर और पटियाला सभी उच्चारण को लेकर मानो सचमुच लड़ाई में कूद पड़ते जबकि निर्देशिका एक कोने में बैठी चुपचाप तमाशा देखती रहती। बरसों थिएटर से सक्रियता से जुड़े रहने के बाद अंततः मैं मराठी मंच की अनुशासनहीनता से ऊब गई थी। मेरी सक्रियता उत्तरोत्तर कठिन होती जा रही थी और 'धिक तम', मेरे द्वारा लिखित और निर्देशित एक अन्य तमाशे के बाद मैंने मंच से विदा लेने का निर्णय ले लिया। 'स्पर्श' के साथ सही मायने में मेरा फिल्मी जीवन शुरू हुआ। (इसमें मेरे वृत्त-चित्र, लघु फीचर प्रस्तुतियां, और बच्चों पर बनी पूर्व की फिल्में शामिल नहीं हैं।) यद्यपि तकनीकी नजरिये से देखें तो मुझसे पहले और भी महिला निर्देशिकाएं थीं किंतु उनकी कोई खास पहचान नहीं बन पाई थी। या तो वे क्षेत्रीय दायरे से बाहर नहीं आईं या फिर उनके प्रयास उतने गंभीर नहीं थे। 'स्पर्श' को तीन राष्ट्रीय और तीन फिल्मफेयर पुरस्कार मिले। यह बड़े संयोग की बात थी और मैं भारत की सर्वप्रथम महिला निर्देशक के रूप में प्रसिद्ध हो गई थी। पर अफसोस, आज तक मैं इस महिला विशेषण से अपना पल्लू नहीं झाड़ पाई। लगभग बीस वर्षों बाद भी आज जबकि हमारे पास महिला निर्देशकों की एक पूरी जमात है, जो फिल्म निर्देशन में बहुत ही आत्मविश्वास और उत्साह से भरी है, लोग मुझसे पूछते हैं कि बतौर महिला निर्देशक मेरी सबसे बड़ी समस्या क्या रही है? उनके लिए मेरा जवाब हाजिर रहता है—"हरेक साक्षात्कार में यही बेतुका सवाल पूछा जाना।" 'चश्मे बद्‌दूर' मेरी दूसरी फिल्म थी। मेरी फिल्मों में सिर्फ इसी को कोई पुरस्कार नहीं मिला। हालांकि भारतीय हास्य फिल्मों में यह एक मील का पत्थर साबित हुई और किसी भी हल्की-फुल्की फिल्म के लिए शायद ही कभी बॉक्स आफिस पर ऐसी धूम मची हो। इस हास्य फिल्म में तरुणाई व्याप्त थी। इसमें ताजगी थी

और गुदगुदी भी। मैं तो बल्कि यह कहना पसंद करूंगी कि यह फिल्म कुछ हट कर थी।

मेरी पहली तीन फिल्में किसी अन्य बैनर तले बनी थीं। मैंने निर्णय लिया कि अपनी आगामी दो फिल्में 'दिशा' और 'पपीहा' को बतौर निर्माता-निर्देशक बनाऊंगी। यद्यपि यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था पर मुझे लगता है कि 'दिशा' मेरी सर्वाधिक पूर्ण और संतोषप्रद फिल्म है। इसे बनने में भी सर्वाधिक समय लगा—सत्रह वर्ष। ओम पुरी ने पागल परशुराम की शानदार भूमिका की, शबाना आजमी उसकी पत्नी की भूमिका में थी जबकि मुख्य किरदार थे रघुवीर यादव एवं नाना पाटेकर। हमने लोअर परेल की एक डारमिटरी (रैन बसेरा) को फिल्माया। उस डारमिटरी में 40-50 मील मजदूर रहते थे। तंग, शोषित फिर भी उत्साह से भरे! ये मील मजदूर साहस की तस्वीर थे। मुझे एक मील मजदूर की बात आज भी याद है, जिसने हंसते हुए कहा था कि उसे रात में सिर्फ सोने की जगह रहती है, करवट नहीं ले सकता। मैंने उस पंक्ति का इस्तेमाल फिल्म में किया और लोगों ने उसकी सराहना की। मैं दरअसल जीवन के यथार्थ से चोरी कर रही थी! 'दिशा' को सन् 1991 में कान्स में आयोजित क्रिटिक्स फेस्टिवल (समालोचक समारोह) में दो आश्चर्यजनक पुरस्कार मिले—बेस्ट ज्यूरी अवार्ड और पीपुल्स च्वायस अवार्ड। बाद में इस फिल्म ने कई अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों—लंदन, मांट्रियल, सिडनी, गेटेनबर्ग, मिल वैली, ताइवान, फुकोका, न्यूयार्क, काहिरा, कान्स, ओकायामा, ग्वाडेलूप, हूस्टन, चेन्नई एवं दिल्ली—में भारत का प्रतिनिधित्व किया। हालांकि यह बात मेरे मन में रह गई कि मेरे अपने ही देश भारत में 'दिशा' को राष्ट्रीय पुरस्कारों के लिए आखिरी दौर के निर्णायक मंडल के सामने दिखाए जाने के काबिल भी नहीं समझा गया।

'पपीहा' एक प्यार भरी दास्तान थी। पर्यावरण विषय पर केंद्रित इस फिल्म में एक वन्य अधिकारी और एक समाज मानवविज्ञानी हैं जो जनजातीय शोध में रत हैं। 'साज' दो बहनों की कहानी है। दोनों बहनें मुंबई के फिल्म उद्योग में गायिका हैं। इस फिल्म पर बहुत विवाद हुआ क्योंकि इसकी परिकल्पना वास्तविक जीवन के बहुत निकट थी। शबाना और अरुणा इरानी ने बहनों की भूमिकाएं की थीं। इसमें चार संगीत निर्देशक थे—और शानदार संगीत। पर दुर्भाग्यवश, प्लस चैनल, जिसके लिए यह फिल्म बनाई गई थी, एक के बाद एक समस्या से जूझता हुआ दिवालिएपन की कगार पर चला गया। इसलिए 'साज' की प्रस्तुति एक टीवी चैनल तक सीमित रह गई।

एक अन्य प्रश्न, जो लोग अनिवार्यतः पूछते हैं, यह है कि मैं 'कला' फिल्मों

से संबद्ध हूं या 'व्यावसायिक' फिल्मों से। मेरा जवाब है, किसी से नहीं। किसी भी सूरत में मुझे 'लेबल' से घृणा है। मुझे यह सोचना अच्छा लगता है कि मैंने अपने लिए फिल्मों के इस विशाल परिदृश्य में एक छोटा-सा कोना बना लिया है जहां से मजे में काम करती हूं। किसी गोल मुंह की बोतल में चौकोर ढक्कन की तरह, कभी नहीं फिट बैठने वाली! मनोरंजन में मेरी घोर आस्था है। मुझे लगता है फिल्मों की प्रस्तुति संजीदगी और दर्शक के प्रति सम्मान के साथ होनी चाहिए क्योंकि यह एक बहुत ही महंगा माध्यम है और इसमें जनता के पैसे लगे होते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि आप संवेदनाहीन होकर फिल्म बनाएं या श्लील-अश्लील का विचार त्याग दें। या फिर हॉल में उमड़ आई भीड़ को खुश करने के लिए हिंसापूर्ण खूनी खेल दिखाएं। मुझे जनता के प्रति पूर्ण श्रद्धा है और मैं जानती हूं कि वे नई चीजों का स्वागत करते हैं—बाहें फैलाकर और खुले मन से।

मैं एक बार फिर भारतीय बाल फिल्म सोसायटी से जुड़ गई हूं। इस बार अध्यक्षा के पद पर हूं। हमारा लक्ष्य है भारत के बच्चों के लिए मूल्य आधारित फिल्में बनाना। यह काम चुनौतीपूर्ण, रोमांचक और कभी-कभी दुष्कर साबित होता है। 'भारतीय' बच्चों के लिए फिल्में बनाना तो दूर, आज के परिदृश्य में 'भारतीय' बच्चों की पहचान भी कठिन है। और फिर बच्चों की फिल्में सामान्य फिल्मों की तरह सभी थिएटरों में नहीं दिखाई जा सकती हैं। बच्चे इन मामलों में अपने पर निर्भर नहीं होते। उनका फिल्म जाना स्कूल या उनके अभिभावकों पर निर्भर करता है। हमने एक योजना बनाई है जिसके अंतर्गत बच्चे किसी नियत स्थान पर सप्ताह में एक बार फिल्म देख सकते हैं। हमें तो बस इतना चाहिए कि हर नगर-महानगर में एक थिएटर हो जहां हमारी फिल्में सप्ताह में सिर्फ एक बार दिखाई जाएं। इस सोसायटी में मेरा यह दूसरा कार्यकाल है। बतौर फिल्म निर्माता मैंने एक बाल फिल्म बनाई—भागो भूत। इसमें कुछ मनमौजी ग्रामीण बच्चे थे और बेजोड़ मलयाली कलाकार नेदुमुदी वेणु का अभिनय था। तो यही है अब तक की मेरी जीवन वृत्ति। फिलहाल कई फिल्में विचाराधीन हैं। एक रहस्यमयी हत्या पर आधारित फिल्म 'खून तो होना ही था'; एक टेलीविजन धारावाहिक 'हम दो हमारे सौ'; और एक नाटक जो मैं अभी लिख रही हूं, कुछ महत्त्वपूर्ण परियोजनाएं हैं।

मैं सोचती हूं कि जीवन की कुछ अंतरंग बातों को भी कह दूं। वस्तुतः मैं थिएटर, टीवी या फिल्म लेखन, निर्देशन या निर्माण में हमेशा तल्लीन रही हूं। इसके परिणामस्वरूप मेरे जीवन एवं व्यावसायिक जीवन में अंतर नहीं रह गया

है। सिंहावलोकन में मुझे लगता है कि मैं एक अच्छी पत्नी या अच्छी मां बनने के लिए पर्याप्त समय नहीं निकाल पाई। यह दुःखद है। अरुण एवं मेरे बीच अच्छे संबंध थे पर न जाने किस मोड़ पर हमारे वैवाहिक जीवन में दरार उत्पन्न हो गई और हमने सहमति से अलग होने का निर्णय ले लिया। हां, हम अच्छे मित्र बने रहे। अलग होने के बाद भी हम बच्चो के साथ इकट्ठे कई काम करते—नाटक देखने जाते। रेस्त्रां, संगीत समारोह आदि में भी साथ-साथ जाते। लोग इस बात को लेकर निरंतर हैरान होते। अरुण बहुत मजाकिया स्वभाव के थे। प्रस्तुत है एक वाकया : दिल्ली की एक शानदार पार्टी में जैसे ही शराब परोसी गई मेरे हाथ से गिलास छूट गया। सुंदर कांच का वह गिलास टूट गया। मेजबान बहुत ही शालीन थे सो मुझे सहज-स्वाभाविक रखने के लिए तमाम औपचारिक बातें कही। मुझे दूसरा गिलास दिया गया जो मेरी साड़ी पर गिर गया। तब अरुण मेरे लिए तीसरी बार जाम (मैं शायद उसके काबिल नहीं थी) लेने गए। उन्होंने बार से ही रोबीले आवाज में पूछा, "सई तीसरी बार अपना जाम कैसे 'छलकाना' चाहोगी, सोडा के साथ या पानी के साथ?" अरुण सन् 1990 में शांतिपूर्वक गुजर गए। हालांकि उनकी मृत्यु कम उम्र में हो गई।

विनी (अश्विनी) और गौतम मेरे दो बच्चे हैं। विनी एक अच्छी कलाकार है—खासकर हास्य प्रस्तुतियों के लिए। उसने कुछ टीवी धारावाहिकों में विशिष्ट भूमिकाएं निभाई हैं। मेरी फिल्म पपीहा में उसकी मुख्य भूमिका थी। वह हालांकि अपने कैरियर के प्रति बहुत सावधान नहीं थी। परंतु उसने अपने लिए एक असली भूमिका तय कर ली—सचमुच की गृहणी और मां की भूमिका। अभय अभ्यंकर, एक नामी वकील, के साथ उसका सुखी वैवाहिक जीवन है। उनका एक छोटा-सा लाडला बेटा है। अबीर। गौतम ने अपने पारिवारिक पेशे में छलांग लगा दी है। पर वह अब भी तरह-तरह के कार्यों—छायांकन, लेखन, निर्देशन एवं अभिनय—में हाथ देता है। मेरी शिकायत यह है कि वह आज तक किसी काम पर केंद्रित नहीं हो पाया है।

व्यक्तिगत रूप से मैं कुछ एकांतप्रिय हूं। बहुत जांच-परख के बाद ही अंतरंग मित्र बनाती हूं। मेरी मां कहा करती, "तुम्हें स्वयं अपनी संगत में खुश रहना सीखना चाहिए।" मैं वही करती हूं। कोई मनमोहक किताब, टीवी का कोई सम्मोहक कार्यक्रम, गोद में एक बिल्ली...और मैं दूसरी दुनिया में चली जाती हूं। मुझे सभी जानवरों से लगाव है—खासकर बिल्लियों से। बिल्लियां बहुत ही सुंदर जंतु हैं। मुझे याद नहीं कि कभी मेरे घर में बिल्ली, बल्कि बिल्लियां, नहीं रही हों। मैं धर्म के मामले में अज्ञेयवादी हूं और धर्म से दिन-ब-दिन मेरा मोह भंग

हो रहा है। हम प्रायः इतिहास से इस मामले में सबक नहीं ले सके। आज भी धर्म के नाम पर घृणा और कत्ल करते हैं। ये धर्म ही हमें दो वर्गों, 'हम' और 'वे', में बांटते हैं। मेरी नजर में किसी अनपढ़ वयस्क को ककहरे की बारीकियां बताना या फिर किसी अंधे को समाचार पढ़ कर समझाना सबसे अच्छी पूजा है। हमारे राष्ट्र को और अस्पतालों, रैन बसेरों, उद्यानों और खेल के मैदानों, न कि मस्जिदों, गुरुद्वारों, और मंदिरों की आवश्यकता है। क्या स्कूलों को शिक्षा का मंदिर नहीं माना जाता है?

यह चिंतन तो अनवरत चलता रहेगा। मैंने परिवर्तन के लिए स्वयं अपने पर कैमरा फोकस कर दिया है और भावनाओं की 'मेड़' तोड़ दी है। एक सैलाब उमड़ पड़ा है और मुझे बहा ले जाने के लिए धमकी दे रहा है। शायद यही घड़ी है जब मुझे खुद को बांधना होगा। फिल्मी भाषा में 'पैक अप' की घड़ी आ गई है।

इंदिरा जयसिंह (जन्म : 1940) प्रथम महिला थीं जिन्हें सन् 1986 में मुंबई उच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता के पद पर नियुक्त किया गया था। विधि क्षेत्र में जीवन-वृत्ति के आरंभ से ही उन्होंने मानवाधिकार, महिला अधिकार एवं गरीब कामगार वर्गों की सुरक्षा पर ध्यान केंद्रित रखा। महिला के विरुद्ध भेदभाव से संबद्ध कई अति-महत्वपूर्ण मामलों पर इंदिरा ने बहस की। मैरी राय मामला; रूपन देओल बजाज पर लैंगिक अत्याचार का मामला; हिंदू विधि में अभिभावक के मुद्दे पर चर्चित गीता हरिहरण एवं वंदना शिवा के मामले इनमें प्रमुख हैं। उन्होंने भोपाल गैस त्रासदी के शिकार लोगों को अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनी यूनियन कार्बाइड कॉरपोरेशन के विरुद्ध मुआवजे के उनके दावों के लिए भारत के सर्वोच्च न्यायालय में उनका प्रतिनिधित्व किया।

इंदिरा जयसिंह ने मुंबई के फुटपाथों पर रहने वालों के लिए पैरवी की और बेघर लोगों के लिए घर के अधिकार हेतु अभियान में भागीदारी भी की। वह कई लोक आयोगों से भी जुड़ी रही हैं। वर्तमान में इंदिरा पंजाब में हिंसा पर बने लोक आयोग को सहयोग दे रही हैं। यह आयोग सन् 1979-1990 की अवधि में पंजाब में हुए गैर-न्यायिक मृत्यु दंडों, गुमशुदगी और सामूहिक अंतिम संस्कारों की छान-बीन कर रही है।

इंदिरा जयसिंह 'द लॉयर्स कलेक्टिव' की संस्थापक-सचिव हैं। अधिवक्ताओं एवं कानून के छात्रों का यह संगठन शोषण की शिकार महिलाओं की अपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने में संलग्न है। वर्तमान में इंदिरा 'लॉयर्स कलेक्टिव वीमेंस राइट्स इनीसिएटिव' की निदेशिका हैं। यह संगठन महिला अत्याचार खत्म करने के लिए प्रतिबद्ध है और घरेलू हिंसा पर सिविल लॉ का मसौदा तैयार करने में संलग्न है।

भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष और समाज के कमजोर वर्गों के लिए आवाज उठाकर इंदिरा ने जो राष्ट्र सेवा की उसे देखते हुए सन् 1998 में उन्हें रोटरी मानव सेवा सम्मान दिया गया।

8

प्रजातांत्रिक वकालत

इंदिरा जयसिंह

मुझसे अकसर कुछ सवाल पूछे जाते हैं : "आप जो हैं वह कैसे बनीं? पुरुष प्रधान क्षेत्र में कैसे आगे बढ़ीं? सामाजिक न्याय के मुद्दों पर कैसे काम शुरू किया?" सच कहूं, मुझे नहीं पता। प्रायः इन प्रश्नों के वास्तविक उत्तर नहीं हैं। या सभी उत्तर अपने अतीत की बुद्धि-संगत व्याख्या हैं। या फिर विस्थापन की कुछ यादें हैं जो सदैव मेरे साथ रहीं, और मुझे कानून के सक्रियतावाद की मनमोहक दुनिया में ला खड़ा किया। मेरा परिवार सिंध प्रांत में था जो सन् 1947 के विभाजन के समय या उसके आसपास पलायन कर भारत आ पहुंचा। मेरी स्मृतियों में दादा-दादी का पाकिस्तान स्थित घर आज भी बसा है। मैं उसे बचपन का घर मानती हूं। विभाजन की भयावहता तो मुझसे और मेरी स्मृतियों से जाती रही पर पुश्तैनी घर की ललक नहीं मरती। मैं तो कभी-कभी इस सोच में पड़ जाती हूं कि क्या यह पलायनवाद का एक रूप नहीं! या अतीत के साथ मेरे सच्चे नाते का लक्षण! वर्षों बाद मैंने पाकिस्तान की यात्रा की। अपने परिवार में यह कदम सिर्फ मैंने उठाया था। बड़े-बुजुर्गों को इसकी कोई चाहत नहीं थी। पर मुझे विस्मय की वह घड़ी अब भी याद है जब मैंने सरकारी कार्यालयों के लोगों, वीज़ा अधिकारी, पुलिस अधिकारी को आपस में और मुझसे सिंधी में बात करते सुना। मुझे पहली बार अहसास हुआ कि मेरी मातृभाषा भी वस्तुतः दुनिया के कुछ भागों में बहुसंख्यक समुदाय द्वारा बोली जाती है। भारत में अपनी बाल्यावस्था में ही मैं समझ गई थी कि प्रांतीय भाषाओं से बंटे एक देश में जो भाषा मैं बोलती उसका अपना कोई प्रांत न था। यह बात मुझे प्रांतहीन होने का अहसास कराती। यह बात स्कूल के दिनों से ही मुझे खलती रही और मैं कभी-कभी सोचती हूं कि कुछ मायनों में इसने मुझे एक प्रकार की उन्मुक्त आजादी दी है। गतिशीलता और पहचान की आजादी। यों कहें खुद की बनाई पहचान की आजादी। मैं जानती हूं मेरे अपने परिवार में बाद की पीढ़ियां यह बात इतनी सिद्दत से अनुभव नहीं

करतीं, न ही उनकी स्मृतियां वही हैं। कभी-कभी लगता है शायद मैं 'मध्यरात्रि के बच्चे'—स्वतंत्र भारत की पहली पीढ़ी, के कानूनी हक के लिए लड़-बढ़ रही हूं। मोटे तौर पर मेरा बचपन सामान्य रहा। एक व्यावसायिक परिवार में जन्म होने के कारण मैं करांची बंदरगाह से मुंबई बंदरगाह तक यात्रा करने की आदी थी।

सिंधी परिवार की सभी लड़कियों की भांति मुझसे अपेक्षा यह थी कि कम उम्र में ही शादी कर, बच्चे पैदा करूं और घर बसा लूं। मैंने ऐसा कुछ भी नहीं किया। (मैंने बहुत बाद, जब मुझे लगा कि अपनी जीवन-वृत्ति में एक स्तर की स्वाधीनता और स्वायत्तता प्राप्त कर ली थी तब शादी की।) मेरे माता-पिता ने मेरे हाथ पीले कर देने का प्रयास शुरू किया ही था कि दहेज का सवाल उठ खड़ा हुआ। मुझे भली-भांति याद है किस प्रकार मेरे भावी सास-ससुर ने मेरे माता-पिता से दहेज की सौदेबाजी की थी। मैं सहम कर रह गई थी। हमारा संयुक्त परिवार था और मैंने अपनी चचेरी बहनों की शादियां दहेज के मोल-तोल के बाद होते देखी थी। दरअसल सिंधी समुदाय में दहेज के रिवाज की जड़ें मजबूत और मान्य थीं। इसे कोई चुनौती नहीं थी। मेरे माता-पिता भी इसे स्वाभाविक मानते थे और उन्होंने मेरी शादी के लिए भी यही सफाई दी थी। सिंध में तो यह इस तरह फैला था कि उसका अपना ही एक दहेज-विरोधी कानून था—सन् 1961 के कानून से बहुत पूर्व! ऐसा लगा हमारा समुदाय विभाजन के बाद भी अपनी सबसे रूढ़िवादी परंपरा को ढोते हुए भारत पहुंचा। पर मुझे पता था मेरे लिए जिंदगी का अर्थ कुछ और था।

विवाह में अपनी सौदेबाजी को नकार कर मुझे अपने महत्त्वपूर्ण होने का अहसास हुआ। कम उम्र में शादी और फिर बच्चे पैदा करने का विकल्प निरस्त होते ही मेरे समक्ष एक मनचाही जीवन-वृत्ति का विकल्प था। कार्य करने और खुद अपनी जीविका अर्जन करने की क्षमता तो मुझमें थी। सो मैंने जीवन का वही विकल्प चुना और कानून के क्षेत्र में जाने की ठान ली। परिवार में एक भी कानूनवेत्ता न होने से मुझे पुनः खुद को अपना रास्ता बनाने की आजादी और क्षमता मिल गई। मेरा विश्वास है मेरी 'सफलता' का अधिकांश श्रेय इस तथ्य को जाता है कि मेरे परिवार में एक भी व्यक्ति कानून के क्षेत्र में नहीं था और इसलिए मैं स्वयं अपने आदर्श को चुनने के लिए स्वतंत्र थी। पर अफसोस, मुझे एक भी नहीं मिला। एक बार फिर मुझे स्वयं अपना आदर्श बनाना पड़ा। इस प्रकार मैं कानून की प्रक्रिया में संलग्न रही। हमने बीसवीं एवं इक्कीसवीं सदियों को देखा है, जीवन-यापन किया है। और मैंने तो कानूनवेत्ताओं के परिवारों की तीन-तीन पीढियों को देखा है—बाप से बेटे और फिर पोते तक—पर कभी भी मां

से बेटी (या बाप से बेटी) और फिर उसकी बेटी तक नहीं। मैंने कानून को एक पेशे से पारिवारिक व्यवसाय में बदलते हुए देखा है। इतना ही नहीं मैंने एक ही परिवार के लोगों, बाप से बेटे तक, को न्यायाधीश बनते देखा है। यह तो न्यायाधीश के कार्यालय का पुश्तैनी कार्यालय बनना ही हुआ! मैं सोचा करती किस प्रकार एक प्रजातंत्र में इस प्रकार की परिघटना संभव हो पाती। मेरे सौभाग्य ने मुझे उस चक्रव्यूह से बचाए रखा और परिस्थिति को वस्तुनिष्ठ एवं समालोचनात्मक दृष्टि से देखने का अवसर दिया।

मैंने जब इस पेशे में कदम रखा उस वक्त एक प्रकार की जड़ता (ठहराव) उसमें विद्यमान थी। यह पेशा कतई परिवर्तन की ओर उन्मुख न था। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के समय से ही चली आ रही विधि की प्रक्रियाओं को अपनाना ही इस पेशे में रहने का एकमात्र रास्ता था। ब्रिटिश द्वारा छोड़े गए तंत्रों, तकनीकियों एवं प्रक्रियाओं को आत्मसात करना अनिवार्य था। उदाहरण के लिए अधिवक्ता अधिनियम का मुख्य उद्देश्य था कानूनवेत्ताओं का एक वर्ग तैयार करना, और अन्य सभी देशी कानूनों के विशेषज्ञों की छुट्टी करना। बिना सोचे हमने इस पेशे की एकरूपता को स्वीकार कर लिया था। एक पल भी यह नहीं सोचा कि क्या उस जड़ता की स्थिति में वह इस देश की विशाल विविधतापूर्ण आबादी की सेवा कर सकता है, उसकी आवश्यकताएं पूरी कर सकता है? उन दिनों न्यायालय, यहां तक कि उच्च न्यायालय एवं सर्वोच्च न्यायालय भी, अपने संवैधानिक दायित्व से अवगत नहीं थे और न्यायपालिका को विवाद निपटान के एक मंच से अधिक कुछ नहीं मानते।

मैं अपने काम को प्रासंगिक बनाने के लिए रास्ता और साधन ढूंढ़ने में लगी रही। यह सिर्फ मेरे लिए नहीं, अन्यों के लिए भी था। संयोगवश मुझे लंदन स्थित इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड लीगल स्टडीज का फेलोशिप मिल गया और वहां मैं सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु 'सक्रियतावादियों' के तरीकों से रू-ब-रू हुई। वहां मैं कई लोगों से मिली जो कानून के साथ एक मिशन में जुटे थे, जो स्वयं उनसे बड़ा था। यह साठ के दशक के मध्य की बात है—उस समय की, जब पूरी दुनिया में 'सक्रियतावाद' तीव्र था।

सन् 1975 में घोषित आपातकाल जैसी भयावह घटना ने भारतीय समाज का ध्रुवीकरण कर दिया और हम सभी को एक कठिन निर्णय करना पड़ा। राजनीति का एक पाला चुनना पड़ा। मैंने आपातकाल का विरोध करने की ठान ली और अन्य बहुतों के साथ काम किया जो तमाम नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर पाबंदी का विरोध कर रहे थे। इसने मेरी जिंदगी में एक नया मोड़ दिया,

और मुझे लगता है न्यायपालिका की जिंदगी में भी। मैंने अपनी आंखों से इसे राजनीतिक शक्ति के सामने ढहते हुए देखा। न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ की आज प्रसिद्ध हो गई उक्ति कि उन्हें 'हीरे-सा जगमग और हीरे की भांति ठोस' उम्मीद थी कि सरकार अपने बंधकों से अपने बच्चों की भांति व्यवहार करेगी, देश के लिए बहुत घातक सिद्ध हुई। उन्होंने स्वयं और उनकी तरह सोच रखने वाले सभी न्यायाधीशों ने उन्हीं लोगों (जनता) को छला जिनकी रक्षा के लिए वे उस आसन पर बैठे थे।

आपातकाल के दिनों ही हममें से कुछ, जो इसका विरोध कर रहे थे, के मन में यह विचार आया कि हमें कानूनवेत्ताओं का एक संगठन बनाना चाहिए जो मजदूर संघों के सक्रियतावादी सदस्यों की हिफाजत करेंगे। उन्हें कैद करना और सताना उन दिनों आम बात थी। हमने कर्मचारी कानून केंद्र बनाया। चूंकि आपातकाल का तत्काल कारण रेलवे हड़ताल थी सो हम रेलवे के निष्कासित और पीड़ित कर्मचारियों एवं अन्य लोगों को न्यायिक सेवा दिलाने में व्यस्त हो गए। यह केंद्र सन् 1980 में स्थापित 'लॉयर्स कलेक्टिव' का पूर्वगामी था। दोनों के उद्देश्य एवं लक्ष्य एक थे। फर्क सिर्फ इतना था कि बाद वाली संस्था ने अपनी पहुंच समाज के अन्य वर्गों—महिलाओं, बच्चों और 'अंडरट्रायल' तक बढ़ा ली थी। सन् 1986 में इस संस्था ने देश की पहली विधि पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। पहली संपादकीय में उल्लिखित इसका उद्देश्य था—न्यायपालिका के इर्द-गिर्द व्याप्त 'चुप्पी की संस्कृति' को तोड़ना; उन्हें विधि-साहित्य सहज भाषा में उपलब्ध कराना जिन्हें इसकी सबसे अधिक जरूरत थी; और समाज के जरूरतमंद वर्गों की न्यायिक समस्याओं का समाधान करना। पत्रिका का नियमित प्रकाशन आज भी हो रहा है और इसके उद्देश्य भी वही हैं। 'द लॉयर्स कलेक्टिव' भी परिवर्तन के कई दौर से गुजर चुका है और अन्य संगठनों के लिए आदर्श साबित हुआ है। इसकी एक महिला अधिकार परियोजना है; एक एच आई वी/एड्स परियोजना; और एक मानवाधिकार प्रकोष्ठ, लेकिन अधिकांश ऐसी संस्थाओं की भांति इसके समक्ष भी नेतृत्व की समस्या है। यह एक ऐसी चुनौती है जिसे पूरा करने के लिए हम संघर्षरत हैं। पर कटु सत्य यह भी है कि प्रशिक्षण प्राप्त कानूनवेत्ता व्यक्तिवादी हो जाते हैं—संस्था निर्माण का दायित्व लेने की क्षमता नहीं रखते। 'द लॉयर्स कलेक्टिव' भी इस कमी से अछूता नहीं है। सतत विकास की समस्या के समाधान के लिए यह एक निरंतर संघर्ष है। आज यह संगठन उन क्षेत्रों के अंदर कानूनी सहायता प्रदान करने एवं विधि सेवा देने में लगा है जो उन समूहों से संबद्ध है जिनकी सेवा में हम संलग्न हैं। साथ ही यह कानून सुधार में भी लगा

है। इसका एक उदाहरण है घरेलू हिंसा पर एक नियम बनाने के लिए जारी हमारा अभियान। आज की तारीख में केंद्र सरकार के मंत्रिमंडल ने घरेलू हिंसा पर एक दीवानी कानून बनाने का निर्णय लिया है। यह संगठन इस अभियान के मसौदे तो नहीं तैयार कर सकता, पर यह नीति-निर्माण के स्तर पर हस्तक्षेप करने के प्रयास में है, न कि सिर्फ अलग-अलग मामलों को निपटाने के पक्ष में। इन गतिविधियों का अर्थ है अपनी स्वायत्तता को खोए बिना सरकार के साथ नए समीकरणों की स्थापना।

राजनीतिक रूप से आपातकाल खत्म करने के बाद न्यायपालिका ने एक नया रास्ता अख्तियार कर लिया। इसने प्रजातांत्रिक दायरा बनाना प्रारंभ किया जिसके अंदर हाशिये पर खड़े लोगों की आवाजें सुनी जा सकें। इसने जनहित याचिका की शुरुआत की जिसके तहत नागरिकों के मौलिक अधिकारों के हनन पर आवाज बुलंद की जा सके। प्रारंभिक दिनों में न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती ने जनहित याचिका के सैद्धांतिक आधार को मुखर करने का प्रयास किया, अब वह प्रयास छोड़ दिया गया है। न्यायमूर्ति भगवती ने ही कहा था कि जनहित याचिका की आवश्यकता है क्योंकि 'विरोधजन्य न्याय' का यह ब्रिटिश मॉडल भारतीय परिवेश के लिए उपयुक्त नहीं है। उन्होंने कहा कि विरोधजन्य न्याय तंत्र यह मानकर चलता है कि लोग अपने अधिकारों के संबंध में उच्च स्तरीय सूचना एवं जानकारी रखते हैं। यह 'स्वयं चोट की पहचान, उसका विरोध और स्वयं उपचार के चयन' पर आधारित था। पर भारत सदृश किसी देश में लोगों की एक विशाल संख्या के लिए यह विकल्प नहीं खुला था क्योंकि यहां अशिक्षा और गरीबी व्याप्त रही है। इसलिए यह अनिवार्य था कि संभ्रांत समाज को यह छूट मिले कि वह जनहित में उन लोगों की ओर से हस्तक्षेप करे जिनके अधिकारों का हनन होता है। हालांकि मैंने राष्ट्रीय इतिहास के इस चरण को विलीन होते भी देखा है। बड़े दुख की बात है कि जनहित याचिका के पीछे खड़े तर्काधार को यथार्थतः कभी-कभी उसके तर्कपूर्ण निष्कर्ष तक नहीं ले जाया जा सका। इसके लिए कानून में औपनिवेशिक धरोहर को पूर्णतया उधेड़ कर रख देने की आवश्यकता होती, जो नहीं हुआ। इसके परिणामस्वरूप आज मध्यम वर्ग ने जनहित याचिका को अपने अधिकार में कर लिया है। यह वर्ग अपने हित में न्यायालय का कामगार वर्ग की अपेक्षा अधिक इस्तेमाल कर सकता है। न्यायाधीशों ने भी जनहित याचिका का विधिसम्मत आधार नहीं समझा, आत्मसात नहीं किया और इसलिए वे सदैव उच्च वर्गों के लिए न्यायालय का दरवाजा खोलने को तत्पर रहते हैं। इसी वर्ग ने जनहित याचिका को भी संकीर्ण स्वार्थों, लक्ष्यों की प्राप्ति

का जरिया बना लिया है।

अस्सी के दशक के प्रारंभ में यह समझने के लिए कि क्या अधिकारों, मौलिक अधिकारों समेत, का भी हनन हो रहा था, न्यायालयों ने तत्परता से सक्रियतावादी भूमिका अपना ली। बंधुआ मजदूरों, बाल श्रमिकों एवं अंडरट्रायल सदृश शोषित समूहों के पास आवाज उठाने का कोई चारा नहीं था। इसलिए उनकी ओर से अन्यों को आवाज बुलंद करने की इजाजत दी गई। न्यायालय द्वारा सृजित इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में मैं भी एक प्रतिभागी थी और इन विचारों को लेकर उत्तेजित थी। मुंबई के फुटपाथ-निवासियों, बेघर लोगों के मुद्दे को उठाने में मेरी सक्रियता मेरे जीवन के इसी चरण से संबद्ध है। न्यायालयों द्वारा खोले गए प्रजातांत्रिक मोर्चों पर मैंने तत्परता से अधिकार जमा लिया; इसके लिए मैं तैयार बैठी थी। हममें से बहुतों के लिए यह एक नई शुरुआत थी—खासकर उनके लिए जो इस विश्वास के साथ डटे थे कि इस पेशे का एक सामाजिक दायित्व भी था, न कि यह एक पेशा मात्र था। इससे पूर्व न्यायालय सिर्फ दीवानी अधिकारों के मामले में उलझा रहता और इसके पास सामाजिक या आर्थिक आधारों पर सोचने के लिए बहुत कम, बल्कि बिल्कुल समय नहीं होता। आपातकाल के पश्चात् भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने इन मुद्दों पर भी कार्रवाई शुरू की।

मैंने अपनी पसंद के विषय पर बहुत तन्मयता से काम प्रारंभ कर दिया। पारिवारिक कानून के क्षेत्र में महिलाएं और उनकी समस्याएं मेरे लिए अकसर चिंता के विषय होतीं। अब न्यायालय समानता के संवैधानिक अधिकार को गंभीरता से ले सकते थे। इसी अवधि में अंडरट्रायल्स, बंधुआ मजदूर एवं बाल श्रमिक तथा फुटपाथ पर बसर करने वाले लोगों के अधिकार पनपने लगे। हालांकि उस अवधि के गुण-दोष पर बहस करने की यह न तो सही घड़ी है, और न ही स्थान। मैं दरअसल जो कहना चहती हूं वह यह कि न्यायालय के द्वार उन लोगों के लिए खुल गए जो वंचित वर्ग के थे। इस प्रक्रिया में मेरे सदृश कई लोग, जिन्हें लगता न्याय-व्यवस्था में उनकी कोई जगह नहीं है, यह अनुभव करने लगे कि वे भी एक प्रजातांत्रिक और न्यायपूर्ण विधि व्यवस्था के निर्माण की दुस्साहसी गतिविधि में शामिल थे।

वे बहुत ही रोमांचक दिन थे। हम न्यायालय के इतिहास लिखने की प्रक्रिया में तल्लीन थे। बड़े-बड़े न्यायाधीशों से हमारा वास्ता पड़ता। लेकिन एक बात जो सदैव कचोटती रही वह यह थी कि जो न्यायाधीश आज मानवाधिकारों के रक्षार्थ इतने शानदार निर्णय देने लगे थे उन्होंने ही आपातकाल के दौरान भी निर्णय दिए थे। इसीलिए मैं कभी भी न्यायपालिका में अपनी पूर्ण आस्था नहीं बना पाई।

एक प्रकार से यह अच्छी बात थी क्योंकि इससे मुझे इस परिदृश्य में अपनी भूमिका तय करने में सुविधा हुई। इससे मुझे स्वायत्तता मिली। और आज तक न्याय क्षेत्र में व्याप्त कदाचार और गलत संरक्षण की परंपरा से मैं सचमुच मुक्त हो गई। मैं सत्ता-शासन में बने लोगों से दूरी बनाए रखने में भी कामयाब रही। मैंने कभी भी सार्वजनिक पद पर जाने का प्रयास नहीं किया और एक 'बाहरी' की भूमिका बखूबी निभाती रही। इसके तमाम लाभ भी उठाती रही।

मेरी महिला मुवक्किलों ने मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया। केरल में रह रहे सीरियाई ईसाइयों पर लागू एक अन्यायपूर्ण कानून के सामने मैरी रॉय ने घुटने टेकने से इंकार कर दिया। कथित विधान के अंतर्गत बेटियों को उनके भाइयों के पक्ष में वस्तुतः जमीन-जायदाद से हाथ धोना पड़ता था। उन महिलाओं के लिए, अनेकों अन्य महिलाओं की भांति, समानता की आवश्यकता सिद्दत से महसूस की जा रही थी। मैरी रॉय अपनी शादी टूट जाने के बाद अपने पैतृक घर आ गई थी जहां उसे कहा गया कि संपत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं है। एकमात्र समानता के अधिकार में अपनी अडिग आस्था के साथ उसने न्याय के लिए सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया। उन्हीं दिनों मैं उसे मिली और हमने उसके लिए समानता के अधिकार को मूर्तरूप देने के लिए काम किया। हम न्याय पाने में सफल रहे। अपेक्षाकृत अधिक समानता वाला कानून बना जिसके अंतर्गत मैरी रॉय अपने भाई-बहनों के बराबर पुश्तैनी संपत्ति प्राप्त कर सकती थी। सचमुच, उसने मुझे संविधान द्वारा सुनिश्चित समानता के अधिकार से अवगत कराया। हालांकि इस निर्णय से उसका संघर्ष संपन्न नहीं हुआ। मुझे नहीं लगता कि आज तक मैरी रॉय को उससे लाभ मिला है। पर वह जानती है कि उसके समान, वैसी ही दशा में रहने वाली, अनेक महिलाओं को लाभ हुआ। मुस्लिम महिला (तलाक की दशा में अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 1986 पर सवालिया निशान लगाने वाली महिलाओं में पी. के. सरू का नाम अग्रगण्य है और मुझे उसके मामले को पेश करने का सौभाग्य मिला था। उसे भी न्याय प्राप्त करने में सफलता मिली। इसने तलाकशुदा मुस्लिम महिला को तर्कसंगत और सही प्रावधान एवं जीविका का अधिकारी बना दिया था। इतना ही नहीं जीविका का यह अधिकार 'इद्दत की मुद्दत' तक सीमित नहीं था। मैरी रॉय और उसमें जो समानता थी वह यह कि दोनों किसी भी अन्यायपूर्ण कानून को 'नहीं' कहने की हिम्मत रखती थीं। वर्षों बाद, गीता हरिहरण और वंदना शिवा ने, अपने-अपने ढंग से हिंदू कानून के अंतर्गत पुष्ट इस विचार को मानने से इंकार कर दिया कि पिता ही बच्चे का 'स्वाभाविक अभिभावक' होता है। दोनों ने इसके औचित्य पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। वंदना शिवा की दलील थी कि इस

कानून में अधिकारों और कर्त्तव्यों का अन्यायपूर्ण विभाजन है—पुरुषों को अधिकार मिले, महिलाओं को जिम्मेदारी। इसके सदृश ही महिलाएं, भिन्न-भिन्न धर्मों से जुड़ीं, ऐसे मुद्दे उठाती रहीं जो महिलाओं के लिए राष्ट्रीय स्तर पर चिंता के कारण थे। इनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने ढंग से मुझे सिखाया कि इस देश की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति आवाज उठाने की जीजीविषा और लगन है।

भोपाल गैस कांड की त्रासदी के कारण मुझे दिल्ली आकर यहां अपना निवास बनाना पड़ा ताकि मैं इसकी दैनिक सुनवाई में भाग ले सकूं। वस्तुतः यह शहर सफल अधिवक्ताओं के लक्ष्यों का अंतिम पड़ाव है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय प्रायः विश्व का सर्वाधिक सबल न्यायालय है। इसमें न सिर्फ कानून बनाने और मिटाने का सामर्थ्य है, बल्कि यह संविधान में भी फेर-बदल करवा सकता है। यही निर्धारित करता है कि संविधान के मुख्य लक्षण क्या हैं; किसे सार्वजनिक पदों से हटाया जाना चाहिए; महिलाओं के क्या अधिकार हैं; शहरों को कैसे साफ एवं प्रदूषण रहित बनाया जाए; कैसे बांध बनाए जाएं या वनों का संरक्षण कैसे हो; और फिर शिक्षा को कैसे मौलिक अधिकार बनाया जाए। अधिकांश सफल अधिवक्ता सार्वजनिक पद यथा एटार्नी जनरल या सॉलिसिटर जनरल पद पाकर या सांसद बन कर दिल्ली को अपना घर बना चुके हैं। वस्तुतः वकीलों एवं राजनीतिज्ञों के बीच सदा से निकट का संबंध रहा है लेकिन मेरे मामले में कहें तो ऐसे संबंधों की लकीरों में से किसी पर चलकर मैं दिल्ली नहीं पहुंची। यह तो बल्कि यूनियन कार्बाइड की देन है। त्रासदी के परिणामस्वरूप जारी कानूनी प्रक्रिया के सिलसिले में सन् 1989 में भोपाल गैस त्रासदी अधिनियम को दी गई चुनौती की सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय में शुरू हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि मुझे दिल्ली में अपनी निरंतर उपस्थिति के बारे में निर्णय लेना पड़ा था। वैसे भी मेरी जीवनधारा मेरे काम का अनुसरण ही करती है।

मुझसे अकसर पूछा जाता है, खासकर महिला वकील पूछती हैं : आप इस पुरुष प्रधान पेशे में कैसे डटी रहीं? मेरी समझ से इसका उत्तर विविध मुद्दों में अंतर्निहित होता है, जिनके लिए मैं न्यायालय का दरवाजा खटखटाती रही हूं। मैं वंचित वर्ग के जिन लोगों की अत्यावश्यकता का प्रतिनिधित्व करती हूं उनके पास अपने अधिकारों को मनवाने के लिए न्यायालय की चौखट पर जाने के सिवा कोई विकल्प नहीं होता है। मुझे कभी-कभी ऐसे तर्क सुनने को मिलते हैं कि महिला या अन्य प्रजातांत्रिक आंदोलनों को न्यायालय का रास्ता नहीं अपनाना चाहिए, बल्कि उन्हें अन्य मंचों पर चुनौती देनी चाहिए। उनके लिए मेरा जवाब यह है कि संपन्न और अधिकार प्राप्त लोगों को कानून की आवश्यकता नहीं होती।

वंचित वर्गों को ही इसकी नितांत आवश्यकता है क्योंकि उनके पास संघर्ष का कोई अन्य हथियार नहीं है। उसी मायने में, बल्कि सिर्फ उसी मायने में मेरे लिए कानून की सत्ता का कोई अर्थ है। पुरुष-प्रधान क्षेत्र में उत्तरजीविता के लिए जरूरी है कि आप संशयवादी नहीं हो जाएं क्योंकि इस प्रवृत्ति के उत्पन्न होते ही आप मैदान छोड़ देंगे। मैंने सदैव इस प्रवृत्ति को नजरअंदाज किया है क्योंकि मुझे कानून की सत्ता में पूरी आस्था है। मेरी उत्तरजीविता एवं मेरा विश्वास दोनों मेरे द्वारा अपनाई गई बाहरी (न्याय प्रशासन से बाहर) भूमिका पर निर्भर करते हैं। अपनी इस भूमिका में मैं बतौर एक सक्रिय कार्यकर्ता, बल्कि एक हठी महिला की तरह कार्यरत हूं। एक रोचक मायने में मैं इस पुरुष प्रधान पेशे में अपनी सफलता का श्रेय अपनी स्त्रीत्व को भी दे सकती हूं।

आज जिस न्यायालय में मैं कार्य करती हूं वह आपातकाल के युग का न्यायालय नहीं है। हम वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के युग में रहते हैं और मैं इस सोच से परे नहीं रह सकती कि ये मुद्दे न्यायिक प्रवृत्ति को प्रभावित करते हैं। एक समय की बात थी जब आप न्यायालयों में राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों पर आधारित बहस सुन सकते थे। लोक कल्याणकारी राज्य, अल्प मात्रा में पाए जाने वाले संसाधनों के राष्ट्रीयकरण, भौतिक संसाधनों के पुनर्वितरण, कार्य के लिए मानवीय और न्यायसंगत परिवेश और 'शोषण' के शिकार लोगों की समस्या आदि न्यायालयों के मुख्य मुद्दे होते थे। आज यदि आप इन सिद्धांतों को न्यायालयों में रखेंगे तो वहां ठहाके लगेंगे। आज राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों में एक अलिखित परिवर्तन हो गया है। 'विनिवेश', 'उदारीकरण' और 'वैश्वीकरण' राष्ट्र और न्यायपालिका के नए मंत्र बन गए हैं। उनका प्रभाव विनाशकारी हो रहा है। दास प्रथा सदृश मजदूरों की ठेकेदारी को समाप्त करने के लिए दलील देते हुए मैंने ये तर्क भी सुने कि ठेकेदारी प्रथा उदारीकरण एवं विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए अनिवार्य है। नगरों को साफ रखने के लिए नगर निगमों के दायित्व के एक मामले पर बहस करते हुए मैंने लोगों को यह दलील देते हुए सुना कि सफाई कर्मचारी इसलिए अपना काम नहीं करते हैं क्योंकि उन्हें अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार) संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत संरक्षण प्राप्त है और यदि हम अपने शहरों को साफ रखना चाहते हैं तो निश्चय ही इस अधिनियम को निरस्त करना होगा। दलील में यह भी कहा गया कि यदि आप किसी सफाई कर्मचारी को उसकी जाति का नाम लेकर पुकारते हैं तो अधिनियम के अंतर्गत आप पर मुकदमा हो सकता है। अतः इसे निरस्त कर दिया जाए ताकि शहर की सफाई व्यवस्था बनी रहे। ऐसे में यह प्रतीत होता है कि न्यायालय में उदारीकरण एवं जातिवाद हाथ-में-हाथ लिए बढ़ते हैं।

आज न्यायालयों के समक्ष बाल मजदूरी एवं बंधुआ मजदूरों से संबद्ध मुद्दे मात्र नहीं है। चुनौतियां बहुत बढ़ गई हैं। यदि ये मुद्दे ही हैं, तो उन्हें मात्र लोक कल्याणकारी दृष्टिकोण से नहीं निपटाया जा सकता है। उन्हें राजनीतिक जरिये से निपटाना होगा। न्यायालय के समक्ष मुंह बाए मुद्दों का दायरा बहुत बढ़ गया है। आज मोनसांटो कंपनी द्वारा बिना जांच-परीक्षण के, वातावरण में आनुवंशिक तत्त्वों का बिखेरा जाना चुनौती के घेरे में है। सरदार सरोवर बांध के निर्माण का औचित्य न्यायालय को समझाना पड़ रहा है। ट्रिप्स (टी आर आइ पी एस) समझौते पर हस्ताक्षर संबंधी मुद्दे भी हैं। दवाइयों की पेटेंटिंग और इस प्रकार उन्हें जन-सामान्य की पहुंच से दूर करने का मुद्दा है। इसके परिणामस्वरूप जन-स्वास्थ्य का मामला निश्चय ही चिंता का विषय हो जाएगा। और फिर बहुराष्ट्रीय संस्थाओं जैसे विश्व व्यापार संगठन एवं विश्व बैंक के समक्ष राष्ट्रीय संप्रभुता को दांव पर रखने के मामले को चुनौती सदृश मामले भी शामिल हैं। सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में मेरी भूमिका, और मैंने जिन महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया उनके साथ मेरे संबंधों से मुझे ऐसे मुद्दों की जटिलता के बारे में पता चला। सामान्यतया न्यायाधीश इन मुद्दों से निपटने हेतु सब तरह से तैयार नहीं होते—अकसर, वे सुलभ रास्ता अपनाते हैं। वे राजनीतिक रूप से उन मुद्दों का समाधान करते हैं या अपने प्रत्यक्ष पूर्वाग्रहों के आधार पर। इस दशा में सर्वोच्च न्यायालय में भी कभी-कभी हताशा हो जाती है। पर ये विसंगतियां ही मुझे प्रेरित करती हैं। ऐसा कभी नहीं होता है जब मैं कह सकती कि मेरा कार्य संपन्न हुआ।

अपने संतोषजनक कैरियर के अंत की ओर अग्रसर मैं अपनी 'उपलब्धियों' या उनके अभाव पर विचार करती हूं। दरअसल मैं अपने समय की देन हूं। मेरी स्वतंत्र विचारधारा का राज यह है कि मेरा कोई आदर्श नहीं था और मैं अपना आदर्श स्वयं बनाने को स्वतंत्र थी। इस राह में बाधाएं थीं। मैं पुरुष-प्रधान पेशे में एक महिला थी और मैंने वंचितों को प्रतिनिधित्व देने की ठानी थी। उनकी यह कमी, और उन्हें दूर करने की जिम्मेदारी मेरे कंधे पर आन पड़ी। हम पुरुष-प्रधान पेशे के 'अछूतों' में थे। लेकिन सिंहावलोकन करने पर मुझे लगता है कि 'अछूत' की मेरी हैसियत मुझे अपने पेशे में संघर्षरत रहने के लिए प्रेरित करती रही है। यह संघर्ष सफल रहा। इतिहास के उदाहरण मेरे संबल बने। मेरे साथ अधिवक्ताओं का एक छोटा समूह था जो हमारे समय के अनुरूप प्रतिबद्ध था। हमने मिलकर प्रजातांत्रिक वकालत की एक परंपरा बनाई। उम्मीद है यह परंपरा बनी रहेगी। इसकी दशा वैसी नहीं होगी जैसी कि अस्सी के दशक में थी क्योंकि देश के इतिहास का वह चरण खत्म हो गया है। वर्तमान शताब्दी के कानूनवेत्ताओं को,

यदि उन्हें प्रजातांत्रिक परंपरा में कार्यरत रहना है, राजनीतिक प्राणी बनना होगा क्योंकि चुनौतियां मुख्यतः राजनीतिक हैं।

कुछ वर्षों पहले एक ऐसा समय आया जब मैंने सोचा कि मेरी व्यक्तिगत यात्रा खत्म हो गई। पर अब लगता है कि वह घड़ी कभी नहीं आएगी जब मैं ऐसा कह पाऊंगी। मैं वह सब करने की हसरत रखती हूं जो मुझे पसंद है, पर वर्षों से नहीं कर पाई जैसे चिड़ियों को निहारना, मित्रता और सार्थक संबंध बनाना; माता-पिता एवं परिवार के साथ समय बिताना। मैं समझ गई हूं कि कानून ही मेरा सर्वोपरि प्रेम है। यह मेरे लिए पेशा मात्र नहीं, और इस व्यवस्था एवं पेशे में आए पतन के विरुद्ध संघर्ष की आवश्यकता मुझे व्यस्त रखती है। पुरे जीवन में आनंद के पल तलाशने के लिए रास्ता ढूंढ़ना होगा।

क्या मेरे साथ भेद-भाव हुआ? हां, पर वस्तुतः यह आपको अपने लक्ष्य में असफलता के लिए कतई एक बहाना नहीं हो सकता। मैं भेद-भाव के बावजूद सफल हो गई—मैंने बस इसे नजरअंदाज किया, और बढ़ती गई।

अंजलि इला मेनन (जन्म : 1940) भारत के प्रसिद्ध चित्रकारों में एक हैं। प्रयोगों और नई खोजों के लिए सुविख्यात अंजलि ने न सिर्फ भारत में बल्कि विदेशों में भी बहुत-सी प्रदर्शनियां लगाई हैं। उनके द्वारा बनाए गए चित्र दुनिया भर के निजी संग्रहों एवं संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। सन् 1999 में उन्हें पद्मश्री से अलंकृत किया गया। सन् 2002 में मुंबई के नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट में उनकी कृतियों की एक बृहत् सिंहावलोकन प्रदर्शनी लगाकर उन्हें सम्मानित किया गया।

9

चित्र कृति

अंजलि इला मेनन

मैं ग्यारह साल की हो पाई थी तभी मुझे एक प्यार भरे परिवार के सुरक्षित एवं अंतरंग बंधन से दूर कर एक मिलिटरी बोर्डिंग स्कूल के दुष्कर जीवन में भेज दिया गया। लारेंस स्कूल, लवडेल में आरंभ के चंद महीनों में जब घर की याद सताती और सैन्य अनुशासन, मार-फटकार एवं सख्त समय-सारणी को झेलना पड़ता तो मेरे लिए सुकून की एक मात्र जगह थी—अद्भुत शांत कला विभाग, जहां श्री सुशील मुखर्जी का कविसुलभ व्यक्तित्व छाया रहता। अगले पांच वर्षों तक मैंने इसी विशिष्ट शिक्षक की देख-रेख में एक समांतर शिक्षा प्राप्त की। मैं तेरह की भी नहीं थी जब तैल चित्र बनाना प्रारंभ कर दिया था और स्कूली शिक्षा समाप्त कर जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट, मुंबई में प्रवेश से पूर्व ही श्री मुखर्जी ने मेरे मन में यह बैठा दिया था कि मुझे एक चित्रकार बनना है—परिवार की इच्छानुसार डॉक्टर नहीं।

यद्यपि कच्ची उम्र में सफलता के इस स्वाद का एक दुर्बल पक्ष भी था। मैं जल्द ही जे.जे. स्कूल में बोर हो गई। मेरे अंदर यह भावना घर कर गई थी कि मैं यह सब चित्रकारी पहले ही कर चुकी हूं। इसलिए सब कुछ जानती हूं। लेकिन मेरा परिवार मुझे उस नाबालिग लड़की के रूप में देखने को कतई राजी नहीं था जिसने बीच में ही शिक्षा छोड़ दी हो। और मैं अंग्रेजी में बी.ए. करने को बाध्य थी। इसके जवाब में बी.ए. की परीक्षा से एक महीने पहले मैंने जान-बूझकर अपनी पहली प्रदर्शनी लगाई। दिल्ली के एक गार्डन में एम.एफ. हुसैन, मेरे मित्र एवं दिग्दर्शक, की देख-रेख में लगी इस प्रदर्शनी में मेरे द्वारा निर्मित 55 चित्र थे। हुसैन ने उनमें से 20 सर्वश्रेष्ठ चित्रों को मुंबई के भूलाभाई इंस्टिट्यूट में प्रदर्शनी हेतु चुना। पीछे मुड़कर देखने पर मुझे स्वयं अचरज होता है कि उन आरंभिक प्रदर्शनियों में ही इतनी प्रशंसा और वाह-वाही मैं कैसे पचा पाई। अठारह वर्षीय किसी लड़की के लिए तो यह सिर पर चढ़ाने वाली बात थी। रिचार्ड

बार्थोलोम्यो जैसे आलोचक भी आश्चर्यचकित रह गए : "शेरगिल के बाद ऐसी प्रतिभा नहीं देखी... आदि, आदि।" वस्तुतः मुझ जैसी एक किशोर प्रतिभा के भटकने की तमाम संभावनाएं विद्यमान थीं।

एक वर्ष बाद जब मैं फ्रेंच छात्रवृत्ति पर पेरिस पहुंची तो मुझे सहज ही अपने कद का एहसास हो गया। *फ्रेस्को एटेलियर* के प्रोफेसर ऑजेम के अंदर 'इकोल डेस बुज आर्ट्स' (कला केंद्र) के कठोर अनुशासन का अर्थ था 'स्कैफोल्डिंग्स' (मचान) पर घंटों कार्य करना और फिर कड़ाके की ठंड में सर्द छतों के तले बर्फ-से जमे चूने-प्लास्टर के साथ काम करना। मेरे छाले पड़े हाथ और लाल सुर्ख नाक ने पूर्व के सफल अनुभवों से उत्साहित, मेरे अंदर प्रस्फुटित होते कलाकार के तमाम रोमानी रंगों को उतार दिया। इतना ही नहीं मैं लोगों के उस वर्ग में प्रवेश कर चुकी थी जहां मेरी शिक्षा में विद्यमान कमियां मुझे बिल्कुल निरीह होने का भान करातीं। उन दिनों अस्तित्ववादी विचारों की जानकारी, कामू, ब्रेटन, एवं प्राउस्ट के शब्दों से परिचय और पुदोवकिन, एंटोनियनि, एवं बर्गमैन की फिल्मों से लगाव का अपना एक अलग महत्त्व था। 'बुज आर्ट्स' के मेरे कई मित्र वास्तुकार थे और हम गर्मियां अकसर उन्हीं में से एक, एलन पेस्किन के छोटे महल पर व्यतीत करते। वहां हमारी एक पूरी टोली ट्रैक्टर के पीछे सवार ल्वायर घाटी की सैर पर निकलती। गरमागरम बहस के साथ हमारी सायंकालीन सभा समाप्त होती। हममें उन दिनों सचमुच प्रबल भावुकता थी। समूह में कई प्रखर बुद्धिजीवी भी थे। मेरे सिवा हर कोई 'कलाकारी हाव-भाव' पैदा करने की कोशिश करता। वस्तुतः मुझे तो भिन्न दिखने के लिए बस अपने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत होना पड़ता—चमकीली साड़ी, लंबे बाल, और बड़ी बिंदी। समय के इस पड़ाव पर मैंने कला के तत्कालीन रुझानों को अस्थायी रूप से नजरअंदाज कर दिया था। उन दिनों युवा पीढ़ियों के बीच प्रचलित कला में 'क्यूबिज्म' और भावप्रधान अभिव्यक्ति दोनों ही मूल संकेतक थे। लोगों का ध्यान मोंतमार्त से हटकर मोंतपार्नेस पर केंद्रित हो गया था। एक नए प्रकार की स्वच्छंदता चलन में थी। यह स्वच्छंदता साठ के दशक की राजनीति, थिएटर ऑफ एब्सर्ड (जेनेट एवं आयनेस्को) और ज्यां लुई बैराल्ट व सार्त्र के गिर्द पनपते बौद्धिक परिवेश से उत्प्रेरित थी। इसमें सीमोन दी बुवा के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द विकसित होते नारीवादी विचारों की झलकियों का भी योगदान रहा। लेकिन समय के सांचे में ढलने की मेरी कोई मंशा नहीं थी। और मुझे सदैव यह डर सताता कि आर्थिक बाधाओं के कारण मेरे यूरोप प्रवास की अवधि छोटी न हो जाए। पर मैं दृढ़तापूर्वक मध्ययुगीन ईसाई, विशेषतः रोमन साम्राज्य युगीन कला के प्रति आकृष्ट रही। पेरिस के चर्चों एवं

मठों तथा 'मुसी गुमे' में घंटों व्यतीत करने के बाद मैंने अन्य महत्त्वपूर्ण रोमन स्थलों की यात्रा करने की ठान ली थी।

इसी बीच मिरांडा हाउस की मेरी सहेली शमा जैदी अचानक पेरिस पहुंची। मैं और शमा चार्टर्स, आतुन एवं वेजिले की यात्रा पर निकल पड़े और उसके बाद स्पेन पहुंचे जहां रोमन कलाओं की प्रदर्शनी हो रही थी। संयोग से वे दिन अच्छे थे। लिफ्ट लेते हुए आगे बढ़ना और पुरुषों के छात्रावासों में सिर्फ एक फ्रैंक देकर रात व्यतीत करना सुरक्षित था। हम दोनों स्पेन और इटली में इधर-उधर घूमते रहे। अकसर दूर-दूर के गांवों के चर्चों में जाते और पत्थर की बनी सर्द सतह पर पीठ के बल लेटे छतों पर सजे भित्तिचित्रों का अध्ययन किया करते। मेरी कृतियों पर इन यात्राओं का गहरा असर पड़ता रहा। उस उम्र में कलाकार के समक्ष विविध एवं संवेदनापूर्ण दृश्यों-बिंबों की भरमार होती है। पर कलाकार को धीरे-धीरे खास विकल्पों पर केंद्रित होना पड़ता है जो अंततः उसकी व्यक्तिगत दिशा को सुनिश्चित करता है। आरंभिक ईसाई कला के गंभीर रंग, प्रतीकात्मक चित्रण की गुरुता एवं सादगी मुझे प्रभावित करते। हियरोनिमस बाश्च की आनंददायक खोज ने इन चीजों के प्रति मेरे रुझान को और बढ़ा दिया। व्यंग्य और जीवंत व्यक्तिवाद ने इस चित्रकार के ओज को और भी प्रखर बना दिया। यह चित्रकार निस्संदेह प्रथम अति-यथार्थवादी था—अपने समय से सदियों आगे। संयोगवश वापसी की अपनी यात्रा के क्रम में मैं और शमा ने तुर्की एवं ग्रीस में महीनों बिताए। वहां हमने अपने दृश्य अनुभवों की फेहरिस्त में महान बाइजैंटाइन परंपराओं को जोड़ा। उक्त परंपरा की गंभीर मूर्तिकला स्वर्ण अलंकरण एवं प्रतीकवाद से युक्त होने के कारण अत्यधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक थी।

पेरिस में अपने दूसरे वर्ष के दौरान मुझे 'एटेलियर फ्रेस्क' के अतिरिक्त काम करने के लिए एक जगह की आवश्यकता महसूस हुई, जहां मैं वास्तव में चित्रकारी कर पाती। मैंने मेक्सिको की एक चित्रकार, फ्रांसिस्को टोलेडो के साथ एक स्टूडियो में काम शुरू किया। वह तामायो की शिष्या थी। हमारी शक्ल मिलती थी, और हमारा जन्म दिन भी! लोग अकसर धोखे से हमें बहनें मान लेते! टोलेडो के स्वप्निल जलीय रंगों में पारदर्शिता थी और उनमें भरपूर अदृश्य प्रकाश छिपे थे। मैंने अंततः जिस तकनीकी को विकसित किया, हालांकि एक ठोस सतह पर तैलीय रूप में, वह निस्संदेह उस पारभासी कृति से प्रेरित था जिसमें मैं प्राचीन भित्तिचित्रों से चुनी गई छदिमा जोड़ती। यद्यपि विचार-विमर्श के लिए हमारे पास कोई सामान्य भाषा नहीं थी, पर चित्रकारी के प्रति हमारे नजरिये में समानता

थी। और मुझे लगता है हमने एक-दूसरे को बहुत अधिक प्रभावित किया। वस्तुतः हम दोनों युवावस्था के चंचल तेवर में भी समानता-सहिष्णुता रखते क्योंकि हमारी सांस्कृतिक समानताएं एवं भिन्नताएं भी समान थीं। किशोरवय में हमने अपने-अपने देश में मेलों-त्योहारों का आनंद नजदीक से लिया था।

यूरोप प्रवास के बाद वापस भारत में मेरा जीवन कठिन था। मैंने अपने ही स्कूल लवडेल में चंद वर्षों अध्यापन का काम किया। उन्हीं दिनों मैंने अपने बचपन के साथी राजा मेनन से शादी कर ली। वह नेवी में था। हमारा दांपत्य जीवन सुखी था। पर जीवन में यायावरी लिखी थी सो हम निरंतर भ्रमणशील रहते। हां, आर्थिक संपन्नता हमसे दूर रही। बच्चे आए, और साथ ही आया विषय-वस्तु में एक खास परिवर्तन। दाढ़ी वाले साधु-संतों की जगह विचार-मग्न लोगों और मां-बच्चों की जोड़ी ने ली। पर कुछ ही दिनों में मैं उस युग के घोर रोमांटिसिज्म से जी चुराने लगी थी। इसी बीच हम साल भर के लिए इंगलैंड चले गए और उसके बाद दो-चार वर्षों के लिए ब्लादीवॉस्टक। हमारे दो छोटे-छोटे बच्चे थे पर उनकी देखभाल के लिए कोई नहीं। फिर भी उन्हीं दिनों मेरे जेहन में यह बात बैठ गई कि चित्रकारी ही मेरी मंजिल है—डगर भले ही कितनी कठिन क्यों न हो? रचनाधर्मिता और इसकी उत्कंठा की लहर को किसी तरह दबाया जा सके इसके लिए न कोई रास्ता था और न ही ठोस तर्क। मैंने किसी तरह 'डोमा खुदोज्मिकोव' यानी 'कलाकारों का घर', में बुकिंग करवा ली। वहां अब तक एकल प्रदर्शनी नहीं लगी थी। दरअसल वहां व्यक्ति विशेष की शैली और व्यक्तिवादी अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। कलाकार समुदाय के द्वारा सामूहिक रूप से प्रसारित साम्यवादी सोवियत की धारणाएं अन्य अभिव्यक्तियों पर हावी होतीं। मोटे तौर पर उस ऊसर शहर में मेरे लिए 'सौंदर्य' की सिर्फ एक जगह थी—लकड़ी का बना स्थानीय चर्च, जहां मैं रविवार को जाती। चर्च की दीवारें फर्श से छत तक अद्‌भुत मूर्तियों से सुसज्जित थीं। मेरी रचना पर पड़ा आरंभिक असर एक बार फिर पुख्ता होने लगा। मैंने सीढ़ियों के नीचे झाड़ू रखने की जगह पर एक कामचलाऊ स्टूडियो बनाया और अपने दस महीने के बच्चे को पीठ पर बांध चित्र बनाने लगी। इस प्रकार लगभग पैंतीस चित्र बन गए। नग्न तस्वीरों को अंततः अनुमति नहीं ही मिली। परंतु विज्ञापन पर प्रतिबंध के बावजूद प्रदर्शनी में लोगों की अभूतपूर्व भीड़ जुट गई। दर्शकगण मेरे लिए तरह-तरह के उपहार लेकर आए—बारहसींगे के सींग, कविताएं, फर की टोपी, वोदका की बोतलें। यहां तक कि हाथ से बुनी जुराब की एक जोड़ी भी उनमें शामिल थी। जीवन में पहली बार मेरे अधिकांश चित्र छात्रों एवं कामकाजी लोगों

द्वारा खरीदे गए थे। यह एक अलग दुनिया थी और एक अद्‌भुत अनुभव, जिसे मैंने आज भी संजो रखा है।

देश वापस आने पर सत्तर के दशक के आरंभ में दिल्ली और कोलकाता में कई प्रदर्शनियां हुईं। वाणिज्यिक सफलता तो नहीं मिली पर अच्छी समीक्षाएं प्रकाशित हुईं। उन दिनों मुख्यतया विदेशी या टाटा और बर्मा-शेल जैसे बड़े व्यावसायिक घराने ही चित्र खरीदा करते थे। आर्थिक रूप से यह संघर्ष का दौर था पर अपनी एक अलग पहचान बनाने के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था। हालांकि यह आईने की भांति साफ था कि मुझे कई कारणों से लोगों ने सनकी घुमक्कड़ मान लिया था। वैसे भी मेरे कार्य निस्संदेह आलंकारिक (मूर्तिरूप) थे जबकि चलन भावप्रधान (अमूर्त) का था। उन दिनों भारतीय चित्रकार जब अपनी मूल एवं देशी पहचान के लिए स्वातंत्र्योत्तर काल में 'भारतीयकरण' के प्रयास में सावधानी से जुटे थे, मेरे चित्रों को अत्यधिक यूरोपीय कहा जाने लगा। डेसमंड डायग ने तो स्टेट्समैन में लिखा भी, "अंजलि मेनन तेरहवीं सदी में क्या कर रही हैं?" इस समीक्षा सार ने सफलता की बजाय असफलता को ही निमंत्रित किया होगा। पर मैं परिणामों की तनिक चिंता किए बिना अपने पथ पर बढ़ती गई, बिल्कुल अडिग। हालांकि कुछ विपरीत कारणों से मेरी गैर पारंपरिक दिशा ने कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और मेरे भी कुछ अनुयायी बनने लगे।

सत्तर के दशक के मध्य हम मुंबई स्थानांतरित हो गए। उन दिनों मुंबई भारत में कला की दुनिया की धुरी थी और मैं वहां प्रवास के अपने चंद वर्षों का इस्तेमाल किसी गंभीर मंच पर अपनी प्रतिभा प्रदर्शन में करना चाहती थी। इन्हीं दिनों भगवद् गीता के कुछ सिद्धांत मेरे मन में घर कर गए। स्वामी रंगनाथ आनंद के प्रवचन में इसकी प्रस्तुति इस प्रकार थी : "फल की चिंता किए बिना किया गया कर्म ही सच्चा कर्म है। फल की कामना त्याग कर ही परम शांति प्राप्त हो सकती है।" इसने मेरे जीवन एवं जीवनवृत्ति दोनों को एक नई दिशा दी। मैंने सर्जना शुरू कर दी। और कर्म के फल की चिंता ही छोड़ दी। न प्रदर्शनी की सोचती, न बिक्री की और न ही प्रशंसा-आलोचना की अपेक्षा करती। मैंने रंग और कैनवास खरीदने के लिए तरह-तरह के बोरियत भरे काम किए। छह रुपए प्रति की दर से टी-शर्ट पर चित्रकारी की, तथा दुकानों की खिड़कियों पर भी डिजाइन बनाए। फिर भी अपनी उभरती हुई कृतियों के प्रति मुझे उत्तेजना के भाव महसूस होते। मैं निरंतर खुद को सातवें आसमान पर महसूस करती और बच्चों के सो जाने के बाद अकसर रात-भर काम किया करती।

एक दिन जब केकू गांधी ने दरवाजे की घंटी बजाई तो मैं आश्चर्यचकित

रह गई। पर संयोग से दिखाने के लिए मेरे पास ढेरों कृतियां थीं और नतीजतन मुझे तत्काल शेमोल्ड गैलरी में अपनी एकल प्रदर्शनी लगाने का अवसर मिल गया। यह प्रायः भारत की सर्वाधिक प्रसिद्ध गैलरी है। इस घटना के बाद मुड़कर देखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। अगले पूरे दशक में प्रदर्शनियों की शृंखला कायम रही। लोगों ने मेरी कृतियों में बहुत रुचि दिखाई। अंततः अच्छी-खासी आमदनी भी हुई। सार्वजनिक स्थानों एवं होटलों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिले। ढेर सारा मीडिया कवरेज हुआ। और उसके बाद इंडिया टुडे के सेंटर-स्प्रेड में स्थान मिला। चूंकि सफलता मानो अनायास आई थी सो मैं सदा अपने कार्य की गुणवत्ता के प्रति सशंकित रही। मुझे अपने कार्य को अधिक आलोचनापूर्ण एवं प्रतिस्पर्द्धी परिवेश में विभिन्न कसौटियों पर परखने की आवश्यकता महसूस होती रही। इसलिए सन् 1980 में मैंने अमेरिका में प्रदर्शनियां आयोजित कीं। पर यह तो भारतीय कलाकारों के भोलेपन की माप है कि वे 'किसी प्रकार विदेशों में प्रदर्शनियों' को ही बड़ी सफलता मान बैठते हैं। मैं भी न्यूयार्क कंस्यूलेट एवं वाशिंगटन स्थित दूतावास में भारत सरकार द्वारा अपनी प्रदर्शनियां प्रायोजित करवा कर ही खुद को धन्य मान रही थी। वस्तुतः दो दशकों बाद भी भारतीय कला को विदेशों में व्यावसायिक मंच नहीं मिल पाया है, मुख्य धारा की गैलरियों का समर्थन नहीं मिल पाया है; नाना प्रकार की एजेंसियों द्वारा छिट-पुट प्रयास के बावजूद आज भी वैश्विक परिवेश में हमारा सामूहिक प्रयास शौकिया रह जाता है। वस्तुतः वैश्विक परिवेश बाजार से नियंत्रित है तथा विभिन्न समूह विशेष को लाभ देने के लिए अपने व्यवहार में अत्यधिक गोपनीयता बरतता है। आज भी प्रवासी भारतीय समाज ही भारतीय कला को समर्थन देता है और मुझे पूरा विश्वास है कि *क्रिस्टीज* एवं *सूदबाइज* इस बात की गवाही देंगे। इस मामले में आमूल परिवर्तन आज भी अपेक्षित है।

अस्सी के दशक के पूर्व पुनः स्थानांतरण...और हम तीन वर्षों के लिए जर्मनी पहुंच गए। यह मेरी जीवन-वृत्ति के दृष्टिकोण से सर्वाधिक बंजर अवधि थी। एक ओर जहां सोवियत संघ के सहमे-सहमे परिवेश की सख्ती एवं मुसीबतों के बीच मेरी रचनाधर्मिता उमड़ पड़ी थी वहीं जर्मनी की शानदार जिंदगी—आलीशान मकान, मर्सडीज और भारतीय खानसामा—ने अप्रत्याशित रूप से मुझे चुंधिया दिया। मेरे अंदर का रचनाकार मानो मुझे छोड़ गया। एक वर्ष की जद्दोजहद के बाद मैं अंततः एक हवाई जहाज पर सवार होकर वापस घर आ गई। बचपन की अपनी सहेली प्रीति के घर। वहां उसके बिस्तर के नीचे मैं सदैव कैनवास और रंग की आपातकालीन व्यवस्था रखती। वहां पहुंचते ही मैं उन्मादी जोश के साथ उन पर झपट पड़ी और महीने दिन के अंदर ही 20 चित्रों को पूरा कर लिया। मैं अंततः

चकाचौंध की दुनिया से बाहर आ गई थी। बाद में उन चित्रों को बॉन की एक गैलरी में दिखाया गया।

यदि हम अनिवार्यतः अपनी स्थिति की देन होते हैं तो भूगोल और कालक्रम के मापदंड ही अकसर किसी कलाकार का मूल्यांकन करते हैं। भारतीय कलाकारों के समाज के संदर्भ में, जिसमें मैं स्वयं कार्य करती हूं, इस मूल्यांकन का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है सौंदर्यबोध के प्रति रवैया। एक ऐसे काल में जबकि पश्चिम के उत्तर-आधुनिक कला परिवेश में सौंदर्यबोध एक 'अपशब्द' रह गया था, भारतीय कलाकारों की एक पूरी पीढ़ी सुंदरता और मोटे तौर पर पारंपरिक 'इजेल' चित्रकारी के पीछे भागती रही। मैं कोई अपवाद नहीं थी। इस प्रकार यह सिर्फ संयोग की बात नहीं थी कि सौंदर्य के प्रति पूर्वाग्रहों ने एक बड़े बाजार को फूलने-फलने में मदद की और इसमें हमारी कोई खास त्रुटि नहीं थी। मेरे साथ भी यही घटा। कला प्रेमियों की प्रशंसा ने मुझे सातवें आसमान पर चढ़ा दिया। अस्सी के दशक के पूर्व में यह कुछ सीमा तक अहं की तुष्टि करता रहा, पर धीरे-धीरे यह सब धुंधलाता गया और तब शुरू हुआ मोहभंग का दौर। उसके बाद गहन आत्म-अन्वेषण और सिंहावलोकन की घड़ी आई। वस्तुतः अर्द्ध-स्वप्न की स्थिति में 'दर्शन' होता है, जब मृगमरीचिका और वास्तविकता मिलकर एकल बिंब बनाते हैं। दृश्य आंकड़े, अनुभव और किसी कला विशेष की संपूर्ण सर्जनात्मक प्रक्रिया में उस दर्शन को बनाए रखने की क्षमता ही वस्तुतः कलाकारों का असली संघर्ष है। हालांकि मैंने अटारी पर चित्रकारी की, वहां समय व्यतीत किया, जो सर्जना हेतु कथित कठिन और दुरूह संघर्ष की तुलना में आसान था। यह संघर्ष कभी भी लुप्त नहीं होता, बल्कि अकसर कठिन ही हो जाता है जब पारखी आंखें एवं अभ्यस्त हाथ के बीच तारतम्य बढ़ता जाता है। कलाकार शीघ्र ही यह समझ जाता है कि कल्पना वास्तविक वस्तु का स्थान नहीं ले सकती।

सन् 1988 में दो घटनाएं हुईं। मुंबई में पहली व्यावसायिक कला नीलामी हुई। इसने हममें से बहुतों को अब तक अज्ञात ऊंची कीमतों के सातवें आसमान पर पहुंचा दिया। साथ ही मैंने अब तक अपनी कलाकारिता के निजीपन का प्रत्यक्ष रूप से बाजारीकरण होते देखा। उसी वर्ष टाइम्स ऑफ इंडिया द्वारा मेरी कृतियों की एक प्रदर्शनी जहांगीर गैलरी में आयोजित की गई। यह दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी। मेरी रचनाओं में पूर्व का ईसाई-प्रभाव मिट चुका था। धर्मनिरपेक्ष विषयों की मुखरता आ गई थी। एक सुखकर दुर्घटनावश अस्सी के दशक के मध्य के झलकी-केंद्रित विषयों ने वास्तविक झांकियों को जगह दे दी थी। साथ ही मेरे पति के केरल स्थित घर से प्राप्त सीपिया के पुराने चित्रों ने नए विषयों को जन्म

दिया जो मूलतः 'अधिक' भारतीय थे। मैं अभी तक अपनी एक स्पष्ट हस्ताक्षर ही बना पाई थी। और बना पाई थी यथेष्ट कृतियां जिनके न्यूयार्क, वाशिंगटन और बॉन में लगभग 30 एकल प्रदर्शन हो चुके थे। पर कला-सूची में ईमानदारी से इतना ही लिखा था—"तीस वर्षों के कार्य ने सिर्फ दहलीज तक पहुंचाया।"

वर्ष 1989 में सुप्रतिष्ठित साओ पाउलो बाइनेल प्रदर्शनी में भारत का प्रतिनिधित्व करते हुए मैं अंदर तक आहत थी। हमारे देश को बिल्कुल हाशिए पर रख दिया गया था। वहां मैंने अंतर्राष्ट्रीय कला-जगत की घृणित राजनीति का नंगा खेल देखा। और देखा संपन्न राष्ट्रों से संबद्ध कलाकारों के प्रयासों को सफल बनाने के लिए पानी की तरह बहाए गए पैसे का रंग। भारतीय कलाओं की नुमाइश के पूर्व ही निर्णायक मंडल की बैठक हो गई। आदि से अंत तक सब घपला और लीपापोती ही थी। इसके विरोध में निदेशक कार्यालय के समक्ष 24 घंटे के धरने के बावजूद भारतीय कलाओं की प्रदर्शनी एक अंधेरे-से गलियारे में हुई।

अनेक कलाकारों की कृतियों में अकसर मूलभाव से प्रतीक, से पुनरावृत्ति तक एक सहज रूपांतरण होने लगता है। मुझे भान हो गया था कि मेरे साथ यही होने लगा था। मेरी कृतियों में प्रयुक्त कई मूलभावों, मसलन कुर्सी, खिड़की, कौवा, छिपकलियां, पतंग, उड़ती चीजें, खिलौने, शतरंज की बिसात का अलंकरण, आदि, आदि ने धीरे-धीरे एक प्रतीक या लाक्षणिक रूप लेना शुरू कर दिया था। लेकिन सहज रूप से दुहराने के परिणामस्वरूप वे मेरी ही कृतियों की पुनरावृत्ति होती जा रही थीं। नब्बे के दशक में मैंने इस जाल से भाग निकलने का प्रत्यक्ष प्रयास किया। अब तक स्थापित हो चुकी मेरी रचना शैली से कुछ हटकर करने का निरंतर प्रयास करने लगी। मेरी सहेली शरण अप्पाराव, एक साहसी कला व्यवसायी, ने इस अनजान सफर में मुझे उत्साह और व्यावहारिक सहायता दोनों ही प्रदान किए। उसकी मदद से मैंने कला का एक पूरा संग्रह तैयार कर लिया—'फॉलिज़ इन फैंटास्टिकल फर्नीचर'। इसके अंतर्गत कबाड़ से पुनर्संरचना और 'एक रहस्य-रहित कला, जिस पर आप बैठ सकते हैं' की संरचना हुई थी। मैंने यह अभिधारणा भी दी कि उक्त संरचना स्थापत्य-कला के बिल्कुल विपरीत थी। इसमें भग्न की बजाय भग्नावशेष से कुछ प्राप्त करने की बात थी। और इसलिए हमारे परिवेश और सामाजिक इतिहास के लिए कहीं अधिक उपयुक्त। इस प्रदर्शन के बाद ही फैशनपरस्ती से मेरा लगाव हो गया। दरअसल इस प्रदर्शनी की कई वस्तुओं पर फिल्मी पोस्टरों या कैलेंडरों के भड़कीले रंग-बिरंगे दृश्यों को स्थान दिया गया था।

कंप्यूटर के पीछे पागल मेरा बेटा आदित्य मुझसे कहता रहा था कि मैं यह परखूं कि कलात्मक संभावनाओं में किस प्रकार कंप्यूटर को एक कूची के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। मुझे उसकी बात माननी पड़ी जब मैंने इंदिरा दयाल द्वारा संकलित पुस्तक (अंजलि इला मेनन : पेंटिंग्स इन प्राइवेट कलेक्शंस) के चित्रों को स्कैनिंग होते हुए देखा। इसके बाद सन् 1996 में न्यूयॉर्क में 'म्यूटेशंस' नामक प्रदर्शनी हुई जिसमें मेरी ही कृतियों के कई चित्रों को रूपांतरित कर नई कृतियां बना दिया गया था। इस क्रम में संवेदना के एक नए पैमाने को भी प्राप्त कर लिया गया था। शीर्ष-रचना जिसमें एक ही स्त्रीपात्र पांच भिन्न अवतारों में प्रकट होती है, नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट में टंगी है। भारत में कंप्यूटर पर किसी नए कला स्वरूप के विकास हेतु निस्संदेह यह प्रथम प्रयासों में एक रहा होगा। इशाना मूर्ति ने लिखा, "समकालीन माध्यम के इस अद्‌भुत प्रयोग से प्रस्तुत संग्रह एक नए वाद को स्थापित कर सकता है।"

सन् 1997 में लद्दाख की बौद्ध मूर्तिकला ने अमूर्त (भाव प्रधान) के साथ मेरे पहले प्रयोग को प्रभावित किया। एकल बिंब का पृथक्ककरण और ध्यानस्थ होकर किसी मंत्र की भांति इसकी पुनरावृत्ति ही इस संग्रह का विशिष्ट मूलभाव रही। बोधिसत्त्व बिंब पर अकसर एक सामान्य त्रिभुज में प्रस्तुति और फिर लयात्मकता उत्पन्न करने के लिए उसी त्रिभुज की पुनरावृत्ति—इस प्रकार सृजन होता गूढ़ सांचों का! जो स्वयं अपनी गति निर्धारित करते। वर्ष 1998 में गायत्री रुइया से मेरी आकस्मिक भेंट ने मुझे एक नई दिशा दे दी। उसने इटली के एक म्यूरानो ग्लास-वर्क्स में मुझे काम दिलवाई जिसके बाद चार वर्षों की अवधि में शीशे की मूर्तियों की एक पूरी शृंखला ही तैयार हो गई। 'द सैक्रेड प्रिज्म' नामक यह संग्रह मुंबई के नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट में प्रदर्शित हुई। इस परियोजना ने मुझे बेहद खुशी और संतोष दिया।

फैशनपरस्ती के प्रति मेरा पूर्व प्रेम अंततः मेरे चित्रों की वर्तमान शृंखला में व्यक्त हुआ। इस शृंखला में मैंने अपने ही समय के दृश्याधारों को लेकर श्रेष्ठ और निम्न कला के बीच की दीवारों को ध्वस्त करने का प्रयास किया है। स्थानीय बाजारों में सर्वत्र उपलब्ध धार्मिक चित्र या फिल्मी पोस्टर और राजनीतिक नेताओं के आदमकद चित्र ही समकालीन चित्रकला की विषय-वस्तु बने हुए हैं। इनमें विषय और शैली दोनों की ही अतिशय अभिव्यक्ति होती है और साथ ही होती है तंजाउर चित्रकारी की पारंपरिक स्वर्ण सज्जा। यहां यह तथ्य भी उभर कर आता है कि ये स्रोत हमारे लिए पूरी तरह देशी हैं और इसलिए हमारे समक्ष एक नया परिदृश्य उपस्थित है। गायत्री सिन्हा ने लिखा, "भारतीय प्रचलित कला

संग्रह अब नई चुनौती के लिए तैयार है और इस उभरते हुए विवाद में मेनन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।''

हमारा सबसे बड़ा बेटा आदित्य सन् 1983 में अमेरिका चला गया और अगले आठ वर्षों तक प्रत्येक गरमी में मैं उससे मिलने जाती रही। वह अपनी पढ़ाई या काम में व्यस्त रहता। वेस्टचेस्टर में मैं पूरे दिन चित्रकारी किया करती। कालांतर में ढेरों रचनाएं एकत्र हो गईं जो अब वापस भारत आ गई हैं। ये तस्वीरें वर्तमान 'रिट्रोस्पेक्टिव 2002', वढेरा गैलरी द्वारा संकलित, की अंग बन गई हैं और नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट, मुंबई से शुरू होकर कई शहरों की यात्रा पर हैं। यदि रिट्रोस्पेक्टिव में कोई बात महत्त्वपूर्ण है तो वह निस्संदेह यह कि यह एक नई शुरुआत को इंगित करती है। चार दशकों से अधिक के बाद एक कोरा कैनवास मुझे पुनः बुला रहा है।

सोनल मानसिंह (जन्म : 1944) भारतीय परंपराओं के प्राचीन, पर नित नूतन दिखते कलात्मक नृत्य की बेजोड़ प्रतिनिधि हैं। सन् 1964 से ही मंच पर उनकी उपस्थिति रही है। नृत्य के साथ-साथ एक समाज-सेविका, दार्शनिक, शोधकर्ता, वक्ता, नृत्य निर्देशिका एवं शिक्षिका की उनकी भूमिका ने उक्त परंपरा को और संपन्न बनाया है। उन्होंने सन् 1997 में दिल्ली में भारतीय शास्त्रीय नृत्य केंद्र (सी आई सी डी) की नींव रखी और कई युवकों एवं युवतियों को प्रशिक्षित किया। उनमें से कुछ प्रसिद्धि भी पा चुके हैं। सोनल भारत के कलाकारों में सबसे कम उम्र की पद्मभूषण विजेता हैं।

उड़ीसा की प्राचीन एवं पारंपरिक नृत्य शैली ओडिसी की प्रमुख नृत्यांगना सोनल, जिन्होंने भरत नाट्यम, छऊ और भारतीय संगीत में दशकों प्रशिक्षण प्राप्त किया है, ने भारतीय मिथक के साथ-साथ समकालीन विषयों पर आधारित मौलिक नृत्य नाटिकाएं भी प्रस्तुत कीं। इन दिनों उत्तरोत्तर उनका कार्य महिला और पर्यावरण से संबंधित मुद्दों की ओर उन्मुख हो गया है। सोनल को दर्जनों सम्मान मिले हैं, जिनमें शामिल हैं—प्रसिद्ध शृंगार मणि हरिदास संगीत सम्मेलन (1967); मेडल ऑफ फ्रेंडशिप, वियतनाम (1983); साहित्य कला परिषद पुरस्कार, नई दिल्ली (1985); नाट्य कला रत्न (1983); विश्व गुर्जरी पुरस्कार, गुजरात सरकार (1989); शिरोमणि पुरस्कार, नई दिल्ली (1989); भाई वीर सिंह पुरस्कार, नई दिल्ली (1989); राजीव गांधी एक्सलेंस अवार्ड, नई दिल्ली (1991); पद्मभूषण (1992); इंदिरा प्रियदर्शिनी सम्मान, नई दिल्ली (1994); और मैत्री मेडल, क्यूबा राष्ट्रीय परिषद (1995)।

10

अपनी ही कसौटी पर

सोनल मानसिंह

स्त्री जन्म बहुत सुंदर है। मैं यदि स्त्री नहीं होती तो जीवन को इतनी गंभीरता से महसूस नहीं किया होता। मेरे अंदर की स्त्री और कलाकार हाथों-में-हाथ डाले एक साथ विकसित हुए क्योंकि मैं अपने अनुभवों और उनसे संग्रहीत बुद्धिमानी के बल पर ही आगे बढ़ती रही...लेकिन मैं अब तक उस मुकाम पर नहीं पहुंच पाई जहां मैं अपना मूल्यांकन कर सकती। मैं यह मुगालता पसंद करूंगी कि मैं अति सुंदर हूं; बहुत ही ईमानदार और स्पष्टवादी हूं, पर मेरे प्रति अन्य लोगों की क्या भावनाएं हैं?... वस्तुतः मैं स्वयं अपनी ही कसौटी पर हूं। मैं अपने दादाजी की भांति गरम-मिजाज की हूं, जो अच्छा ही है क्योंकि पांच मिनट के अंदर ही मैं गलती माफ भी कर देती हूं और बात भूल जाती हूं। फिर मेरे अंदर बुरी भावना नहीं रहती। मोटे तौर पर मैं कभी भी दुष्ट नहीं हो सकती। इन सबका श्रेय मैं अपने संस्कारपूर्ण पालन-पोषण को देती हूं। दरअसल आप अपने असली रूप को छिपा नहीं सकते। बचपन में आत्मसात किए गए संस्कार आपको एक दिशा देते हैं। मैं सचमुच अपने परिवार की आभारी हूं जिसने मुझे अच्छा संस्कार दिया।

मेरा जन्म मुंबई के एक गुजराती परिवार में हुआ था। मेरे पिता सूरत के थे, मां सौराष्ट्र की। मां का लालन-पालन उनके चाचा अमृत लाल सेठ ने किया था। वे राज (अंग्रेज) के जमाने में न्यायाधीश थे और दैनिक 'जन्मभूमि' के मालिक भी थे। मेरी मां बहुत सुंदर और दुस्साहसी थीं। उन्होंने स्वाधीनता आंदोलन में भाग लिया था और मृदुला साराभाई के साथ लाठियां भी चलाई थीं। वे जेल में कस्तूरबा गांधी के साथ एक ही कोठरी में थीं। आज भी गुजरात के भीलों के बीच एक गुरुकुल चलाती हैं। अपनी उम्र के अस्सी के दशक के अंत में मेरी मां पूरी तरह स्वस्थ हैं। मैं उनके आगे नतमस्तक हूं। मेरे दादाजी मंगलदास पकवासा एक जानी-मानी हस्ती थे। कभी स्ट्रीट लैंप के नीचे अध्ययन कर कानून की परीक्षा में अव्वल आने वाले (उन दिनों परीक्षा पत्रों की जांच इंगलैंड में होती थी) दादाजी

ने महात्मा गांधी और सरदार पटेल के संपर्क में आने के बाद अपनी वकालत छोड़ दी। इसका अर्थ था 30,000 रु. प्रति माह की आय पर लात मारना! खैर, वे स्वतंत्र भारत के प्रथम पांच राज्यपालों में एक थे। सन् 1947 से सन् 1959 तक वे सेंट्रल प्रॉविंसेस एवं बरार के राज्यपाल रहे। इन्हीं दो से मध्यप्रदेश एवं महाराष्ट्र के प्रांत बने। पुनः सन् 1959 से सन् 1962 तक वे कर्नाटक के राज्यपाल रहे।

मेरे दादाजी ने सूरत, खंडाला और मुंबई स्थित अपनी पूरी संपत्ति देश को अर्पित कर दी थी। (मेरे मां-पिता एक किराए के मकान में रहते थे। उनके पास कार भी नहीं थी।) दादाजी के पास निष्ठा का साहस था। मुझे उनकी कही वह घटना याद है जिसमें लॉर्ड माउंटबेटन के मुंबई आगमन का जिक्र था। भारत छोड़ने से पूर्व वे मुंबई आने वाले थे और उनके सम्मान में भोज के लिए बनने वाली तमाम चीजों की एक सूची दादाजी के पास भेजी गई थी। मेरे दादाजी ने प्रत्युत्तर में लिखा कि वे स्वयं एक शुद्ध शाकाहारी हैं और शराब भी नहीं पिला सकते सो कृपया भोज की सूची में परिवर्तन किया जाए। लॉर्ड माउंटबैटन ने वह पत्र पंडित नेहरू को दिखाया। पंडितजी बहुत अधिक क्रुद्ध हो गए और दादाजी से त्यागपत्र देने को कह दिया। लेकिन जब पंडितजी ने इसका जिक्र गांधीजी से किया तो गांधीजी ने कहा, "इसमें गलत क्या है? पकवासा सही है।" और जब माउंटबेटन को पता चला कि मेरे दादाजी अपना त्यागपत्र दे रहे हैं तो वे बोल पड़े, "क्या बेतुकी बात है, बिल्कुल नहीं! मैं यदि तीन दिनों तक मांसाहार या मद्यपान नहीं करूं तो मर नहीं जाऊंगा। मैं किसी की भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचाना चाहता।"

मेरे पिता शांत स्वभाव के थे। वे एक खांटी सूरतवासी थे। आप उन्हें खुशमिजाज कह सकते हैं। बहुत ही सामान्य आदतों और पसंदों वाला एक व्यक्ति जो निस्संदेह बहुत ही मजाकिया और हाजिरजवाब थे। ढेरों लोग ये तमाम गुण मुझमें पाते हैं। वे सूती वस्त्र व्यवसाय में थे और शेयरों की खरीद-बिक्री में भी लगे रहते, पर डाक टिकट संग्रह उनका असली शौक था। उनके संग्रह के लिए उन्हें कुछ अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिले।

मेरे दादाजी के निवास पर एक विशाल पुस्तकालय था। मुझे अच्छी तरह याद है मैं छुट्टी के दिनों वहां खूब पढ़ती और मिथकशास्त्रों (धर्मशास्त्रों) का गहन अध्ययन करती। महाभारत की मुझे अच्छी समझ है। (मोटे तौर पर सभी लोग रामायण की अच्छी जानकारी रखते हैं।) मेरे घर सभी प्रकार के लोग आते। मैं जैन मुनियों, आचार्य तुलसी, बोहरा प्रमुखों और मुस्लिम काजियों से मिली। प्रिंस आल्या खान से भी मिली। ये सभी मेरे दादाजी के आकर्षक व्यक्तित्व से इतने प्रभावित थे कि उनके राज्यपाल पद से हटने के बाद भी उनसे मिलने आते रहे।

मेरी परवरिश शुद्ध भारतीय थी पर बहुत ही व्यापक और वैश्विक दृष्टिकोण से सम्मत। चपरासियों को भी 'चुन्नीलालजी' बुलाना पड़ता। राजभवनों में 'जी' कहना अनिवार्य था। हम तीन भाई-बहन हैं—एक बड़ी बहन, एक छोटा भाई और मैं। हम दोनों बहनों को कभी यह भान नहीं होने दिया गया कि हम लड़कियां थीं। हमारी शिक्षा ऐसी थी कि हम सब कुछ सीखते—खेल-कूद, नृत्य-संगीत, चित्रकारी। उन दिनों की याद बहुत सुखकर है क्योंकि हमें पूरी आजादी थी। मैं शुरू से ही सह-शिक्षा वाले स्कूल और कॉलेज में थी। मैं मुंबई के गुजराती माध्यम के 'फेलोशिप स्कूल' में थी। भारत छोड़ो आंदोलन के स्वर इसके मैदान में मुखर हुए थे। और मैं कहा करती कि मैंने इस दिव्य मैदान में खेला है। नासिक भोसले सैनिक विद्यालय में हमने सैन्य शिक्षा भी प्राप्त की। और जब मैं छुट्टियां बिताने घर जाती तो वहां मां द्वारा संचालित महिला शिविर में भाग लेती। वहां मैंने घुड़सवारी, निशानेबाजी और ड्रिल सीखी।

उन दिनों संगीत की दुनिया की तमाम हस्तियां राजभवन में हमारे मेहमान हुआ करते। एम. एस. सुब्बालक्ष्मी, बड़े गुलाम अली खान, बिस्मिल्लाह खान, पंडित ओंकार नाथ ठाकुर, उदय शंकर, बालुशर, सिद्धेश्वरी बाई। हम इनकी गोद में सिर रखकर सो जातीं, और नींद खुलती, यों समझिए, बड़े गुलाम अली खान के रियाज़ से। उन दिनों रुक्मिणी देवी मेरी आदर्श थीं, बाल सरस्वती मेरे लिए कला स्वरूप और शांता राव बहुत कुछ थीं। मैं जहांगीर आर्ट गैलरी, मुंबई में प्रदर्शनियां देखने घुस जाती और उन पर डॉ. मोतीचंद्र, प्रसिद्ध विद्वान, से चर्चा किया करती। मैंने कथकली की प्रथम प्रस्तुति भरत अय्यर के साथ देखी। कथकली के माहिर अय्यर की इसी विषय पर पुस्तक भी महत्त्वपूर्ण है। दमयंती जोशी, झावेरी बहनें और सितारा देवी पारिवारिक मित्र रही हैं।

नृत्य में मेरी रुचि किसी के कौतुक का विषय नहीं था। यद्यपि हम दोनों बहनें, आरती और मैं, नृत्य सीख रही थीं, पर मैं शिक्षक के आने से पूर्व ही तैयार रहती थी। मुझमें मानो अदम्य उत्साह था। हां, मेरी संगीत शिक्षा की कहानी भिन्न थी—'आज नहीं, कल,' 'पेट दुखता है' आदि तमाम खोखली बहानेबाजी। उन दिनों हम बंगलोर में थे और मेरे गुरु थे प्रो. यू. एस. कृष्णाराव और उनकी पत्नी चंद्रबाला देवी। वे अद्‌भुत लोग थे। मैंने अपना पहला लोकप्रिय (अमेरिकी) नाच गुरु के साथ किया और सबसे पहली बार जिन और नींबू का मजा भी गुरु और उनकी पत्नी के सान्निध्य में लिया। वे दोनों बहुत प्रबुद्ध थे, सचमुच अनोखी जोड़ी थी। प्रो. राव विश्वविद्यालय में रसायन पढ़ाते थे जबकि उनकी पत्नी कन्नड़ साहित्य के लिए प्रसिद्ध परिवार से संबद्ध थीं।

मेरे शिक्षकों ने जब यह निर्णय लिया कि मेरी 'अरंगेत्रम' की घड़ी आ गई तो उन्होंने मेरे मां-बाप को सूचित कर दिया। अब मुझे दिन में दो बार नृत्य की कक्षा में जाना था। हमने अपने-अपने घरों में बड़े-बुजुर्गों को सूचित कर दिया कि हम कहां जा रहे हैं और कब तक वापस आएंगे। मैं अपने दादाजी के कार्यालय में गई और विशेष पोशाक (आधी साड़ी) पहने उनके सामने खड़ी होकर बोली, "दादाजी मैं जाऊं छूं।" उन्होंने तुरंत सिर उठाया और गुजराती में पूछा, "कहां जा रही हो?" मैंने जवाब दिया, "अपने नृत्य की कक्षा में।" उन्होंने टोका, "पर तुम तो सुबह में गई थी।" फिर गुस्से में चिल्ला पड़े, "तुम कहीं नहीं जा सकती, चलो अपने कमरे में!" मैंने पूछा, "क्यों?" इस पर उनका जवाब था, "मेरे परिवार में नाचनेवाली नहीं चाहिए।"

मैं बहुत आहत थी। लेकिन मैं भी अपने दादा की भांति हूं—जिद्दी। सो मैं कार में सवार होकर अपनी कक्षा में गई और सुबक-सुबक कर दिल की चोट को व्यक्त किया। इसी बीच टेलीफोन की घंटियां घनघना उठीं। राजभवन से फोन आ रहे थे। मैंने गाड़ी वापस भेज दी पर वह पुनः एक संवाद के साथ वापस आई—उसे वापस ले आओ। मैंने जिद पकड़ ली, "मैं वापस नहीं जाने वाली।" इसलिए मेरे शिक्षकों ने उन्हें फोन किया और बताया, "कक्षा समाप्त होने के बाद हम उसे घर पहुंचा देंगे।"

मेरे दादाजी तीन दिन तक मुझसे नहीं बोले और मैंने भी उनसे बात करने से मना कर दिया। मैंने खाने से भी मना कर दिया। अंततः उन्होंने हाथ खड़े कर दिए और बोले, "आओ हम समझौता कर लें। बोलो, बोलो।" "आप बोलिए। सबसे पहले आपने ही मुझे नाच सीखने के लिए प्रोत्साहन दिया और अब ये सब क्या है? आपने अन्य लोगों के सामने मुझे क्यों डांटा?" उसके बाद उन्होंने मुझे देवदासियों के संबंध में सब कुछ बताया। इस पर मैंने कहा, "मैं वह सब नहीं जानती। एक ओर आप रुक्मिणी देवी की प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर आप ये सब कह रहे हैं।" फिर उन्होंने बहुत ही माधुर्य से समझाया और कहा कि मैं कभी भी कला का इस्तेमाल वाणिज्य-व्यापार के लिए न करूं। "तुम इस बात को समझो और तदनुसार मुझे वचन दो।" मैंने कहा, "बिल्कुल, मैं वचन देती हूं।" यह कौन बड़ी बात थी? नाच के लिए तो मैंने कुछ भी वचन दे दिया होता। आज मुझे लगता है कि मैं उनके कहने का अर्थ समझती हूं।

एलफिंस्टन कॉलेज से जर्मन साहित्य में स्नातक होने के बाद मेरे सामने प्रश्न उठा—मैं अब क्या करूंगी? शादी कर लूंगी, छात्रवृत्ति पर विदेश जाऊंगी या भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा में बैठूंगी? मेरे मुंह से चार लफ्ज़ निकले

"मैं नाचना चाहती हूं!" सब कुछ ठहर-सा गया। मेरे पिताजी, मां और दादाजी सभी ने मेरे नृत्य सीखने की बात पर घोर चिंता जताई। मुझे वह दृश्य भली-भांति याद है। उन्होंने कहा, "तुम यह कर सकती हो, वह कर सकती हो, और साथ ही नाच भी सकती हो।" मेरे दादाजी ने कहा कि मेरे पास एक वकील का दिमाग है सो मुझे कानून की पढ़ाई करनी चाहिए। मेरे पिताजी ने इसे निरस्त करते हुए कहा कि मुझे प्रतियोगी परीक्षाओं में भाग लेना चाहिए। उधर मुझे जर्मनी में शिक्षा हेतु एक छात्रवृत्ति मिल रही थी। इस स्थिति में मेरे द्वारा तमाम अवसरों पर एक साथ लात मार देना स्वाभाविक रूप से उन सभी के लिए अचंभे की बात थी। मैंने साफ कह दिया कि मैं नृत्य के सिवा और कुछ नहीं करना चाहती। मेरा अपना परिवार बहुत ही बेचैन हो गया था। मुंबई में हमें लोग अच्छी तरह जानते थे और मैं समझती हूं बहुत लोगों ने कहा 'यह क्या है, यह नहीं होना चाहिए'। मैं छः माह के लिए वापस अपने गुरु के पास चली गई और इसकी खबर भी फैल गई।

अब मैं अनवरत यात्रा पर रहने लगी। हैदराबाद, बंगलोर, गुलबर्गा और बिलासपुर सदृश तमाम छोटे-छोटे शहरों में भी नृत्य हेतु निमंत्रण स्वीकार करती। आगे चलकर सन् 1968 में अखिल भारतीय पहचान मिली जब मैंने राष्ट्रीय फिल्म समारोह के अवसर पर राष्ट्रपति भवन में अपना नृत्य प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् पहली बार आइ सी सी आर ने मुझे अफगानिस्तान जाने के लिए चुना। वहां इंदिरा गांधी के साथ गए शिष्ट मंडल में बेगम अख़्तर, राम नारायण सारंगी और दमयंती जोशी भी शामिल थे। मैं उनमें सबसे छोटी थी।

मैं सदैव पुरुष और स्त्री दोनों के प्रति अति संवेदनशील रही हूं—भौतिक एवं भावनात्मक दोनों स्तरों पर। मानवीय संबंधों के अन्वेषण के मामले में भी मैं लीक से हटकर हूं (यह गुण मुझे दादाजी से विरासत में मिली है)। उन दिनों मैं अपने नाच में मग्न रहती, भावनात्मक रूप से संतुष्ट। इसी बीच दिल्ली में सप्रु हाउस में मेरी पहली प्रस्तुति (सन् 1964) के दौरान मेरी मुलाकात इस भले इंसान ललित मानसिंह से हुई। उड़ीसा के इस निवासी ने भारतीय विदेश सेवा में अव्वल स्थान प्राप्त किया था। कार्यक्रम के बाद डॉ. चार्ल्स फैब्री उन्हें लेकर मंच के पीछे आए। उनके पिता और फैब्री अच्छे मित्र थे। ललित सांवला और बहुत आकर्षक था। उसका शांत स्वभाव, उसकी गंभीरता, और लजालु और मोहक मुस्कान मुझे भा गई थी।

उन दिनों यह एक बिरल घटना थी जब कोई व्यक्ति, जो न तो दून का छात्र था, न ही सेंट स्टीफेंस का, उक्त परीक्षा में सफल हुआ। मैं स्वर्ण सरस्वती

से कुछ पदम सीखने के लिए दिल्ली में रुक गई क्योंकि वे वर्षों बाद इस शहर आई थी। ललित जेनेवा में नियुक्त था। और मैं आयोजनों के एक सिलसिले में दिल्ली आई थी। दिल्ली आते ही ललित ने मुझे फोन किया और मैंने उसे अपने कार्यक्रम में आने का न्यौता दे दिया। यह बात मैंने अपने मां-पिताजी को भी बता दी। उन्होंने कहा, "हे भगवान, अब यह कौन है?" आप तो जानते ही हैं बेटियों के मामले में मां-बाप कैसे होते हैं! अगले दिन सुबह मैंने अपने भाई को साथ लिया और ललित को उसके होटल छोड़ आए। आठ महीने तक हम एक-दूसरे को पत्र लिखते रहे और अंततः शादी करने का निर्णय ले लिया। शादी सन् 1965 में जेनेवा में हुई और मैं ढाई वर्षों तक यूरोप में रही। स्पेन, फ्रांस, जर्मनी, हॉलैंड एवं लक्जमबर्ग में नृत्य करती, सिखाती रही। मैंने विदेश में पूरे भारतीय नृत्य परिदृश्य को उजागर किया। इससे पूर्व सन् 1940 के दशक में सिर्फ उदय शंकरजी ने विदेशों में नृत्य प्रस्तुत किया था। उसके तीस वर्ष बाद तक इस मंच पर चुप्पी छाई रही थी।

जुलाई, सन् 1968 में हम वापस दिल्ली आ गए थे। हम विदेश मंत्रालय के छात्रावास में टिके थे जहां से टहल कर मैं त्रिवेणी चली जाती और वापस चली आती। इसी बीच ललित के पिता मायाधर मानसिंह दिल्ली आए। वे एक महान कवि, शिक्षाविद् और बहुत अच्छे व्यक्ति थे। मैं उनकी पूजा करती हूं—पूरे तन-मन-धन से। मैं ओडिसी नृत्य के प्रशिक्षण हेतु अपने श्वसुर की आभारी हूं। उन्होंने कहा, "तुमने भरत नाट्यम सीखा, एक बड़ी स्टार हो, अब ओडिसी सीखो।" वे स्वयं मुझे गुरु केलुचरण के पास ले गए और बोले, "ये मेरी बहू है, आपको इसे प्रशिक्षण देना है।" वे दोनों निकट के मित्र थे। और मेरे श्वसुर मेरे प्रशिक्षण-अभ्यास के दौरान बैठे रहते, वापस घर लाते। मैं उनकी श्रद्धा करती हूं।

एक नर्तकी के रूप में विदेशों में मेरी व्यस्तता बढ़ती जा रही थी। भारत वापसी पर मुझे यह अहसास होता कि लोगों को भूलने में समय नहीं लगता। महज ढाई वर्ष की अवधि ने सब कुछ बदल दिया था, लोग मानो मुझे भूल गए थे और मुझे स्वयं को पुनर्स्थापित करना था। एक वजह और थी—पहले मैं मुंबई से काम करती थी; वही मेरा आधार था। मैंने जीवन में पहली बार दिल्ली को घर बनाया था। यहां मैं सिर्फ दो लोगों को जानती थी—डॉ. चार्ल्स फैब्री और मोरारजी देसाई। चार्ल्स मेरे लिए क्या कर पाता? वह बहुत ही मधुर स्वभाव का था और सहायता के लिए तत्पर रहता। मोरारजी मददगार साबित नहीं हुए। मुझे संगीतज्ञों की तलाश थी—अपनी मंडली जमाने की ललक। आरंभिक कठिनाइयों

के बाद मुझे कार्यक्रम मिलने लगे पर इसी बीच मेरी शादी टूट गई। किसी संबंध का टूटना वाकई अंदर तक तोड़ डालता है। इससे उबरने में समय लगता है। घाव गहरा होता है। खैर, मैं इस संबंध से निकल गई—खाली हाथ। कुछ भी नहीं मांगा—जीवन निर्वाह के लिए भी कुछ नहीं। मैं मात्र 31 वर्ष की थी। मेरे सभी तथाकथित मित्रों ने मुझसे मुंह फेर लिया था।

पर अपनी हठ के लिए मैं खुद अपनी पीठ थपथपाती हूं। मुझे यदि नाचना है, तो नाचना है। मैंने किसी को भावनात्मक रूप से ब्लैकमेल करने का अवसर नहीं दिया। नृत्य मेरा सबसे बड़ा संबल रहा—मेरे जीवन की असली धुरी। इसने मुझे कभी भी टूट कर बिखरने की अनुमति नहीं दी—भले ही मुझे कितना नीचा और बौना दिखाया गया। आपको पता है इस घटना के बाद मैंने कहां आश्रय लिया—अपने गायक के घर! उसने अपने बच्चों के कमरे में मेरे लिए एक छोटी खटिया डाल दी। मेरे माता-पिता आ रहे थे, इसलिए मुझे रहने के लिए पुनः इंडिया इंटरनेशनल सेंटर जाना पड़ा। मैं बदहवास हो गई थी। मेरा शायद ही कोई मित्र था। पैसा भी नहीं था। मेरे सहकर्मियों ने यह अफवाह फैला दी थी कि मैं वापस नहीं आऊंगी। मुझे लोगों को फोन कर यह बताना पड़ा कि देखो, मैं सिर्फ छुट्टियां बिताने गई थी और सदा के लिए वापस आ गई हूं। लोगों के व्यवहार से मैं क्षुब्ध रह गई थी। बेचैनी का पूछिए मत। ये ही दिन थे जब मैं नृत्य को तिलांजलि देकर सदा के लिए देश छोड़ जाने का सोचती। मेरे माता-पिता मुझे नहीं चाहते क्योंकि मैं तलाक की प्रक्रिया से गुजर रही थी। मेरे पास जाने के लिए वाकई कोई आत्मीय जगह नहीं बची थी। यह नारकीय यातना थी।

उसके बाद मैं एक ऐसे शख्स से मिली जो मुझे भावनात्मक समर्थन देने लगा। मैं मैक्समुलर भवन में एक कार्यशाला आयोजित कर रही थी तब मुझे डॉ. जार्ज लेचनर मिले। उन्होंने याद दिलाया कि वे सन् 1970 में मुझसे मिले थे। पर मुझे कुछ याद नहीं था क्योंकि उस समय वह कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं थी।

उसके कुछ दिनों बाद मैं मांट्रियल में दुर्घटनाग्रस्त हो गई। इसने मुझे सदा के लिए पंगु बना दिया होता। रविवार का दिन था। 24 अगस्त, 1974—हम न्यूरेंबर्ग गए थे। बेयरूथ से 50 किमी दूर। हमने पूरा एक दिन वहां बिताया और लगभग एक बजे वापस आ रहे थे क्योंकि सुबह एक कार्यशाला में जाना था। बारिश हो रही थी। घना अंधेरा था और चारों ओर घना जंगल। गिनी-चुनी गाड़ियां ही उधर जा रही थीं क्योंकि वह सड़क पूर्वी जर्मनी की सीमा को छूती है। अचानक हमने एक जानवर को भागकर सड़क पार करते हुए देखा। हम

एक वोक्स वैगन में सवार थे। उन दिनों सुरक्षा-पेटी का चलन नहीं था। पैर स्वतः ब्रेक पर चला गया—हालांकि गीली सड़क पर इतनी तेज गाड़ी को कभी भी ब्रेक नहीं लगाने चाहिए। गाड़ी ने तीन-चार पलटे खाए (कछुए की भांति) और मैं बाहर लुढ़क गई। बिल्कुल निश्चेष्ट। लेकिन हमारे देश के विपरीत, जर्मन पुलिस और एंबुलैंस मिनटों में पहुंच गई। मेरी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी। गरदन की बाईं हड्डियां और चार पसलियां भी टूट गई थीं। जार्ज बाल-बाल बचा था। मैं जीवनदान के लिए डॉ. पियरे ग्रेवेल की आभारी हूं। मांट्रियल में पूरे 11 महीने पलस्तर लगाए बैठी रही थी। जीवन भर के लिए विकलांग भी हो सकती थी।

भावनात्मक रूप से इस दुर्घटना ने एकबारगी मुझ पर गहरा असर डाला। मैं गंभीर हो गई। अधिक भावुक और संवेदनशील। उस भयंकर त्रासदी से उबरने के बाद मेरा पुनर्जन्म हुआ था। मैं दुनिया को देख कर मुस्करा रही थी। सब कुछ आनंददायक लग रहा था। बिरजू महाराज से बात की। उनसे आशीर्वाद लेने गई। सितारा देवी ने मुंबई से फोन किया। और मैंने सोचा, सब कुछ कितना सुंदर है! नई दिल्ली में आगमन के तत्काल बाद मेरा पहला कार्यक्रम अशोक होटल में निर्धारित किया गया। हाथों-हाथ टिकट बिक रहे थे। जानी-मानी सभी हस्तियां यह सचाई देखने वहां पहुंचीं कि क्या वाकई मैं अपने पैरों पर खड़ी थी। दरअसल अफवाह फैल गई थी कि मैं बहुत मोटी हो गई थी और लोगों ने यह भी सुना था—"उसकी तो हड्डी टूट गई है।" खैर, वह प्रदर्शन शानदार रहा। मैं अपनी 'जगह' और उत्साह वापस पा चुकी थी। मुझे लग रहा था मानो मेरे पैर मंच पर टिक नहीं रहे थे। कुछ दिनों बाद ही मैंने रंगभवन, मुंबई में कार्यक्रम किया जहां सितारा देवी भी गा रही थीं। मैंने अपनी प्रस्तुति खत्म की ही थी कि वे मंच पर आ गईं और मुझे आलिंगनबद्ध कर रो पड़ीं। उन्होंने अपना काला धागा निकाला और मेरी कलाई पर बांध दिया। पर मुझे अफसोस है कि वह भावना अब शायद ही देखने को मिलती है। और यदि कभी वैसी भावना व्यक्त की जाती है तो उसका अर्थ ही गलत निकाला जाता है। दो महीने बाद मैं एक्स-रे आदि के लिए पुनः मांट्रियल गई। प्रकृति ने चमत्कार कर दिखाया था। मेरी मुख्य कशेरुका तो पूरी तरह टूट गई थी पर दो कशेरुकाएं जुड़कर एक नए सेतु को जन्म दे चुकी थीं। एक नई हड्डी बन गई थी। आप जानते हैं, यह शरीर एक कल्पवृक्ष की भांति है। सब कुछ हमारे अंदर ही है।

पहले मैं सोचती कि बच्चे बड़े उबाऊ होते हैं पर अब उन्हें प्यार करती हूं। बच्चे सचमुच सुंदर होते हैं पर जहां तक मेरा सवाल है मैं अपनी जीवनचर्या से बहुत सुखी हूं । मैं कभी यह कुंठा नहीं पालना चाहती थी कि मेरा बच्चा

हो और मैं उसे समय नहीं दे सकूं। मुझे बच्चा पैदा करने की स्वाभाविक ललक नहीं रही। यह बेतुकी बात है कि हरेक स्त्री, मातृत्व का उत्तरदायित्व ले! किसी ने यह तो नहीं कहा कि हर पुरुष बाप बने! मुझे लगता है कि अपने शिष्यों के बीच स्वस्थ जागृति उत्पन्न कर मैं एक कहीं अच्छी मां साबित हो रही हूं। मेरे भतीजे, भतीजियां हैं। दोस्तों के बच्चे हैं। हवाई जहाज या रेलगाड़ी पर भी बच्चे मुझसे बहुत ही प्यार से मिलते हैं। जानवरों की भांति बच्चे भी एक प्रभामंडल के प्रति संवेदनशील होते हैं। वे जब अंतःकरण से आप में विश्वास करते हैं तो मुस्कराते हैं और आपके समीप आते हैं।

मैंने सन् 1997 में भारतीय शास्त्रीय नृत्य केंद्र (सी आइ सी डी) की नींव रखी। इसके पीछे मेरा अभीष्ट था भारतीय शास्त्रीय नृत्य में प्रशिक्षण, शोध, प्रदर्शन और इसका प्रसार। मेरे पास नई दिल्ली स्थित किराए के मकान के गैराज के सिवा कुछ भी नहीं था। यह केंद्र 25 वर्षों की गौरवपूर्ण और सफल (यद्यपि कुछ हताशाजनक) यात्रा के बाद भी उसी छोटे गैराज में कार्यरत है। यह केंद्र हर परिस्थिति में सफल रहा है क्योंकि अनुशासित पर रचनात्मक ऊर्जा के सुर-ताल इस छोटे से गैराज में अनवरत सुनाई पड़ते रहे हैं। गौरवपूर्ण इसलिए क्योंकि कारगिल युद्ध जैसी विषम परिस्थितियों में भी छात्रों ने अपने गुरु के पदचिह्नों पर चलते हुए देश पर जान न्यौछावर करने वाले सैनिकों एवं लड़ाकू विमान के चालकों के समक्ष प्रदर्शन किया, उन्हें उत्साहित रखा। केंद्र हताशाजनक रहा, क्योंकि जहां दुनिया साल-दर-साल इसकी प्रशंसा करतल ध्वनि से करती रही है वहीं इस अद्भुत केंद्र के लिए एक अच्छी जगह नहीं मिल पाई।

अस्सी के दशक में भारत सरकार ने इस केंद्र के लिए दिल्ली के केंद्र में लगभग आधा एकड़ महत्त्वपूर्ण सांस्थानिक भूमि प्रदान की। इस अनुदान ने केंद्र के शिक्षकों, छात्रों, उनके अभिभावकों के बीच खुशी की लहर उत्पन्न कर दी। सभी ने प्रस्तावित केंद्र को मूर्त्त रूप देने के लिए कंधे-से-कंधा मिलाकर काम करने का प्रण लिया। यहां उल्लेखनीय है कि दुर्भाग्यवश आधुनिक शिक्षण में संस्कृति को वह स्थान नहीं दिया गया है जिसकी वह हकदार है। यह केंद्र इसी बिंदु पर केंद्रित है क्योंकि भारतीय संस्कृति की अनेकों बारीकियां हैं जो जीवन की हमारी समझ-अनुभूति को एक नया आयाम देती हैं। सिर्फ अच्छी पढ़ाई ही काफी नहीं है। आप भारतीय पौराणिक कथाओं, पुराण निर्माण की प्रक्रिया आदि में जितना अधिक गोता लगाएंगे उतनी ही जिज्ञासा बढ़ेगी। इसलिए अपनी कहानियों, किंवदंतियों और आसपास की घटनाओं की गहरी समझ विकसित करें ताकि आप इन पौराणिक कथाओं-किंवदंतियों के कथ्य और प्रतीकों को समझ

पाएं। आप इसे एक प्याज के रूप में देखें, उसके छिलकों को उतारना प्रारंभ करें। क्या कहीं अंत नजर आता है? दरअसल छिलका उतारने की पूरी प्रक्रिया ही एक यात्रा है—एक अद्‌भुत रहस्यमयी यात्रा।

मेरे जीवन का एक चरण वह था जब मुझे अधिक-से-अधिक कार्यक्रमों की ललक थी। उससे परे मैं कुछ नहीं देखती। पर पूरे एशिया महादेश, यूरोप और भारत के कोने-कोने में प्रदर्शन कर लेने के बाद प्रदर्शन मेरे नृत्य का एकमात्र मकसद नहीं रहा। यह भावना मेरे अंतरमन के विकास के साथ उपजी है। यदि लोग कहते हैं कि अब हम उसे (सोनल को) नहीं देखना चाहते तो मैं खीझ कर यह नहीं कहूंगी कि, "हे भगवान, मेरी तो लीला ही समाप्त हो गई।" माना नृत्य एक उन्नत बनाने वाला अनुभव है, पर हमारी इह लीला कहीं बृहत्तर है।

नृत्य सदैव ही मेरे जीवन की ज्योति रही है और मैंने कभी भी इसे आंखों से ओझल नहीं होने दिया है। यों तो मुझे मंच के बीच निखर कर रहने की आदत पड़ी हुई है पर इसका अर्थ यह नहीं कि मैं आत्मरति में डूबी हूं। मुझे सदैव 'वाह-वाह' की गूंज नहीं चाहिए। लेकिन, अंततः अपने जीवन के केंद्र में सिर्फ मैं हूं। हमें चाहिए कि सावधानीपूर्वक और आत्मसम्मान के साथ जीवन व्यतीत करें।

प्रीति सेनगुप्ता (जन्म : 1945) अदम्य यायावरी की अवतार हैं! वे तीन दशकों से अधिक दुनिया भर की सैर करती रही हैं। 'एकला चलो रे' उनका मूल मंत्र है। उन्होंने दुनिया के सभी छः महादेशों के अनेक राष्ट्रों, और सातवें महादेश अंटार्कटिका की भी यात्रा की है! सन् 1992 में उस दुस्साहसी यात्री क्रिस्टोफर कोलंबस की 500वीं वर्षगांठ के अवसर पर प्रीति ने 'हाई आर्कटिक' में चुंबकीय उत्तरी ध्रुव की यात्रा संपन्न की। ऐसा करने वाली वह पहली भारतीय और प्रथम शाकाहारी थीं। यात्रा प्रेम ने प्रीति को लिखने के लिए प्रेरित किया और उन्होंने अंग्रेजी और गुजराती में निबंधों एवं कविताओं की 25 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित कीं। उनमें आठ को सर्वश्रेष्ठ लेखन के लिए नाना प्रकार के साहित्यिक पुरस्कार मिले। सन् 1993 में प्रीति सेनगुप्ता को गुजरात सरकार का सुप्रसिद्ध विश्व गुर्जरी पुरस्कार मिला।

11

जीरो माइल से प्रारंभ

प्रीति सेनगुप्ता

किसी पर्यटन स्थल की कई सुंदर तस्वीरों में एक, जो बार-बार मेरी स्मृति में आ जाती है वह है दो नदियों का संगम। ऊंची सड़क की पहाड़ी कगार पर एक छोटा मंदिर है। शिव के इस मंदिर में एक लिंग, एक त्रिशूल और हवा में फड़फड़ाता एक तिकोना ध्वजा है। वहां से खड़ी और संकरी सीढ़ियां नीचे फिसलन भरे मैदान में उतरती हैं। यह स्थान है गढ़वाल जिले का रुद्रप्रयाग। और नदियां हैं मंदाकिनी और अलकनंदा। उनमें एक काली, गहरी और शांत होने का भ्रम देती है; दूसरी झाग से भरी, स्वच्छ और हिलोर लेती हुई। कुछ दूर तक दो स्पष्ट रूप से भिन्न जल राशियां अलग-अलग चलती हैं फिर धीरे-धीरे मिलकर भरपूर प्रवाह बनाती हैं।

लगभग दो दशकों से मेरा जीवन दो चीजों पर केंद्रित है—शब्द और यह संसार। अन्य शब्दों में लेखन, और यात्रा। दो नदियों की भांति ये दो गतिविधियां बिल्कुल पृथक् हैं—एक में एकांत, ध्यान और अंदर रहने की आश्यकता है जबकि दूसरी में दृढ़ता, धैर्य और सदैव अपरिचितों से मिलना-जुलना अनिवार्य है। इन दोनों को न मिलने वाले दो ध्रुव मानने की बजाय मैं 'यिन' और 'यैंग' की भांति स्वीकार करना पसंद करूंगी। 'यिन' और 'यैंग' मिलकर एक संतुलित संपूर्णता बनाते हैं। और मेरे जीवन की दो धाराएं वाकई मिलती हैं—मैं जब लिखती हूं तो बाहरी दुनिया से बेखबर नहीं होती और जब यात्रा पर होती हूं तो आत्मावलोकन भी करती हूं।

बचपन से ही हमेशा मेरी तमाम मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हुई, और मेरा जीवन आरामदेह था। मेरी कई रुचियां—संगीत, चित्रकारी, नृत्य, अभिनय, कशीदाकारी, छींट से डिजाइन निर्माण, पढ़ाई आदि विकसित थीं और मेरी उम्र के साथ ही मेरा सौंदर्यबोध भी बढ़ता गया। मेरे लिए संघर्ष भावनात्मक स्तर पर था, और रहा है। शायद बहुत कम उम्र में ही पिता के खो जाने की वजह से यह आवश्यकता उत्पन्न हुई। लड़की होने के नाते मुझसे चयन की आजादी

छिन गई। स्वतंत्र गतिविधि तो दूर, सोच भी नहीं सकती थी। शुरू से ही अंतर्विरोध स्पष्ट थे : एक ओर सुरक्षित संपन्न जीवन और दूसरी ओर कई पाबंदियां। मैंने किशोरावस्था में ही निबंध और कविताएं लिखीं और प्रत्येक वर्ष स्कूल के छात्र-छात्राओं और परिवार के सदस्यों के साथ भारत भ्रमण किया। मैं शर्मीली और अंतर्मुखी स्वभाव की थी। मेरे अंदर कुंठा भी थी। पर कुछ ऐसे लक्षण भी मुझमें विद्यमान थे कि मैं लीक से हटकर चलने वाली, और सतही परंपराओं को धता बताने वाली थी। मुझे लगता है मेरी मां यह भांप गई थी और वह इससे चिंतित भी थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरा अपना एक व्यक्तित्व निखरने लगा था और अमेरिका जाने के बाद तो मेरा एक अलग व्यक्तित्व बन गया। मैं एक छात्रा थी, नए स्थान पर अकेली। मुझे कई चुनौतियों का सामना करते हुए जीवन यापन करना था। इस प्रकार अमेरिका में ही मैं अपने निर्णय स्वयं करने लगी थी। मैं कभी भी ऐसे काम में नहीं गई जो स्थाई और पैसा बनाने वाला हो, लेकिन दुनिया और इसने जो अवसर दिए उसे देखने का मेरा जरिया सदैव विस्तृत होता रहा। मेरी पहली यात्रा, तीन महीने लंबी बस यात्रा, अमेरिका के इर्द-गिर्द केंद्रित थी। मैं निहायत अकेली थी। प्रायः इस यात्रा के बाद से ही मैं स्थानों और लोगों को वह देने लगी जिसकी मुझे स्वयं सख्त जरूरत थी—समझ और प्यार। और यही शुरुआत थी यात्रा में मेरे मग्न होने की।

भारत से दूर रहना मेरे लिए अपने घर से बिछुड़ने की तरह था तभी मुझे अमेरिका में सहज होने में दस वर्ष से अधिक लगे। हालांकि इस बीच मैंने यात्रा करनी शुरू कर दी थी। मैं छह माह कमाती और अगले छह माह घूमती। पहले यह कुछ अटपटा लगता क्योंकि मैं अकेली जाती। दरअसल मैं किसी को नहीं जानती जो मेरे साथ जाना चाहता। बल्कि मैं तो किसी से पूछती भी नहीं। लोग अमेरिका पैसा कमाने आते न कि सैर के लिए—सत्तर के दशक में तो नहीं ही।

यूरोप की मेरी पहली यात्रा का अर्थ था कई गैर-अंग्रेजी भाषी क्षेत्रों में पहली बार कदम रखना। मैंने फ्रेंच का अध्ययन किया। सभी देशों के बारे में पढ़ा जहां जाने की मैंने योजना बनाई थी। नक्शों में उनका अता-पता ढूंढ़ती रही। फिर भी मैं अकेली, अनभिज्ञ, अनुभवहीन और कुछ घबराई हुई थी। मैं एक नाव से इंगलिश चैनल पार कर तीन बजे सुबह बेल्जियम पहुंची। वहां छोटे-से स्टेशन पर एक लकड़ी के बेंच पर कुछ घंटे सो गई। मैं जगी तो स्टेशन पर लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी थी—काम पर जाते लोग और स्कूल जाते बच्चे थे।

मुझे देखकर उन्हें कितना अटपटा लगा होगा! सूरज के ऊपर चढ़ने पर मैं ब्रुगेश नामक उस मध्यकालीन नगर के छोटे-से पर्यटन कार्यालय में गई जहां मेरी बातचीत एक अमेरिकी छात्र से हुई जिसने कहा कि अकेले घूमने में उसे बहुत घबराहट हो रही है। मुझे लगा मानो उसके शब्द एक रहस्योद्घाटन कर रहे हों। मैंने मान लिया कि यदि पुरुष भयभीत हो सकते हैं तो मेरे लिए—एक युवा, ठिगनी औरत के लिए—कुछ घबराहट महसूस करना कतई अस्वाभाविक नहीं था!

मैं जैसे-जैसे दुरूह स्थानों मसलन जार्डन, सीरिया, म्यांमार, कंबोडिया, तिब्बत, ग्रीनलैंड आदि की यात्रा करती रही वैसे-वैसे खुद को आत्मविश्वास का सबक सिखाती रही। मैंने यात्रा जारी रखना सीखा और घबराने से पूर्व खुद को संयत करने के लिए पांच मिनट प्रकृतिस्थ होना प्रारंभ किया। प्रत्येक यात्रा के बाद मेरे आत्मविश्वास में वृद्धि होती। साथ ही अपरिचितों से रू-ब-रू होने की क्षमता बढ़ी। पचीस वर्षों के बाद आज भी मैं अकेली घूम रही हूं—बिना किसी संपर्क, आरक्षण या इंतजाम के। मैं किसी स्थान पर अच्छी उम्मीदों के साथ पहुंचती हूं। बल्कि यों कहूं कि मैं स्थानीय देवताओं का आवाहन करती हूं और अपने-आपको उनकी देखभाल में छोड़ देती हूं।

बतौर सैलानी अस्सी का दशक मेरे लिए बहुत ही व्यस्त रहा जब मैंने दुनिया के सात महाद्वीपों की यात्रा की। मैं एक के बाद दूसरे देश की यात्रा करती और अद्भुत सुख का अनुभव करती। कठिनाइयों और असुविधाओं पर ध्यान ही नहीं देती। शाकाहारी होना मेरे लिए एक खास चुनौती थी पर मैंने अल्पाहार की आदत डाल ली। कभी-कभी निराहार रह जाती! धीरे-धीरे मैं अपनी खास पसंद-नापसंद भूल गई। अमेरिका, कनाडा, यूरोप, एशिया, दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के एक छोर से दूसरे छोर की यात्रा कर लेने के पश्चात् मुझे लगा कि मैं किसी ऐसे स्थान पर जाने के काबिल हो गई थी जो मुझे भी असाधारण दिखे। यह था अंटार्कटिका—दक्षिणी ध्रुव के गिर्द हिमाच्छादित विशाल महादेश। मैं अर्जेंटीना के दक्षिणी छोर से जहाज पर सवार होकर निकली। रास्ते में बर्फ के विशाल पहाड़ देख हैरान रह गई। कई हिमनद मिले और अनछुई, अनदेखी हिमराशियां। सारा परिदृश्य ही अद्भुत था। मेरी यह समुद्री यात्रा इतनी विशिष्ट थी कि मैं आज भी बात-बात में 'अंटार्कटिका से पूर्व और उसके बाद के जीवन' की चर्चा कर देती हूं।

इसके बाद मेरा ध्यान 'हाई आर्कटिक' पर गया। उस विशाल क्षेत्र को मैंने कम-से-कम आधा महाद्वीप तो मान ही लिया और वहां जाने की ठान ली। सन् 1992 में चुंबकीय उत्तरी ध्रुव के लिए रवाना एक अभियान दल में शामिल हो

गई। संयोगवश यह क्रिस्टोफर कोलंबस द्वारा पश्चिमी दुनिया की खोज की 500वीं वर्षगांठ थी। मैं अपने जीवन में किसी अन्य खोजी-यात्री के नाम कुछ खास काम करना चाहती थी। मैं यह भी कहती रही थी कि अंटार्कटिका और 'हाई आर्कटिक' दोनों की यात्रा का अर्थ था पूरी धरती का आलिंगन कर लेना। संभव है लोगों ने इसे किसी पागल औरत की घोषणा मान लिया हो पर मेरे लिए तो यह यर्थाथ था। यात्रा के लिए मेरी आंतरिक ललक की अभिव्यक्ति। अंततः मैंने चुंबकीय उत्तरी ध्रुव पर अपना पांव रख दिया—पहली भारतीय महिला और ऐसा करने वाला पहला शाकाहारी! उसके बर्फीले वक्ष पर भारतीय तिरंगा लहरा दिया। यह बेहद कठिन यात्रा थी। कुल्फी जमा देने वाली ठंड, —70° सेल्सियस तक, को सहने के लिए मुझे अपनी पूरी आंतरिक ताकत लगा देनी पड़ी। लेकिन सैकड़ों मील फैली शुद्ध सफेदी और देर रात तक का उजाला सचमुच लोमहर्षक था। मैं स्लेज पर सवार जमे हुए महासागर पर यात्रारत थी। और मुझे इसमें कोई शक नहीं था कि वहां व्याप्त एक दिव्य शक्ति मेरी सुरक्षित वापसी सुनिश्चित कर रही थी।

सचमुच मेरे प्रयासों की पराकाष्ठा थी क्योंकि इससे अधिक दुर्गम स्थान पर मैं कभी नहीं पहुंच पाई। लेकिन मैंने यात्रा जारी रखी और अब तो मैं सैकड़ों देशों की यात्रा कर चुकी हूं—कुछ की तो एक से अधिक, दो या तीन बार भी! मैंने कभी भी जल्दबाजी नहीं दिखाई है। बल्कि इसके विपरीत मैंने मंथर गति से यात्राएं पूरी की हैं। और हमेशा ही उन स्थानों के प्रति अपने को समर्पित किया। दरअसल आज भी मेरा ध्यान उन स्थानों पर ही टिका होता है। लोग हमेशा मुझसे पूछते हैं कि अपने में मग्न, मैं ऊबती नहीं। संक्षिप्त जवाब है 'नहीं'।

लेकिन मेरे अकेलेपन के संबंध में बहुत कुछ कहने को है। यह किस प्रकार मेरे लिए लाभदायक सिद्ध हो रहा है उसकी चर्चा होनी है। येरूसेलम की मेरी यात्रा, जिसे मैं अपनी तीर्थयात्रा कहती हूं, ने मुझे एक निबंध लिखने को प्रेरित किया। इसी निबंध ने मुझे यात्रावृत्तांत लेखिका भी बना दिया। धीरे-धीरे, इन वर्षों में अपनी कुछ पुस्तकों के लिए मुझे कई पुरस्कार मिले और यह बहुत ही संतोषप्रद रहा। चूंकि मैं अपने आप में खोई रहती हूं सो किसी स्थान की महक और मेरे बीच कुछ भी नहीं होता। और वह कुछ विशिष्ट रूप से मेरे सम्मुख अनावृत्त होता है। मैं आश्चर्यचकित हो उसे निहारती हूं और उस स्थान पर घर जैसा सुकून पाती हूं। ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं एक साथ एक बाहरी और स्थानीय की भूमिका में होती हूं। एक तीर्थयात्री और स्थान को प्रसिद्धि दिलाने वाली होती हूं। मैं खुद को भूल जाती हूं।

लेकिन कथनी और करनी में बहुत फर्क होता है। यह सब इतना आसान नहीं था जितना ध्वनित होता है। यों तो सभी राष्ट्रों और विभिन्न नस्ल के लोग मोटे तौर पर समान होते हैं पर प्रत्येक स्थान के घटक बहुत ही भिन्न होते हैं। और ऐसा लगता है मानो स्थान-काल-पात्र के अनुसार दिमाग के भिन्न कणों को इस्तेमाल करने की आवश्यकता होती है! और ऊपर से यह स्त्री जन्म! उफ, मेरी समस्याएं त्रिशूल की भांति हैं। मैं एक स्त्री हूं; एक भारतीय स्त्री हूं; और अकेली यात्रा करने वाली भारतीय नारी हूं। ऊपर से विवाहित होने की दशा। इसलिए यदि लोग मुझे भरमाने या मुझ पर ताना मारने की सोचते हैं तो वे यह भी जानना चाहते हैं कि मैं अकेली क्यों हूं? या मैंने अपने पति को कैसे अकेला छोड़ दिया? लोग मुझे आसान शिकार के रूप में देखते हैं—एक बुरी, बल्कि दुश्चरित्र महिला!

पर यात्री के रूप में मुझे शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि मेरी किसी भी दुखद दास्तान—शारीरिक कष्ट-कठिनाई या एकांत या अजनबी का विचित्र व्यवहार—को सुनते ही लोग यह कहने को उद्यत होते हैं—"तो आप जाती ही क्यों हैं?" इस प्रकार यात्रा के सकारात्मक पक्ष—साहस, दृढ़ता, उत्साह सबको ग्रहण लग जाता है। फिर सवाल भारतीयता का। 'राष्ट्रीय सीमाओं पर भारतीयों से संदेहास्पद पात्र की भांति व्यवहार किया जाता है। खाड़ी युद्ध के दिनों मुझे डेढ़ वर्ष तक यह झेलना पड़ा। मैं कुछ ही महीने पूर्व ट्यूनीशिया गई थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यूरोप एवं अमेरिका के सीमा अधिकारियों ने मेरे संबंध में कई शंकाएं पाल ली थीं। वे मुझसे बार-बार कुछ सवाल पूछते रहे : "आप क्यों गई? आपने क्या किया? आप कहां टिकीं? किससे मिलीं?" उन्हें लगता मानो मैं जासूस थी। वे यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि कोई अकेली भारतीय महिला एक विदेशी सैलानी भी हो सकती है।

मध्य अमेरिका की एक यात्रा के दौरान, ग्वाटेमाला मुझे प्रवेश न देने पर आमादा था, हालांकि मेरे पास वीजा था और मैं अमेरिका में रहती थी। उनकी मनाही की वजह यह थी कि मेरा जन्म भारत में हुआ था। मैं एकबारगी उन तमाम भारतीयों के लिए उत्तरदायी ठहरा दी गई थी जो ग्वाटेमाला के जंगलों का इस्तेमाल मेक्सिको जाने के लिए करते हैं जहां से वे अमेरिका में घुसपैठ का प्रयास करते हैं। लेकिन इस सब के बावजूद वस्तुतः भारत में ही किसी भारतीय नारी का अकेला घूमना सबसे अधिक कठिन है! तब तो मैं यदि यात्रा पर आमादा ही हूं तो एक भावुक-मूर्ख हूं! और भारत में यत्र-तत्र या सर्वत्र घूमना नहीं छोड़ सकती।

लोग मुझे मेरे सबसे अच्छे और सबसे बुरे अनुभवों के बारे में जब-तब पूछते हैं! इसका उत्तर देना मेरे लिए कठिन होता है क्योंकि सामान्यतया मैं बुरी घटनाओं को अपनी स्मृति से मिटा देने को उद्यत रहती हूं। मैं जब मध्य अमेरिका के सात देशों की यात्रा पर थी तो लगभग दो महीने तक हर दिन सचमुच कष्टकर होता—कभी गर्मी, तो कभी लंबी बस यात्रा, या सीमा पार करने के झमेले। अत्यधिक थकान, या लगातार शोरगुल के कारण रातें अकसर आंखों में जातीं। यह वाकई दुष्कर यात्रा थी। लेकिन मैं जब वापस आई और लोगों ने उसके बारे में पूछा तो मैं यात्रा की शानदारी का राग अलापती रही। मैं सचमुच सारी यातनाएं भूल चुकी थी। आज तक वह यात्रा, और उस पर केंद्रित मेरी पुस्तक मेरी प्रिय यादों में हैं!

लेकिन असली खतरों को बातचीत में नहीं टाला जा सकता। मैं तो भाग्यशाली रही हूं कि कई बार बाल-बाल बची। खासकर उलुरू की घटना लोमहर्षक थी। यह आस्ट्रेलिया के लाल मरुस्थल में स्थित विशाल अखंड पत्थर है जिसकी परिधि नौ किलोमीटर है। हजार फुट ऊंचे इस पत्थर पर चढ़ना किसी व्यक्ति की शारीरिक शक्ति और फुर्ती की जांच है। इसकी चोटी से आप जमीन नहीं देख सकते। आप देख सकते हैं ऊपर फैला नीला आकाश और भांय-भांय चलती हवा। मुझे लगा मैं हवा में लटक गई थी। नीचे उतरना और अधिक कठिन साबित हुआ। एक स्थान पर मेरा पैर फिसल गया और मैं तीव्रता से नीचे आने लगी। मैंने चिल्लाकर अन्य लोगों से कहा कि वे किनारे हट जाएं पर स्वीडेन की एक महिला, जो अंग्रेजी नहीं जानती थी, ने हटने की बजाय अपनी बांहें फैला दीं। तत्क्षण मिली सहायता से मेरे गिरने का सिलसिला टूट गया और मेरे हाथ-पांव टूटने से बच गए। अधिक गंभीर दुर्घटना भी हो सकती थी। मैंने उस महिला को धन्यवाद दिया। उसने किसी अन्य के माध्यम से कहा कि वह अगला जन्म किसी अंग्रेजी भाषी राष्ट्र में लेना चाहती है। फिलहाल मैं शुक्रगुजार थी कि वह अंग्रेजी भाषी राष्ट्र की नहीं थी। उसने मेरी चीख का दूसरा अर्थ लगा लिया था।

खतरनाक परिस्थितियों की चर्चा के क्रम में एक अन्य दुर्घटना का जिक्र मेरे लिए जरूरी है। यह दुर्घटना अथाह और अंतहीन अंटार्कटिक महासागर के बर्फीले जल में हुई थी जहां ह्वेल का आक्रमण भी था। यात्रा के बारहवें दिन जहाज किसी डूबी हुई चट्टान से जा टकराया। जहाज में तत्काल दरार आ गई और पानी भर गया। जहाज के यंत्र कक्ष में मानो बाढ़ आ गई। बिजली गुल हो गई। जहाज एक ओर झुक गया और एक अनपेक्षित संकट उपस्थित हो गया। यात्रियों एवं चालक दल के लोगों को जहाज से कूदकर तंबूनुमा डोंगियों के चौकोर

तल पर पहुंचना पड़ा। लोगों का सारा सामान पीछे छूट गया, खो गया। हम आखिरकार कैसे बच पाए इसकी एक लंबी दास्तान है पर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उस विपत्ति के बाद मुझे पुनर्जन्म का अनुभव होता है। कपड़े, गहने, पैसे और कागजात के साथ-साथ मेरे दो कैमरे और लगभग दो सौ स्लाइड (चित्र) खो गए। उन चित्रों के खोने का अफसोस मुझे आज भी है और यही वजह है कि मैं एक बार फिर अंटार्कटिका जाने की इच्छा रखती हूं ताकि वहां के दृश्यों को एक बार फिर अपनी आंखों और कैमरे में कैद कर सकूं।

यदि मुझे किसी को संदेश देने के लिए कहा जाए तो मैं जोर देकर कहूंगी कि उसे निश्चय ही विविध रुचियां विकसित करनी चाहिए और जीवन में किसी चीज के प्रति चिर-स्थायी लगाव रखना चाहिए। जीवन में बोरियत का तो नामोनिशान नहीं होना चाहिए क्योंकि समय बहुत ही मूल्यवान है और ज्ञान की कोई सीमा नहीं। संभव है निर्भीकता, लगन, संतोष, आत्मविश्वास सदृश कुछ गुण किसी व्यक्ति में वंशानुगत नहीं हों पर उन्हें विकसित किया जा सकता है। अधिकांश लोग कहते हैं कि वे अकेले रहने में, यात्रा करने में डरते हैं। पर वे किस से डरते हैं? स्वयं से? अधिकांशतः यही होता है जबकि वे नहीं समझ पाते। या वे किसी अन्य बात से भयभीत हैं? यदि यह डर अदृश्य, अपरिचित का है तो आप उसे भयानक ही क्यों मान लेंगे? वे उतने ही सुखद भी तो हो सकते हैं! इसलिए यह स्वयं को मनन के लिए कुछ समय देने का सवाल है और परिवेश को एक अवसर, जो आपको भयमुक्त कर सके।

आरंभिक दौर में यात्रा का सिलसिला बनाए रखना कठिन हो सकता है क्योंकि अव्वल तो यह खर्चीला होता है, और दूसरी बात इसमें शारीरिक रूप से आवागमन की आवश्यकता होती है। घर, परिवार, काम और अन्य दायित्वों को पीछे छोड़ सदैव यात्रारत रहना संभव नहीं होता लेकिन लोग यदा-कदा यात्रा कर या निकट की यात्रा कर, और हां, लोगों एवं स्थानों के बारे में समाचार पढ़-सुनकर एक प्रकार से समझौता कर सकते हैं। दरअसल प्रत्येक व्यक्ति के लिए 'कर सकता' और 'नहीं कर सकता' का सामंजस्य भिन्न-भिन्न हो सकता है और प्रत्येक को अपना आत्मजयी निर्णय लेना होता है।

एक बार लंदन में एक सामुदायिक समारोह में एक परिचित मेरे पास आए और बोले, "आप एक मछली की भांति हैं; धारा के विपरीत तैरती हैं।" यह अद्भुत प्रशंसा थी जो विरले ही मिलती है। सालमन मछली ही तो धारा के विपरीत तैरती है—भले ही जान गंवाने का खतरा क्यों न हो। मैं यह तो नहीं कह सकती कि मैंने जान की परवाह करनी छोड़ दी है, लेकिन मैं मान्यताओं को चुनौती

देने से कतई नहीं डरती। संयोगवश मेरे लिए एक खास यात्रा शैली उभर आई—मैं एक प्रकार से एक तीर्थयात्री में परिणत हो गई। हालांकि मेरे सामने कोई मिसाल या प्रशिक्षण या प्रोत्साहन या मार्गदर्शन नहीं था। मेरी रूढ़िवादी पृष्ठभूमि ने मुझे कोई मौलिकता नहीं दी थी पर मेरी आत्मा मुक्त हो गई। उसे स्वच्छंद, निर्भीक और जीवंत होने की इच्छा थी और प्रेम में रहने की कामना थी। मैं अपने संघर्ष और इसके लंबे सफर की व्याख्या एक वाक्य में कर सकती हूं—"मैं जीरो माइल से चली और उत्तरी ध्रुव पहुंच गई।"

मेरी जिजीविषा मुझे उस दिशा में ले गई जिसे आज भी इस दुनिया के अधिकांश समाजों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता है, लेकिन मैं अब और अधिक वाहवाही या पहचान की चाहत भी नहीं रखती। मुझे याद आता है नील नदी के काले, गहरे और मलमल-से नर्म पानी पर बढ़ती नाव। यह धारा के विपरीत भी अकेली चलती है, इसके पाल हवा से फूल जाते हैं और इसका भविष्य एक नाविक के हाथों में होता है। और उस नाव की बस एक चाहत होती है—जब तक संभव हो पानी में डटे रहना। हाल की अपनी एक कविता की अंतिम कुछ पंक्तियों में मैंने समरूप भाव को व्यक्त करने के लिए एक अन्य बिंब का प्रयोग किया है :

किसी अस्थायी तंबू में
अब मैं कुछ दूब उखाड़ती हूं
ताकि एक बगिया बन जाए
एक बार में, एक पंखुड़ी सही

मैं भली-भांति जानती हूं कि व्यक्तिगत रूप से मैंने जो रास्ता चुना वह किसी मानचित्र पर नहीं है, पर धीरे-धीरे, और निश्चय ही, इस पर अविस्मरणीय यादों के कई मील के पत्थर बन गए हैं। कौन जानता है कभी कोई इनमें से किसी पत्थर से मिलेगा और अपनी ही एक लंबी यात्रा पर निकल पड़ेगा।

कम-से-कम मैं इसकी उम्मीद तो कर ही सकती हूं।

अरुणा राय (जन्म : 1946) सन् 1974 तक भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी रहीं। तत्पश्चात् वह भा.प्र.से. से त्यागपत्र देकर तिलोनिया (राजस्थान) स्थित 'सामाजिक कार्य एवं शोध केंद्र' (एस डब्लू आर सी) में शामिल हो गईं। इसकी स्थापना उनके पति संजीत 'बंकर' राय ने की थी। अरुणा सन् 1983 तक एस डब्लू आर सी में कार्य करती रहीं और उसके बाद सन् 1990 में देवडूंगरी चली गईं। वहां उन्होंने मजदूर किसान शक्ति संगठन (एम के एस एस) की स्थापना की। कार्यक्रमों की पारदर्शिता के नाम यह संगठन एक जीवंत मिसाल है। अरुणा सूचना अधिकार आंदोलन की प्रबल समर्थक रही हैं। राजस्थान सूचना अधिकार बिल के पारित होने में इस आंदोलन की सफल भूमिका रही। वस्तुतः संगठन ने एक जमीनी आंदोलन को जन्म दिया जिसने आम जनता द्वारा सरकारी अभिलेखों की जांच-परख की राष्ट्रव्यापी मांग और तत्संबंधी व्यापक विचार-विमर्श को मुखर किया। यह किसी स्वेच्छाचारी शासन पर एक महत्त्वपूर्ण अंकुश था।

वर्ष 2000 में अरुणा राय को जे. अरपुथम के साथ सम्मिलित रूप से 'सामुदायिक नेतृत्व एवं अंतर्राष्ट्रीय समझ' के लिए रामन मैग्सेसे पुरस्कार दिया गया। जे. अरपुथम नेशनल स्लम ड्वेलर्स फेडरेशन के अध्यक्ष हैं। अरुणा ने इच्छा व्यक्त की कि पुरस्कार मजदूर किसान शक्ति संगठन को दिया जाए पर उन्हें यह बताया गया कि उक्त पुरस्कार किसी व्यक्ति विशेष को ही दिया जाता है। बाद में उन्होंने पुरस्कार राशि को एक न्यास में दे दिया ताकि लोकतांत्रिक संघर्ष की प्रक्रिया को समर्थन दिया जा सके।

12

जन-जीवन में भागीदारी

अरुणा राय

आजकल लोगों ने इस विषय पर बात करना एक फैशन बना लिया है कि *वे जो हैं, वह क्यों हैं और कैसे बने?* पर मुझे लगता है कि सोचना यह है कि किस प्रकार सामाजिक परिस्थितियों ने हममें से कइयों को एकजुट होने के लिए प्रेरित किया। समान आवेश से परस्पर विचार विनिमय के लिए उद्यत किया। पर आश्चर्यजनक बात तो यह है कि हममें 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' होने के बाद भी यह समरसता है। मेरे लिए इससे भी अधिक हैरत की बात यह है कि किसी-न-किसी सांचे में ढलने के लिए मजबूर होने के बावजूद हममें कई लोग, विभिन्न संसारों से संबद्ध, समान विषय पर चिंता-चिंतन करते हैं। हम आखिरकार हैं तो एक ही सफर के मुसाफिर! हम देखते हैं अपनी-अपनी आंखों से, और देखने का नजरिया भी भिन्न-भिन्न होता है लेकिन हम सभी यह जानते हैं कि बांटने का सुख, इसके तमाम नकारात्मक परिणामों की तुलना में कहीं अधिक स्थायी होता है। इस प्रकार यह वर्षों के संवाद और शिक्षा का सम्मिलन समारोह है जिसमें 'मैं' वस्तुतः समय का लेखा भर हूं।

जीवन प्रायः कहानियां मात्र हैं जिनमें हम अकसर सिर्फ एक इतिहासकार की भूमिका में होते हैं। मैं चूंकि ग्रामीण भारत में रहती हूं सो मुझे इस यथार्थ से सुकून मिलता है कि यहां लोगों में 'रुचि' और उनके साथ 'लगाव' बदस्तूर जीवन के अंग बने हुए हैं। कहानियां कहना-सुनना मजेदार और सीख से भरा होता है। गांवों में लोगों के पास बैठने और बात करने के लिए समय भी होता है। हालांकि शहर के सफल लोगों की चक्करघिन्नी की तरह नाचती दुनिया के मेरे मित्र इसे समय की बरबादी बताते हैं। पर मुझे लगता है कि यह मानवीय दशा के प्रति बिल्कुल विकृत नजरिया है। मैंने लोगों के साथ बात-चीत में जो समय दिया है उससे कई लोगों से गहरी दोस्ती विकसित हुई है। वस्तुतः आपस में पूर्ण आस्था हो जाने के बाद ही मन-मस्तिष्क में तर्कों के स्तर पर खुलापन

आता है और लोग वैश्विक दृष्टिकोण एवं मतभिन्नता को स्वीकार करते हैं। दरअसल रातो-रात विकास के लिए उद्यत लोग प्रसिद्ध 'धिधिर इडली' एवं इंस्टैंट काफी की भांति तत्काल परिवर्तन की योजना भी बनाते हैं जबकि हम गांव के लोग वस्तुतः आवारा मानसून के बाजरे की फसल हैं—बारिश का मुंह जोहते हुए। उसी तरह मनमौजी भी। हम गरीब धरती को जोतते हैं। कुछ चीज़ हमारे अधीन होतीं तो कइयों के अधीन हम होते हैं। इसलिए हमें अपनी गति से आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

शायद विश्व के अपने इस पूर्वी भाग में हमने ही इस तथ्य को बेहतर समझा। लेकिन अब चूंकि बाजार और फिर नई तकनीकी है; और अपेक्षा है कि वे हर समस्याओं का समाधान करेंगे सो हमारे पास सब कुछ तत्काल उपलब्ध है। यहां तक कि तत्काल निर्वाण भी उपलब्ध है। सजा संवारकर उसकी बिक्री की जा रही है। संपन्न लोगों के लिए विशेष कार्यक्रम हैं। और अंधभक्तों के लिए उनके अनुरूप ही मानसिक-विपन्नता से परिपूर्ण कार्यक्रम यथा गणेश प्रतिमाओं का दुग्धपान कार्यक्रम! यह कार्यक्रम गरीबों के लिए परंपरा का पुनर्जागरण है। और दो जून की रोटी के लिए तरसती, खून की कमी की शिकार महिलाएं इन कार्यक्रमों में व्रत रखती हैं ताकि उनके सपने पूरे हो सकें। ऐसे में वस्तुतः अरस्तू के तर्कों के समर्थक छात्रों की ओर से सतत विरोध का जोरदार स्वर अपेक्षित रहा है। बुतपरस्ती की तार्किक काट अर्थात नए मूल्यों का अधिष्ठापन भी जरूरी है। परंतु एक लंबा और भयावह सन्नाटा छाया रहा है, जो गिने-चुने लोगों की दर्दनाक चीख से कुछ-कुछ भंग होता है। यहां तक कि सच्चे धार्मिक लोग भी अब इस घोर अविवेक और उद्धत राष्ट्रवाद को अंकुश देने में नाकाम हैं। और हम इसे अब धर्म की संज्ञा दे चुके हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में हमारे बचपन ने आशावाद एवं निराशावाद दोनों को ही देखा। एक ओर नए भारत के लिए आशावाद था तो दूसरी ओर हत्या (गांधी की) का गम सिर पर मंडराता रहा था। हमारे तमिल माता-पिता एवं उनके वैश्विक मानवीय मूल्यों ने हमारे जीवन को एक निश्चित स्वरूप देने में मदद की। कई अन्य लोगों की भांति हम भी पाश्चात्य संस्कृति और इतिहास की मिलीजुली कहानियों के साथ पले-बढ़े। साथ ही परिवर्तनशील भारत का संपन्न धरोहर भी हमारे साथ थी। हमने कई धर्मों को बचपन से ही जाना। मेरे अप्पा नास्तिक थे और अम्मा आस्तिक। हालांकि वह भी रूढ़िवादी नहीं थीं। उन्होंने यह निर्णय लिया कि वे बच्चों को या तो सभी धर्मों से अवगत कराएंगे या किसी धर्म से नहीं।

मेरे घर में किसी समस्या पर चिंता या दुःख व्यक्त करने का अर्थ था उसके समाधान के लिए कुछ करना। यह कहने का कोई औचित्य नहीं था कि हम अम्मा से बहुत प्यार करते और इसलिए उनके थके होने पर बहुत दुखी थे। यदि हमें वस्तुतः यह अनुभव होता कि वह थकी थीं तो हमें उनका हाथ बंटाना होता। हमें अपने अंदर और आसपास की दुनिया की कमियों के साथ जूझना सिखाया गया था। दरअसल उन पर काबू पाने का प्रयास ही संघर्ष है। इस बात ने हमें भावनात्मक, बौद्धिक और यहां तक कि शारीरिक साहस भी दिया। हमें अपनी गतिविधि के लिए वैज्ञानिक विवेक और उत्तरदायित्व की व्यावहारिक बुद्धिमत्ता प्रदान की गई।

हमें शीघ्र ही यह पता चल गया कि लाखों लोग अपने-आप और समाज में व्याप्त कमियों से जूझ रहे हैं। इनकी स्थिति हमारे मौजूदा, या पहले के हालात से खराब है। हालांकि यह भी एक सत्य है कि बूंद-बूंद से तालाब बनता है और हमारा अपना अस्तित्व भी एक बूंद से कम, या अधिक नहीं है। इस सत्य को अंतर्मन से स्वीकार करने की जो प्रज्ञा हमें थी उसके लिए हमें आज भी आत्मिक सुख है। यहां मैं कृतज्ञता शब्द का इस्तेमाल उचित नहीं समझती। दरअसल यह एक गलत धारणा है कि किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा सामाजिक कार्य संभव है। वस्तुतः यहां महत्त्वपूर्ण वे हैं जिनकी कोई पहचान नहीं है—जिन्हें उनके योगदान के लिए प्रसिद्धि क्या, पहचान भी नहीं मिलती। अपने परिवर्तन के सच्चे अभिकर्ता वे स्वयं हैं।

हमारी स्मृतियों में कई अद्भुत चेहरे शुमार होते हैं, मसलन धन्नी बुआ। उनसे मेरी अंतिम मुलाकात मुझे भली-भांति याद है। वह उन दिनों बीमार बल्कि मृत्युशय्या पर थीं। वह अंधी थीं और मेरी आवाज से ही मुझे पहचाना। मेरे अंदर भावनाओं का ज्वार उठा। वह एकबारगी मेरी परदादी 'नीलम्मा पट्टी' और मेरी मां 'अम्मा' बन गईं। हम दोनों के बीच भाव के प्रवाह ने मुझे नम बना दिया। यह राजस्थान की एक बूढ़ी गूजर महिला, निरक्षर, पर बुद्धिमती, और महानगरीय भारत के मध्यवर्गीय परिवार की एक औरत का मिलन था। प्यार और ममता ने दोनों को बांध रखा था। यह बंधन हालांकि किसी मातृत्व के स्नेहिल बंधन से कमजोर नहीं था।

भूले-भटके तिलोनिया गांव पहुंचने वाले हममें से कई लोगों के लिए धन्नी बुआ बहुत तरह से अहमियत रखतीं। सन् 1974 में ही वह बूढ़ी हो गई थीं। पर उम्र के बोझ से दोहरी हुई बुआ थीं बहुत ही स्वतंत्र। वह अकेली रहतीं; स्वयं अपना पानी भर लातीं और अपना खाना भी पकातीं। जो नहीं पहचानता उसके

लिए वह एक बुढ़िया थीं, जो गंदे गांवों में रहने वाली बूढ़ी शैतान औरतों की कहानियां बड़े ही जीवंत अंदाज में सुनातीं। लेकिन धन्नी बुआ से अधिक साहसी और दयालु वृद्धा मैंने अभी तक नहीं देखी। उन्होंने 'नए खयालात की इन अपरिचित युवतियों' को, जो भूले-भटके उसकी विशाल दुनिया में आ गई थीं, संरक्षण देने के लिए अन्य से लड़ाइयां मोल लीं। उन्होंने हमारी शर्तों पर हमें समझा—ठीक उसी तरह जैसे हम उसे समझने के लिए संघर्षरत रहे। उन्होंने हमें बराबरी का दर्जा दिया और गरीबी की आन के बारे में बताया। गांव में उनकी प्रतिष्ठा थी और लोग उनसे अदब से पेश आते—जैसा कि किसी परंपराबद्ध समाज की मुखर और साहसी महिलाओं के साथ होता है।

धन्नी बुआ ने हमें एक अपरिचित दुनिया में जगह दी, सहज माहौल दिया। वस्तुतः हमने एक प्रकार के 'दंभ' और 'ज्ञान' के साथ उस समाज में प्रवेश किया। उस समाज को भूख और अभाव से बचाने की इच्छा थी। पर अपने प्यार और समझ के बूते बुआ ने यह जता दिया कि हमें उनकी अधिक आवश्यकता थी, न कि उन्हें हमारी! उनकी उदारता को देख हमने अपनी उदारता एवं संकीर्ण वैश्विक दृष्टिकोण की सीमाओं को पहचान लिया। वह एक मार्गदर्शिका थीं। किसने किसे विकसित किया? कौन पाया, कौन खोया? ये प्रश्न हमेशा बने रहेंगे...

धन्नी बुआ उस काल की एक अंश थीं जो मैंने तिलोनिया में व्यतीत किया था। कई लोग तो यह तर्क भी देते कि अपने प्रकार की वह इकलौती थीं। किंतु, शंकर, निखिल और मैंने जब सन् 1987 में देवडूंगरी, 160 किलोमीटर दूर, में डेरा डाला तो काकीजी और भूरी-या (स्थानीय बोली में 'या' का अर्थ दादी होता है) मिलीं। हम उन दिनों उनके गांव सोहनगढ़ में सामंती अत्याचार एवं हिंसा के विरुद्ध लोगों को लामबंद कर रहे थे। वे दोनों गांव की बुजुर्ग महिलाएं थीं। काकीजी अत्यधिक धार्मिक थीं—पूजा-आस्था की अपनी खास शैली से बंधी। बूढ़ी और हृष्ट-पुष्ट भूरी-या आधुनिक, और पंचायत की सदस्या थीं। इन दो असाधारण महिलाओं ने जो हमें दिया उसे आसानी से परिभाषित या वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। उन्होंने पग-पग पर शारीरिक यातना के खतरे से बचाया। यह हमारे लिए अद्‌भुत भावनात्मक संबल रहा। काकीजी को सपने में 'देवी-देवताओं' के दर्शन होते। वे ही उन्हें हमारी मदद के लिए कहते। भूरी-या ने देखा कि सफेद साड़ी पहने एक स्त्री और दो पुरुष गांव को संकट से उबारने आए हैं। यदि मैं विश्लेषण के आधुनिक उपकरणों का इस्तेमाल करती तो उनसे समर्थन की उम्मीद करना ही बेमानी होता। वह दकियानूसी और परम आस्तिक थीं। परिवार नियोजन का विरोध इसका एक उदाहरण है। यह तो भगवान की लीला

में खलल डालना है। इस मामले में वह एक पोपवादी हो सकती थीं! पर जब हरी सिंह—स्थानीय सामंत और अत्याचारी, से लड़ाई की बात आई तो काकीजी की भांति आधुनिक शायद ही कोई होता।

कई वर्षों बाद जब काकीजी और मैंने एक भूमि, अब घनी झाड़ियों वाला 25 एकड़ का टुकड़ा, को संघर्ष से हासिल किया था तो वह उन दिनों बापूजी के बारे में बात किया करतीं। काकीजी शिक्षित थीं और इसलिए इलाके में उनका नाम था। मैंने सोचा वह अपने पिता के बारे में बात कर रही थीं पर वह तो महात्मा गांधी को इंगित कर रही थीं। उन्होंने बताया वह साबरमती में पलीं-बढ़ीं जहां उनके पिता गायों की रखवाली करते। इस वाकये ने काकीजी के तेवर की आंशिक व्याख्या कर दी थी। वह वर्षों बाद कैंसर से मर गईं, अपने पीछे एक शून्य छोड़ गईं जिसे भरना कठिन था।

भूरी-या ने मुझे बताया कि साहस का अर्थ क्या है। वह खड़ी होतीं और बोलने लगतीं—ठोस और दो टूक। स्थान भले ही हरसूद का मंच हो या भीम का। वह एक दबंग मातृ-सत्तात्मक एकाधिकारिणी हैं जिन्हें अपने पारिवारिक एवं खेती के मामलों में दखलंदाजी कतई पसंद नहीं। हमने एक साथ ही वृद्धावस्था में कदम रखा। उनकी कमर झुकने लगी है पर उनका जीवटपन यथावत है।

संभव है यह एक ही प्रकार की दुनिया की महिलाओं की दास्तान प्रतीत हो—शायद इसलिए क्योंकि मैंने उनसे ही बहुत कुछ सीखा है और कठिन घड़ियां एक साथ बिताई हैं। बतौर नारी हमने बेतकल्लुफी से भावनात्मक क्षण व्यतीत किए और उन क्षणों को शिक्षा की विशेष घड़ी के रूप में याद करते हैं। पर हमें ढेरों अन्य बातें प्रभावित करती हैं—कुछ यादें रह जाती हैं तो अन्य अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर जातीं। मेरे घर के सदस्य जो कभी भी आलोचना करने से बाज नहीं आते; शिक्षक जो सदा मेरे समक्ष नए क्षितिज उजागर करते और मुझे प्रश्न करने के लिए उकसाते; ब्रह्म समाज जिसमें मैंने शादी की थी; और पूर्वाग्रह रहित मेरे मित्रों का समर्थन था। इसके अतिरिक्त भी मार्गदर्शकों की एक लंबी सूची है जो कई सदियां और संस्कृतियां लांघ कर अपने लिखित शब्दों के माध्यम से हमारे पास पहुंचती। उस सूची ने मुझे अहसास दिला दिया कि हमारा योगदान वस्तुतः कितना तुच्छ है।

बातों के इस सिलसिले में 'कलाक्षेत्र' का विशेष जिक्र जरूरी है। पहले यह अड्यार में था, इन दिनों तिरुवनमयूर में है। कला एवं संस्कृति के इस सुप्रसिद्ध संस्थान में जहां मैं दो वर्षों तक रही, नृत्य मंडली का कार्यक्रम अधिक महत्त्वपूर्ण था न कि नर्तक विशेष का। कई लोगों की यह राय थी कि इससे मेधावी

छात्र-छात्राओं को निखरने का अवसर नहीं मिलता। संभव है व्यक्तिगत उत्कृष्टता पर इसका असर पड़ा हो, पर यह विवादास्पद है। मुझे अब लगता है कि उन वर्षों ने भी मुझे संगठन की शक्ति सिखाई।

दरअसल यह ब्रह्मांड टुकड़ों में नहीं बंटा है। संदेह से परे एक तर्क है जो कण-कण को समग्र से जोड़ता है। हम फिर भी स्वयं को लघु से लघुतर इकाइयों में सीमित करते जाते हैं। इस प्रकार हम कई वर्गों को विकसित कर लेते हैं, ताकि खुद को अच्छी तरह समझ सकें। कालांतर में ये वर्ग हम पर हावी हो जाते हैं। परंतु तथाकथित मामूली लोगों के बीच वर्गीकरण या विखंडन लुप्तप्राय है। ये 'गरीब' लोग प्रसन्न हैं। वे नाचते, गाते और प्यार करते हैं। वे संघर्ष करते और झगड़ते हैं। सामाजिक जीवनचर्या में असंख्य भिन्नता के बावजूद वे अपने मस्तिष्क को एक-दूसरे से युद्धरत प्रकोष्ठों में नहीं बांटते। वहां कोई 'अन्य रुचियां' नहीं हैं। वे सभी उसके अंग हैं जिसे हम जीवन कहते हैं। इसलिए मैं आज भी यह स्वीकार करना सीख रही हूं कि मैं देवडुंगरी में बाख को सुन सकती हूं; लाल सिंह के साथ चोम्सकी के बारे में बात कर सकती हूं; और यह कि भरत नाट्यम के प्रति मेरा प्यार मेरा अंग है।

हमारी पीढ़ी आत्म-केंद्रित सफल लोगों की पीढ़ी है। हम लोग पहले से ही संपन्न 'स्वयं' और 'हमारे' विकास में रत रहे हैं और हमारे बीच के विपन्न लोगों के प्रति दायित्वों को भूल चुके हैं। हम उस पीढ़ी के हैं जिसने स्वाधीनता संघर्ष में भाग नहीं लिया। एक स्वाधीन राष्ट्र में जन्म लेने के बाद हम अपनी-अपनी दुनिया में सिमट कर रह गए और अपनी निजी काल्पनिक दुनिया की तलाश करते रहे। बेहतरी के मध्यमवर्गीय स्वप्न ने एक पूरी पीढ़ी के सामाजिक दायित्व को निगल लिया है। हमने बीते कल के महान राजनयिकों की प्रतिमाएं बनवाईं और उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासन का भार औपनिवेशिक अफसरशाही एवं अवसरवादी राजनैतिक नेतृत्व के कंधों पर पटक दिया। हमने दूसरों के कंधे पर दायित्व देकर देश चलाना चाहा है और बातचीत के अंतहीन सिलसिले में हम घूम-फिरकर भ्रष्टाचार एवं राष्ट्र के पतन पर आ जाते हैं। साथ ही अपनी क्षुद्र उपलब्धियों के साथ अपने 'जीवन का मूल्यांकन' करते हैं। गांधी की धरोहर को तो हम बहुत ही सहजता से भूल गए। सार्वजनिक जीवन के बारे में जिज्ञासा और उसके प्रति सहिष्णुता को हम नहीं ढो सके। हमने उधर से मुंह फेर लिया और एक पल भी यह पूछने को नहीं ठिठके कि ऐसा क्यों!

साठ के दशक में भारत में 'परजीवी और असफल' लोग ही समाज सेवा

करते। समाज सेवा वस्तुतः निचले स्तर की राजनीति को दिया गया एक सुखकर नाम था। 'मेधावी' लोग तो सरकारी एवं निजी क्षेत्रों की नौकरियों में चले गए। मुझे भली-भांति याद है कि विकास के प्रति बंकर (मेरे पति) के विचार को लोगों ने किस तरह समझने की कोशिश ही नहीं की। उसके जैसे लोगों को छोटी-सी बात मनवाने के लिए भी कितनी मेहनत करनी पड़ी! उन दिनों विश्वविद्यालय में, हमारे समक्ष वह कितना सराहनीय, पर सनकी, लगा था। मित्रों के प्रति उसकी झुंझलाहट को मैं अब बेहतर समझती हूं।

बाद में जब मैंने भी गांवों में काम करना प्रारंभ किया तो कमोबेश सभी ने इसे मेरे सामाजिक पतन के रूप में ही देखा।

आज भी जो सवाल मेरा पीछा नहीं छोड़ता, वह है—"आपने भारतीय प्रशासनिक सेवा से त्यागपत्र क्यों दे दिया?" इस मुद्दे पर सबसे अच्छा उत्तर शंकर (मेरे मित्र) का है, जो कहता है, "आप अरुणा से ही क्यों यह पूछते रहते हैं कि उसने यह नौकरी क्यों छोड़ी? मैंने 17 काम छोड़े, फिर भी कोई नहीं पूछता है, क्यों! मैंने मिट्टी तेल बेचा, पकौड़ा बनाया, नमकीन फैक्ट्री में काम किया, एक पॉल्ट्री फार्म में चूजों की देखभाल की, अकाल राहत कार्य में ठेकेदारी की, दिहाड़ी पर काम किया और भी कई... इस नौकरी में ऐसी क्या खासियत है?"

हमारे लिए स्वाधीनता के 54 वर्षों बाद भी, शक्ति की परिभाषा ब्रिटिश एवं औपनिवेशिक मनोदशा से ही होती रही है। हम दिखावे के लिए तो राजघाट जाते हैं पर मन ही मन वॉरेन हेस्टिंग्स के ही स्वप्न देखते हैं। यह इस बात का संकेत है कि हमें दिमाग को जकड़े कड़ी को काट फेंकना होगा ताकि हम एक अधिक सार्थक स्वाधीनता की सर्जना कर सकें। आज भी जबकि हम अन्याय के एक रूप के विरुद्ध संघर्षरत हैं, हमें निस्संदेह इसके लिए प्रयासरत रहना चाहिए कि इसके स्थान पर किसी विपन्न विकल्प को न बैठा दें।

ग्रामीण भारत के मेरे प्रवास के दौरान मैंने देखा है कि कई बेड़ियां उतार फेंकी गई हैं। अब यह समझ तो लगभग सर्वव्यापी हो गई है कि जाति संबद्ध असमानता अस्वीकार्य है। हम सभी के समक्ष चुनौती यह है कि जात-पात के भेदभाव से दबे लोगों के मन में ये धारणाएं नहीं बैठने दें कि यह अत्याचार एक स्थायी लक्षण है और उनकी मुक्ति का एक ही मार्ग है जो उनकी अपनी जाति की सुरक्षा-घेरे में संभव है। यही बात धर्म, भाषा और क्षेत्र पर आधारित विभाजनों पर लागू होती है। नारी आंदोलन की चुनौती और संभावना का लक्ष्य है एक विकल्प देना जो समानता और न्याय का सार्वभौमिक सिद्धांत दे। उस सिद्धांत में एका एवं अहिंसा केंद्रित हमारी आकांक्षाएं भी अंतर्निहित हों। अपनी विशेष

परिस्थिति और दायित्वों के मद्देनजर प्रायः हम महिलाएं ही सर्जनात्मक विकल्पों को ढूंढ़ने में सर्वाधिक सक्षम हैं। कल्पनाशीलता एवं आशा के पुट से ऐसे विकल्प प्राप्त किए जा सकते हैं। मैंने खासकर कामगार महिलाओं के साथ संघर्ष के क्रम में इसे पाया।

पर मात्र महिलाएं चर्चा के पात्र नहीं। धन्नी बुआ, काकीजी और भूरी-या की भांति ही सशक्त एवं सहृदय हैं—लाल सिंह, मोहनजी, नारायण एवं चुन्नी सिंह आदि, आदि। ये ऐसे मित्र हैं जिन्होंने हमारे संशय और विश्वास दोनों में हिस्सेदारी की। कई विचार जिनका व्यापक असर प्रारंभ हो चुका है, इनके जैसे तथाकथित मामूली लोगों के मन में ही उपजे। सूचना का अधिकार एवं पारदर्शिता अभियान सदृश नाटक के विविध रूप, भाषा-प्रयोग, गीत एवं इन सबसे ऊपर वह अस्पर्शनीय गुण, जो लोगों को सुनने एवं परिवर्तन के लिए बाध्य कर देता है, सर्जना एवं ऊर्जा प्रवाह—ये सब उन लोगों के योगदान हैं जो इतिहास के पन्नों में गुमनाम ही रह जाएंगे।

मैंने हाल के इन वर्षों में कई बातें सीखी हैं। सब कुछ आपस में जुड़े हैं—जिस प्रकार लोग एवं प्रभाव हमें आकार देते हैं ठीक उसी प्रकार हम अपनी दुनिया को प्रभावित कर सकते हैं, और बदल सकते हैं। हमें निस्संदेह भय का सामना करना चाहिए और सपनों को साकार करने का साहस रखना चाहिए—भले ही असफलताएं मिलती रहें। सामान्य लोग परिवर्तन के लिए काम करना चाहते हैं और वे अपनी बिरादरी में अन्य लोगों का सहर्ष स्वागत करते हैं। वे संगठन की शक्ति समझते हैं—न केवल भौतिक संदर्भ में बल्कि मनोवैज्ञानिक एवं बौद्धिक स्रोत के रूप में भी।

इन परिस्थितियों में महज आलोचनात्मक रवैया एवं आकिंचन्य प्रवृत्ति हमारी निष्क्रियता का परिचायक है। हम कब तक दूसरों के कंधों पर बंदूक रखकर चलाते रहेंगे। अतः हमें यदि कुछ अस्वीकार्य लगे तो परिवर्तन के लिए सक्रिय होना जरूरी है। हमें प्रश्न करने से कतई हिचकना नहीं चाहिए। हमें सार्वजनिक तौर पर सवाल करना चाहिए—जवाब की तलाश करनी चाहिए। और जब हम वस्तुतः स्वयं को असहाय पाएं तो सहकर्मी की तलाश करें जो हमारी आलोचना करे, प्रेरणा दे, और संबल प्रदान करे। मैंने तो सबसे बड़ी प्रेरणा इन्हीं सहयात्रियों से प्राप्त की है।

अमाल अल्लाना (जन्म : 1947) भारत की मुट्ठी भर नाट्य निर्देशिकाओं में एक हैं। भारत एवं जर्मन प्रजातांत्रिक गणतंत्र में प्रशिक्षित अमाल सन् 1971 से नाट्य-निर्देशन में जुटी हैं। उन्होंने पचास से अधिक पश्चिमी एवं भारतीय सांस्कृतिक समकालीन रचनाओं की प्रस्तुति देश-विदेश में बतौर निर्देशिका की। वह अभिनय, निर्देशन एवं वस्त्र-सज्जा में प्रशिक्षण देती हैं और उन्होंने राष्ट्रीय नेटवर्क के लिए कई टीवी धारावाहिकों का निर्देशन किया है। वह साहित्य कला परिषद एवं संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित हैं। उनकी सुप्रसिद्ध प्रस्तुतियों में हैं— 'महाभोज', 'हिम्मत माई', 'बेगम बर्वे', एवं हाल में आई 'सोनाटा'।

13

बदलती पहचान

अमाल अल्लाना

एक स्त्री होना कभी भी मेरे काम को प्रभावित नहीं करता। यह सुनना अटपटा लग सकता है, पर है सच। मेरा स्त्रीत्व सदैव मेरे काम से तटस्थ रहा है। मोटे तौर पर होता यह है कि हमारे व्यक्तिगत अनुभव नाटक तैयार करने की प्रक्रिया में संकेतों एवं ध्वनियों के मुहावरों में परिवर्तित हो जाते हैं। हमारे स्व से परे हटकर पात्रों की रचना हो जाती है। इस क्रम में किसी व्यक्ति विशेष का निजीपन—एक वस्तु—एक उत्पादन—एक मंचन—बन जाता है जो अन्य के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इस रचना में वे अपने स्व की पुष्ट मात्रा का पुट डालते हैं ताकि अंत में अपना स्वरूप और अनुभव, मद्धम ही सही पर अन्यों की तुलना में पृथक और विशिष्ट रूप में देख सकें। हालांकि मैंने हमेशा इस बात पर बल दिया है कि प्रवृत्ति की एक निश्चित तटस्थता किसी निर्देशक के लिए जरूरी है। इस प्रकार रचनाकार, अभिनेता और मंच-सज्जा में लगे लोग अपनी भाषा में बोल सकते हैं। इस नजरिये से मैंने सदैव ही स्वयं को एक ऐसे निर्देशक के रूप में देखा है जो लिंगभेद या पूर्वाग्रह से परे है। संभव है राजनीतिक रूप से गलत साबित होने का आरोप मुझ पर लगे पर मैं यह जरूर कहूंगी कि मैं किसी मंच पर 'महिला मुद्दों' को उछालने के लिए किए जाने वाले शोर-शराबे से जानबूझ कर कतराती रही हूं। ऐसा इसलिए क्योंकि बहुत दिनों तक इन मुद्दों के गिर्द उत्तेजित ध्वजधारियों के खास समूहों का दबदबा रहा जो पुरुष प्रधान समाज के विरुद्ध युद्धपथ पर निकल पड़े थे। मैंने तो बल्कि हमेशा यही चाहा है कि मेरे काम को नाट्य आंदोलन के बृहत्तर रूप में रखकर उसका मूल्यांकन हो, न कि सिर्फ नारी आंदोलन के मद्देनजर। यह स्पष्टोक्ति देते हुए मैं इस बात से भी भली-भांति अवगत हूं कि मेरी प्रस्तुतियां आज की महिलाओं की चेतना को प्रतिबिंबित करती हैं। विभिन्न क्षेत्रों से संबद्ध ये महिलाएं अपने आप से तादात्म्य बनाने के लिए प्रयासरत हैं। आज जबकि कुछ महिला रंगकर्मियों की कृतियां

पुरुषों के हावी दृष्टिकोण की मुखालफत से ही परिभाषित होती हैं, वहीं अन्यों को उस स्वर से पहचाना जा सकता है जो नारी अनुभूतियों के साथ कंपायमान होता है। मामला भले ही जो भी हो, साफ शब्दों में यह निबंध महिला के रूप में स्वयं से रू-ब-रू होने का प्रयास है। वह भी अपनी प्रस्तुतियों के माध्यम से।

इस प्रयास के केंद्र में है पात्रों के रूप में अस्मिता की तलाश। इसमें प्रायः आत्मकथात्मकता ध्वनित होती है क्योंकि यह मेरे स्व की संवेदना से अच्छी तरह संबद्ध है। मेरे लिए यह दुष्कर रहा है कि मैं अपने अंदर झंकृत होते विविध स्वरों को समझूं और उन्हें सूत्र में पिरो संपूर्णता का एकीकृत रूप दूं। आरोह एवं अवरोह वाले ये स्वर अकसर एक साथ कई दिशाओं में बढ़ते हैं। एक औसत भारतीय नारी प्रतिदिन जितने स्वरूपों में दिखती है, और प्रत्येक नारी का जिस प्रकार मजबूरन अपनाया गया एवं थोपा गया आदर्श होता है उसके मद्देनजर सभी भूमिकाएं अदा करना अकसर अद्‌भुत अनुभव साबित होता है।

इस तथ्य के बावजूद कि हमारा परिवार अत्यधिक प्रगतिवादी माना जाता था, बचपन में मैं भी उन खेल-खिलौनों से घिरी रहती थी जो आगे चलकर मुझे एक पत्नी एवं मां की भूमिका के लिए तैयार करते। मैं गुड़ियां, उनके कपड़ों एवं घरौंदों से घिरी रहती। दूसरी ओर नाटक की दुनिया ने हमारे जीवन के पल-पल को प्रभावित किया। सामान्य घरों की दिनचर्या उनके मुखिया के कार्यालय की अवधि से निर्धारित होती जबकि हमारे घर की दिनचर्या नाटक के रिहर्सल के इर्द-गिर्द घूमती! अन्य परिवार शाम का समय इकट्ठे बिताया करते जबकि हमारे माता-पिता रिहर्सल में होते! अन्य लोग धार्मिक त्योहार या पारिवारिक समारोह का आनंद लेते पर हमारे पास इन 'आडंबरों' का समय नहीं होता—हम तो नाटक के प्रथम मंचन की रात के बाद ही उत्सव मनाते! मेरी उम्र की लड़कियों को नाटकों में भागीदारी एवं युवकों से दोस्ती के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता, पर मैं कर सकती थी। यह सुनने में जरूर अटपटा लग सकता है पर है सच कि मुझे मंच पर चढ़ने के लिए कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया गया। मैं तो बल्कि मंच के गिर्द सक्रिय रहती। वह स्थान महफूज माना जाता—नाटक की दुनिया में महिलाओं का स्थान! मैं पोस्टर बनाती, कलाकारों के लिए चाय की प्यालियां लाती और वस्त्र-सज्जा विभाग में अपनी मां का हाथ बंटाती। मुझे कभी भी यह अहसास नहीं होने दिया गया कि मुझ में अभिनय की कोई प्रतिभा भी थी। यथार्थतः वह स्थान तो मेरे भाई के लिए चुना गया था। उसके बारे में लोगों ने यह महसूस किया था कि चार वर्ष की अवस्था से ही उसने मंच पर एक भाव-भंगिमा एवं भरपूर आत्मविश्वास का परिचय देना शुरू कर दिया था। वह मेरे पिता के नाटकों

में, जब कभी जरूरत पड़ती, बच्चों की भूमिकाएं किया करता।

इसलिए 16 वर्ष की आयु में जब मैंने बिना किसी पूर्व संकेत के अचानक यह एलान कर दिया कि मैंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में जाने और आगे निर्देशिका बनने का निर्णय ले लिया है तो मेरे माता-पिता (और मैं स्वयं अधिक) हैरान रह गए। मैंने कभी भी नाटक को जीविका बनाने की नहीं सोची थी इसलिए अपनी जिद को लेकर स्वयं हैरान थी। कॉलेज में दाखिला लेकर स्नातक की उपाधि प्राप्त करने की मां-बाप की सलाह को मैंने बिल्कुल ठुकरा दिया था।

पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि यह प्रायः एक विद्रोह था! मैंने थिएटर करने की इजाजत मांगी थी जो मेरे भाई के लिए तय था। मैंने वह करना चाहा था जो मेरे पिता करते थे—निर्देशन! खैर, आगे की जिंदगी में मैं दो दुनिया, जिनसे मैं वाकिफ हो गई थी, में आती-जाती रही। एक थी नारियों की दुनिया—बच्चे एवं परिवार वाली; दूसरी पुरुषों की दुनिया, थिएटर। हालांकि ये लिंगभेद आधारित दो संसार नहीं थे पर मेरे लिए (जैसा मुझे आज लगता है) वे ध्रुवों की भांति थे जिनमें मैंने अपने अस्तित्व को बनाए रखा।

उन दिनों की मेरी नाट्य यात्रा मेरे अवचेतन में छिपी इस 'बदलती पहचान' को समझने एवं उसमें साम्य स्थापित करने की यात्रा रही है। मैं तो बरसों इस बात से बेखबर थी कि मेरी आत्मकथात्मक चिंतन ने ही मुझे कुछ विशेष विषय, पात्र और संबंधों की तलाश के लिए उद्यत किया। वस्तुतः अब जबकि मैं लिखने के क्रम में हूं तो मैंने अपनी वास्तविक जीवनी की पुनर्संरचना प्रारंभ की है। मेरी इस जीवनी की मद्धम झलक मेरी प्रस्तुतियों में मिलती है।

मैंने कुछ खास विषयों का चयन किया; तदनुसार प्रस्तुति की शैली अपनाई और उसे विकसित करती रही हूं—इनके पीछे के तर्कों को स्पष्ट करने के क्रम में मैं कुछ हतोत्साहित हो जाती हूं क्योंकि मेरा निजीपन उनमें जगह घेरने को उतावला है जबकि मैं इस चर्चा में एक खास दूरी बनाए रखने की इच्छा रखती हूं। ऐसा प्रतीत होता है कि नारी विषय पर लिखते हुए लोगों का आत्मकथात्मक होना स्वाभाविक है क्योंकि इसमें एक नारी होने का अनुभव ही एक महत्त्वपूर्ण घटक होता है। मैंने सिर्फ इस वजह से कुछ व्यक्तिगत संदर्भों को बचाए रखा है जबकि अधिसंघ को इस नाट्य सफर में छोड़ती आई हूं।

बहुरूपी पहचानों के प्रति मेरी सजगता सदैव मेरी प्रस्तुतियों में प्रत्यक्ष नहीं होती। बल्कि यह सजगता तो मेरे द्वारा अन्वेषित संबद्ध विषयों के रूप में कई मुखौटों में प्रकट होती है। सन् 1993 में मुझे पक्का विश्वास हो गया कि मैं लैंगिक पहचान के प्रति सचमुच पूर्वाग्रह से ग्रस्त थी। मनोहर सिंह को दी गई

एक नारी की भूमिका के बारे में लिया गया निर्णय आवेगपूर्ण, क्षणिक निर्णय था! मैं उस घड़ी इस बात से बेखबर थी कि यह मेरे भविष्य की प्रस्तुतियों को कैसे प्रभावित करेगा। यह स्वतः उपजा विचार था और जैसे ही मेरे जेहन में आया मैंने इसे व्यक्त कर दिया था। मनोहर सिंह ने इस सुझाव को उसी तत्परता से मान लिया था और मेरे पति, निसार, ने भी इसे उत्साहपूर्वक समर्थन दिया था। यह एक ऐसी 'घड़ी' थी जब सब कुछ मन मुताबिक हुआ। मुझे अपने प्रस्ताव के पीछे कारण या औचित्यपूर्ण तर्क देने की जरूरत ही नहीं पड़ी। मुझे लगा कि एक नए संसार की चाभी मेरे हाथ लग गई थी।

मनोहर सिंह के लिए 'हिम्मत माई' की भूमिका के उपयुक्त चित्रण प्राप्त करने की प्रक्रिया लंबी और जटिल थी, पर आदि से अंत तक उत्तेजक और मजेदार। इस धारणा के मद्देनजर, कि हम एक उभयलिंगी पात्र रचने जा रहे थे, हमारा ध्येय शुरू से ही स्पष्ट था। मनोहर को पूरी तरह एक महिला में परिणत होने की आवश्यकता नहीं थी बल्कि उसे एक महिला का 'अभिनय' करना था, अर्थात महिला का चरित्र चित्रण करना था, न कि महिला हो जाना था। इसके मायने यह हुए कि उसे अपना पौरुष बतौर साक्ष्य बचाए रखना था।

हमने पूर्व की नाट्य परंपराओं जिनमें पुरुषों ने महिलाओं की भूमिका निभाई थी, पर शोध प्रारंभ किया और यह विश्लेषण करने का प्रयास किया कि किस सीमा तक पुरुषों ने नारी रूप आत्मसात किया था, उनकी अभिव्यक्ति की थी। उदाहरण के लिए 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रस्तुत संगीत नाटकों में हमने पाया कि बाल गंधर्व ने, जिन्होंने तमाम मुख्य नायिकाओं की भूमिका की, आवाज, हाव-भाव एवं चाल सब में मानो पूर्ण कायांतरण ही कर लिया था। उन्होंने वास्तविक शृंगार एवं वस्त्र सज्जा के साथ एक महिला में रूपांतरण की प्रक्रिया पूरी कर दी। इसी प्रकार, हालांकि अपेक्षाकृत अधिक साज-सज्जा के साथ, 'काबुकी' के पुरुष कलाकारों ने महिला की भूमिका अदा की। जापान के 'नोह' और केरल के 'कथकली' की भी यही शैली रही है। इन सभी की अच्छी समझ मेरे लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुई लेकिन एक महिला के चरित्र चित्रण-संबंधी मेरा विचार सर्वाधिक बिरजू महाराज से मेल खाता। उन्हें कथक कलाकारों में सर्वाधिक दक्ष माना जाता है। बिरजू महाराज ने शृंगार या स्त्री परिधान के बिना, उचित अभिनय, मुद्रा और चाल के माध्यम से ही महिला पात्रों को प्रस्तुत करने में महारत हासिल की। उनका पौरुष प्रत्यक्ष रहता है क्योंकि वे महिला की भांति नहीं दिखते और हम जिस बात के कायल हैं वह है उनके द्वारा प्रस्तुत एक महिला का अभिनय। हालांकि एक बात बिल्कुल साफ है कि इन तमाम पुरानी परंपराओं में महिला

पात्र की अभिव्यक्ति के लिए एक उत्कृष्ट व्याकरण और शब्दावली विकसित हो गई थी, जबकि हमारे मामले में हमें मनोहर सिंह, महिला भूमिका में एक आधुनिक कलाकार, के लिए अपना अलग शब्दकोष बनाना था।

रिहर्सल मेरे लिए सदैव एक लंबा, महीनों चलने वाला काम होता। यह सबसे अधिक उत्तेजनापूर्ण एवं उपजाऊ समय होता क्योंकि इन्हीं दिनों हम मूल रचना की प्रकृति से भली-भांति अवगत हो पाते और उसके मंचन का अर्थ तलाशने की कोशिश करते। निर्देशक के लिए इस प्रक्रिया के अंतर्गत अन्य चीजों के अतिरिक्त ढेर सारी बातें आतीं—मूल पाठ के उपांगों को समझना, प्रस्तुति की शैली विकसित करना, मंचन की स्थानीय गतिशीलता को समझना, मंचन शैली से संबद्ध निर्देशन की रणनीति तैयार करना, रचना की लयात्मकता का निर्देशन, रंग-रूप-रेखा और बनावट, मंच, प्रकाश, परिधान एवं रूप सज्जा के माध्यम से दृश्य एवं संवेदनात्मक अभिव्यक्ति पर विचार करना। वैसे भी परिधान को मैं कलाकार का अभिन्न अंग मानती हूं। यह किसी अभिनेता या अभिनेत्री के शरीर की गति को प्रभावित करता है। साथ ही ये परिधान हमारी कृतियों की नाट्य अभिव्यक्ति में एक महत्त्वपूर्ण और परिकल्पनात्मक भूमिका निभाते हैं। मूल पाठ को व्यक्त करने के ये सभी पहलू परस्पर संबद्ध हैं और किसी को भी कलाकार पर थोपा हुआ नहीं माना जा सकता है क्योंकि अंततः सब कुछ कलाकार के शरीर और उसके माध्यम से अभिव्यक्त होता है। और कलाकार एक सजीव माध्यम है—सुर में मिला हुआ एक यंत्र। वही अंततः पूरे नाट्य अनुभव को साकार बनाता है और उसमें तथ्यों का समावेश करता है।

'हिम्मत माई' के मंचन के बाद से मैंने लैंगिक विचार के मद्देनजर अपने पात्रों का विश्लेषण करना प्रारंभ कर दिया। परीक्षण के लिए मानो उन्हें चीर-फाड़ कर रख दिया। इस प्रकार उनका न सिर्फ स्त्री और पुरुष पक्ष उभरकर सामने आया बल्कि वे किसी खुली किताब की तरह हमारे सामने थे। 'बेगम बर्वे' (1996), 'नागमंडल' (1998) और 'मुद्राराक्षस' (2000) और उसके बाद की प्रस्तुतियों में केंद्रीय भूमिका को मिला व्यवहार हिम्मत माई के पात्र को दिए गए व्यवहार से बहुत भिन्न था। यद्यपि मैंने हिम्मत माई के स्त्री/पुरुष पक्षों को भांप लिया था, पर मैंने एक ऐसे पात्र को प्रस्तुत किया जिसमें बदलती हुई पहचान अदृश्य रूप से प्रकट और लुप्त होती रही। लेकिन बाद की इन प्रस्तुतियों में असहजता का भाव कुछ अधिक प्रबल है। उनमें लैंगिक विखंडन छिपा नहीं रहा। यह बिल्कुल साफ है और इसमें एक खास कच्चापन है। पुरुष से स्त्री रूप में रूपांतरण वस्तुतः महत्त्वपूर्ण नाट्यकलात्मक पल हैं जो नाट्य माध्यम से व्यक्त होते हैं। उदाहरण

के लिए नागमंडल को देखें जहां इस परिणति का अभिनय और प्रस्तुतीकरण होता है और वे प्रत्यक्ष हो जाते हैं ताकि पुरुष से स्त्री की यह यात्रा, या इसकी पलट, मंच पर यथार्थ प्रतीत होते हैं।

बेगम बर्वे अपने मूल पात्र की बदलती पहचान पर प्रत्यक्ष रूप से केंद्रित है। बर्वे जिस क्रूर, काली और हताश दुनिया में रहता है वहां संवेदना, रंग, मानवीय गरमी नहीं है; संगीत, सुंदरी और गजरे की मीठी खुशबू नहीं है। इस घातक, अमानवीय, हताशापूर्ण वर्तमान से बर्वे, एक पुराना कलाकार, भाग जाना चाहता है। वह प्रकाश, रंग और संगीत की दुनिया—गुजरे जमाने के नाटकों की दुनिया में चला जाना चाहता है। इसी मुकाम पर बर्वे 'अन्य' होने, एक स्त्री होने के प्रति अपनी अंतरतम मंशाओं को काल्पनिक रूप से मंचित कर सकता है।

मनोहर सिंह द्वारा बर्वे के चित्रण में एक मनमौजी भोलेपन का भाव व्याप्त था। इस बूढ़े कलाकार की एक स्त्री पात्र की भूमिका करने की ललक में एक पारदर्शिता थी, बनावट नहीं। वह इसके माध्यम से अपनी गहरी कल्पनाओं को जीना चाहता था। उसके विखंडित स्व के पुरुष/स्त्री पक्षों के दृश्य की अभिव्यक्ति के लिए हमने उसे एक तंतुमय, चर्मरंगी धोती-कुर्ता पहनाया जो एक प्रकार से उसकी नग्नता और असहाय होने का परिचायक था। वह भी वास्तविक एवं लाक्षणिक दोनों प्रकार से। ऊपर से भांड़ की भांति स्त्री का रंगा-पुता चेहरा बना दिया गया। चेहरा गौर वर्ण, गुलाबी, बनाया गया जिस पर लाल होंठ चमक उठे। गाल गुलाबी थे और आंखों में काजल की मोटी धार। इस रूप सज्जा में एक अजीब फूहड़पन था। यह कृत्रिम स्त्री चेहरा एक बूढ़ी पुरुष काया पर टिका था। विभाजित एवं बेमेल सिर तथा धर में व्याप्त विरोधाभास दृश्य रूप से मुखर था जिसमें विभक्त व्यक्तित्व की छद्मप प्रतिबिंबित हो रही थी—स्त्री/पुरुष, कृत्रिम/वास्तविक, बूढ़ा/जवान, अतीत/वर्तमान। पोशाक और रूप-सज्जा बस एक दूसरे के आमने-सामने और बिना तालमेल के रहे। वैसे प्रतीक और संकेत प्रस्तुत थे जो उस गहन मैथुन संबंद्ध में पड़ी दरार की याद दिलाते जिसने बर्वे के वजूद को ही तबाह कर दिया था। इसी प्रकार एक मात्र घुंघरू, स्त्रैण अभिनय की एक अन्य निशानी, एक पुरुष के बड़े रोएंदार पांव में बेतुका और अजीब लग रहा था।

'नागमंडल' में केंद्रीय विषय एक ही स्व के अंतर्गत व्याप्त लैंगिक अनिवार्यता के द्वैध से हटकर एक अन्य संबद्ध विषय पर जा टिका है। अपनी रचनात्मक संभावना को पूर्णतया साकार करने के क्रम में किसी 'अन्य' के अस्तित्व को स्वीकृति दी जाती है। 'पति' और 'रानी' दोनों पात्रों को अपने साथ-साथ अपने सहकर्मियों के छिपे हुए पहलुओं से भी साम्य स्थापित करना जरूरी होता है। इस ध्येय की

प्राप्ति के लिए गिरीश कर्नाड पुरुष पात्र को दो भागों में विखंडित कर देते हैं। यह पात्र अपने दैविक स्वरूप में एक नाग है—एक पौरुषपूर्ण स्व जो सुषुप्तावस्था में है। अपने मानवीय स्वरूप में वही पौरुषहीन 'पति' है जो जागृतावस्था में राज करता है। अलग-अलग हो चुके दोनों स्व के दोनों पक्ष, एक-दूसरे के प्रतिबिंब होने के बावजूद, एक-दूसरे के अस्तित्व से अवगत नहीं हैं। गिरीश कर्नाड द्वारा एक ऐसी कथा की नाट्य प्रस्तुति होती है जिसमें प्रत्येक स्व पुरुष एक स्त्री के पास दिन या रात में स्वतंत्र रूप से पहुंचता है।

इसी प्रकार रानी के भी दो स्वरूप हैं। अपने मानवीय रूप में वह एक नई-नवेली दुलहन है जो बेसब्री से कामोत्तेजना और संतुष्टि की प्रतीक्षा करती है, पर एक बार गर्भधारण कर लेने के बाद वह अपने ब्रह्म या दिव्य रूप में मां देवी बन जाती है।

एक निर्देशिका होने के नाते मेरे समक्ष एक समस्या यह थी कि अधिकांश नाटक, पश्चिमी या भारतीय, पुरुषों द्वारा ही लिखे गए थे। यों तो उनमें से कई महिला मन और उनकी दुनिया की गंभीर और सहिष्णुतापूर्ण दृष्टि प्रस्तुत करते हैं पर उनकी रचनाओं में नजरिया पुरुषों वाला ही होता है। फिर भी यहां यह कहना होगा कि ब्रेख्त के 'वरफ्रेमडंग' ने नाटक में तटस्थ और महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्राप्त करने में मेरी मदद की। इस प्रकार का दृष्टिकोण निरंतर ध्रुवों—व्यक्तिगत एवं वस्तुनिष्ठ, पात्र एवं कलाकार, भावनात्मक रूप से निकट एवं दूर—के बीच दोलन करते रहते हैं। इन ध्रुवों को लैंगिक रूप से पुरुष और स्त्री के रूप में देखा जा सकता है। मैंने तो सिर्फ इसी बिंदु को अन्वेषण के लिए चुना है। जागृत एवं सुषुप्तावस्था के बीच की दशा, चेतन और अवचेतन को विभाजित करने वाली क्षीण रेखा, भ्रांति और यथार्थ—ये ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें दोनों के अनुभवों का घालमेल होता है। वहां स्पष्टता एवं अस्पष्टता दोनों एक साथ अस्तित्व में होती है। इस स्थिति में यह अचरज की बात नहीं की मैंने मंचन के लिए जो कई नाटक—खामोश, बर्वे, मुद्राराक्षस, नागमंडल—चुने उन्हें नाटक के अंदर नाटक के रूप में देखा गया। ये पात्रों को छूट देते हैं कि वे दो रूपों में रहें। बतौर पात्र एवं कलाकार कल्पहीन दुनिया में बने रहें, न कि एक स्थायी, भौतिक दुनिया में जकड़े रहें।

दूसरी ओर उन नाटकों में, जिनमें विखंडित स्व के मूल विषय तो हैं पर वे यथार्थ की भौतिक दुनिया में जड़ जमाए हुए हैं, हमेशा प्रयास रहा है कि मूल पाठ को उसकी भौतिक सीमाओं से मुक्त कर दूं और उसे प्रवहमान बना दूं। 'आधे-अधूरे' में मूल पाठ को विखंडित कर और उसके खंड को कथानक एवं

समूहगान को सौंप यह प्रयास सफल बनाया गया। 'किंग लीयर' में दर्शकों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाकर इस लक्ष्य की प्राप्ति हुई। और 'हिम्मत माई' में एक पुरुष को महिला की भूमिका में प्रस्तुत कर।

नाट्य-अभिव्यक्ति हेतु अपनी एक अलग भाषा विकसित करने के क्रम में मैं निरंतर भारत, बल्कि एशिया की प्राचीन पारंपरिक प्रस्तुतियों का अध्ययन-अन्वेषण करती रही हूं। साथ ही इस वैज्ञानिक युग के लिए नए थिएटर की परिकल्पना के लिए बर्तोल्त ब्रेख्त ने जिन नाट्य सिद्धांतों को आधार माना उनकी ओर आकृष्ट रही हूं। ये नाटक एवं चलचित्र उन संभाव्य प्रस्तुतीकरणों के लिए अनमोल खजाने की भांति हैं जिनके माध्यम से कथाएं एवं पात्र एक साथ कई पथों से गुजर सकते हैं।

इस स्थिति में मैं अपनी कृति को 'अनुभवपरक' कहना पसंद करूंगी। मेरा प्रयास है कि मैं सीधे संवेदनाओं से लोगों को रू-ब-रू करा सकूं। इस प्रक्रिया में मस्तिष्क की मध्यस्थता नहीं हो और रंग, ध्वनि एवं बिंब (न कि शब्द) अर्थों को स्पष्ट करें। मेरे लिए थिएटर समझने से अधिक उसकी अनुभूति जरूरी है। और यह निस्संदेह नारी रूप में मेरे अस्तित्व से संबद्ध होनी चाहिए।

लतिका कट्ट (जन्म : 1948) सुप्रसिद्ध मूर्तिकार हैं। उन्होंने पंकिल मिट्टी समेत कई प्रकार के पदार्थों से मूर्तियां बनाई हैं। देश-विदेश में उनकी कृतियों की विशिष्ट प्रदर्शनियां हुई हैं। उन्होंने कई अंतर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियों यथा 'पेरिस बाइएनेल' (1980); भारत समारोह, लंदन (1981); मॉस्को, लेनिनग्राद एवं ताशकंद में आयोजित 'स्त्री' समारोह; और गेटेनबर्ग एवं म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट, स्टॉकहोम में आयोजित 'फाइव इंडियन आर्टिस्ट शो' (1998) में भाग लिया। लतिका कट्ट ललित कला अकादेमी के राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित हैं। और उनकी कृतियां दुनिया भर के कला संग्रहालयों एवं निजी संग्रहों की शोभा बढ़ाती हैं।

14

जीवन को तराशते हुए

लतिका कट्ट

मेरी जिंदगी खालिस अंग्रेजी एवं शुद्ध भारतीय परंपराओं का एक कॉकटेल है। दोनों ने मिलकर एक मदहोश करने वाला सम्मिश्रण तैयार किया है जिसने अभिव्यक्ति, न्याय, और अच्छी पहचान के लिए मेरे संघर्ष को प्रज्वलित रखा है। यह कहना कठिन है कि यह सब कब और कैसे हुआ, या हो रहा है? यह कहना और कठिन है कि यह मुझे कहां लिए जा रही है। पर एक बात तो तय है कि यदि मुझे पुनर्जन्म मिले तो मैं अपने सभी निर्णय ठीक उसी प्रकार लूंगी जैसा कि इस जीवन में लिया है। यह मुझे एक सुखद अनुभूति देती है। और मुझे (खासकर) युवा नारी पाठकों के साथ जीवन के बारे में बात करना अच्छा लगता है। मैं इस आशा से बात करती हूं कि यह उन्हें इस पुरुषप्रधान दुनिया में मजबूत बनाएगी।

मेरे जन्म से लेकर सन् 1974 तक मेरे पिता सुप्रसिद्ध दून स्कूल (देहरादून) में जीव विज्ञान पढ़ाते रहे थे। बरसों देहरादून ही हमारा घर रहा। हम एक विशाल विक्टोरियन बंगले में रहते थे। उसमें ढेरों कमरे, बड़े-बड़े पेड़, शाक-सब्जी और फूलों के बगीचे थे। मेरे पिता को उनसे बहुत लगाव था। वहां रंग-बिरंगी चिड़ियां अनवरत चहकती रहतीं और बंदरों एवं गिलहरियों का आना-जाना तो लगा ही रहता। मैं अपने पिता के साथ रहना अधिक पसंद करती क्योंकि वे प्रकृति प्रेम में डूबे होते और कभी भी किसी बात का बतंगड़ नहीं बनाते। मेरी मां अधिक अनुशासन रखती और मेरा भाई हमेशा मुझ पर अपनी धौंस जमाने में लगा रहता क्योंकि वह मुझसे पांच साल बड़ा था। उसे मेरा 'मिनी-स्कर्ट' पहनना कभी नहीं सुहाता। मैं नहीं समझ पाती कि वह मेरे लिए मानदंड क्यों तय करता है जबकि मैं स्वयं वह कर सकती थी। पर मेरी मां उसे प्रेरित करती और मुझे इस बात से नफरत थी।

सत्र की मध्यकालीन छुट्टियों के दौरान हम छोटे-छोटे समूहों में ट्रेकिंग के

लिए पहाड़ियों पर जाते थे। इन यात्राओं के दौरान मैंने गौर किया कि मेरे पिताजी प्रकृति के अभिन्न अंग की भांति थे। मैं उन दिनों आठ वर्ष की थी। मुझे विशिष्ट पत्तियों एवं कीट-पतंगों का संग्रह करने का शौक था। मुझे तितलियों के शरीर को बींधकर उसे अपने कार्ड बोर्ड पर चिपकाने में मजा आता। केंचुए एवं बड़ी चींटियों की मिट्टी पलीद करने में तो मुझे और अधिक मजा आता। यदा-कदा मैं चींटियां खा भी लेती थी! बगीचे से आए टमाटरों की चीरफाड़ का भी आनंद लेती। मुझे लगता है अपनी उम्र के हिसाब से मैं अत्यधिक अनुशासनहीन थी पर मेरे पिता ने मेरे साथ कभी सख्ती नहीं दिखाई।

मैं जब कॉलेज गई तो चीरफाड़ का यह शौक मेरा अति गंभीर कार्य बन गया। मेरा एक साथी माइक्रोबायोलॉजी पढ़ता था और एक पूरी नई दुनिया मेरे सामने खुल गई थी। किसी चीज का क्लोज अप, परिवर्धित स्वरूप मेरे लिए लोमहर्षक होता और प्रत्येक दृश्य स्वतः एक सर्जना होती। नाना प्रकार की अनगिनत कोशिकाएं, द्रव एवं ठोस सब मिलकर जीवन का प्रवाह तैयार करते। यह सब कितना अविश्वसनीय लगता! मेरी मां मुझे लेकर चिंतित रहती क्योंकि मैं उसकी हर बात की अवमानना करती—खासकर रसोई में हाथ बंटाने से। मेरा यह मानना था मांएं बच्चों को जन्म देती हैं और यह उनका दायित्व है कि अपने बच्चों को अच्छा खाना खिलाएं। मेरी मां बहुत अच्छा खाना बनाती। अपनी गुड़ियों के लिए मेरे पास भी एक रसोई घर था। मैं उनके लिए मिट्टी के बर्तन बनाती। मैं अकसर स्कूल छोड़ दिया करती ताकि अपने बगीचे में खेलने का अवसर मिले। मेरे मां-बाप को स्कूल में मेरी अनुपस्थिति का तब पता चलता जब प्रिंसिपल मेरे स्वास्थ्य के बारे में पूछने घर पर आ जाते। स्कूल में खरगोशों का एक कोना था और मुझे वह जगह सबसे अधिक पसंद थी। बालू और मिट्टी के उनके बिल को देख मैं दंग रह जाती। बरसों बाद मेरे जीवन में वह घड़ी आई जब मेरी यह रुचि दीमकों के ऊंचे-ऊंचे बिल और नाना प्रकार के घोसलों एवं बिवरों के अध्ययन में परिणत हो गई। स्कूल के लड़के मुझे धक्का देते और पीटते क्योंकि मैं बहुत ही नाटी थी। मेरे प्रिंसिपल के लड़के दुनु राय का सबसे अच्छा मनोरंजन था मुझे स्कूल के तरणताल में गोते लगवाना और सीढ़ियों पर से नीचे धकेलना। पर क्रिकेट में मैं एक अच्छी गेंदबाज थी और 'सेवन टाइल्स' नामक टीम में शामिल थी। बाद में कॉलेज के दिनों मैं एयर गन से निशानेबाजी में माहिर हो गई। सिर्फ बंदूकों से लगाव के चलते एक बार तो मैंने पुलिस बल में भर्ती होने का भी मन बना लिया था।

मैंने जब सन् 1958 में दून स्कूल में प्रवेश किया तो जिंदगी अचानक बदल

गई। पांच सौ लड़कों के बीच हम सिर्फ पांच लड़कियां थीं। लज्जालु होने के कारण मेरा दम घुटता था वहां। हालांकि दूसरी ओर मैं अपने पिता के सहकर्मी शिक्षकों की नकल उतारते हुए न जाने कितनी बार पकड़ी गई थी। और यह बड़ी कठिन घड़ी होती। मेरे पिता इस बात पर बल देते कि लड़कों के साथ पढ़ाई करूं क्योंकि उनकी राय में यह दुनिया मोटे तौर पर पुरुषों की है और इसलिए वे चाहते कि मैं पुरुषों को पहचानूं। उन दिनों मैं उनकी बात नहीं समझ पाई। पर बाद में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के राजनीतिक रूप से तनावपूर्ण माहौल में एक छात्रा एवं शिक्षिका के रूप में इस अनुभव से मुझे बहुत लाभ मिला। आज यह मेरा सबसे बड़ा संबल है—मैं एक नजर में पुरुष को भांप लेती हूं और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सबक सिखा सकती हूं।

स्कूल में मेरा मन सबसे अधिक कला और संगीत में लगता! रथिन मित्रा और श्री देशपांडे हमें बहुत अच्छा, महत्त्वपूर्ण और सम्मानित होने का अहसास कराते। कला की कक्षा में नकल की मनाही थी। खुले आसमान तले चित्रकारी को प्रोत्साहित किया जाता। कला प्रतिस्पर्द्धा में मुझे सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए हर बार सुषमा शर्मा शील्ड प्राप्त होता था। मेरी बहन की स्मृति में मेरे पिता इस शील्ड को स्कूल के नाम दान कर देते। मेरी बहन सुषमा प्रत्येक विषय में अच्छी थी—उसे लोग प्यार करते थे, पर गुर्दे की खराबी के कारण वह सोलह वर्ष की अवस्था में ही मर गई। मेरे जीवन पर इस घटना का बहुत असर पड़ा। मेरी पढ़ाई तो मानो खटाई में पड़ गई और मैंने किसी बात की परवाह करनी छोड़ दी। पर मैं जो कुछ भी करती मेरे पिता उसे समझने की कोशिश करते। वे मुझे कभी भी नहीं डांटते और मुझे भाई की बराबरी का दर्जा देते। यों वह मेरी मां का लाडला था। इसलिए भी मेरे पिता का समर्थन मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था। एक शिक्षक होने के नाते मेरे पिता मेरे उत्कट स्वभाव और भावनाओं को समझते और उन पर कभी भी अंकुश नहीं लगाते। यह एक प्रकार से मेरी मदद थी। मेरे अजीब व्यवहार के प्रति उनकी सहिष्णुता ने अंततः मेरे आवेगों को एक सर्जनात्मक दिशा दे दी। सुधीर खस्तगीर और रथिन मित्रा, दोनों ही दून स्कूल के कला शिक्षक, से अच्छी मैत्री के कारण मेरे पिता उन सामाजिक दबावों से परिचित थे जो रचनाधर्मिता पर बोझ बन जाते हैं। और इसलिए वे एक ढाल की भांति उन दबावों से मुझे बचाते।

मूर्तिकला की एक छात्रा के रूप में मैंने जब बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया तो मुझे लगा कि ललित कला स्नातक (बी.एफ.ए.) की पढ़ाई मेरे लिए बहुत लाभप्रद थी। आगे चलकर पवित्र नगरी वाराणसी में पढ़ने का लाभ

मुझे पता चला और इस बात की खुशी हुई कि मैंने शांति निकेतन में दाखिला नहीं लिया। मैंने देखा शांति निकेतन में लड़कियां सदैव लड़कों से पीछे रहतीं। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में ऐसी स्थिति नहीं थी। वहां हम हर एक गतिविधि के केंद्र होते—लड़के हमारा अनुसरण करते। यह दून स्कूल के बिल्कुल विपरीत था। धीरे-धीरे मुझे भारत के जन-सामान्य का महत्त्व पता चल गया। यहां के मेरे सहपाठी, मुचड़े पाजामा-कुर्ता पहने, दून के मेरे सजे-संवरे सहपाठियों से किसी मामले में कम नहीं थे। मैं इस पौराणिक नगरी से धीरे-धीरे परिचित होने लगी और यह पूरी दुनिया में मेरा सबसे प्रिय स्थान बन गई। आज भी यह एक ऐसी जगह है जहां लोगों की पहचान उनकी पोशाकों से नहीं होती। सुप्रसिद्ध लोग भी सामान्य लोगों की भांति जीते हैं। साधु-संत, मणिकर्निका घाट, बाढ़ का पानी, टहलते हुए मवेशी और नदी में उतराती हुई लाशें, सारनाथ, सरसों का खेत, छोटी-छोटी अंगीठियों से उठता हुआ धुआं, रंग-बिरंगी चूड़ियां, मलमल, लकड़ी के बने सामान और चाट खाने का मजा—ये सब मेरे अस्तित्व के अभिन्न अंग बन गए। घाटों एवं संकरी गलियों में बरसों पुरानी, जीवंत, ग्राम्य और सहज जैविक गतिविधियां मुझे अत्यधिक यथार्थ लगतीं। मुझे याद है सन् 1971 में अपनी पहली विदेश यात्रा के क्रम में मुझे लंदन फूटी आंख नहीं सुहाया क्योंकि यह अत्यधिक बोरियत भरा, रंगहीन और धूप की रोशनी से रहित था।

बलबीर कट्ट से मेरी पहली मुलाकात कक्षा के अंदर ही शीतकालीन अवकाश के बाद हुई। मुझे बहुत गुस्सा आया क्योंकि मुझसे अधिक कोई अन्य लोगों का ध्यान खींचने का प्रयास कर रहा था। मैंने उससे बड़ी ढीठाई से पूछा कि क्या वह नया छात्र था। उसने नम्रता से जवाब दिया कि वह एक शिक्षक है। बलबीर सिंह कट्ट बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के मूर्तिकला विभाग में सन् 1966 में एक युवा व्याख्याता के रूप में आया था! पूरा कॉलेज उनके पीछे-पीछे घूमता और अपनी उदारता, सहायता की प्रवृत्ति और कुशलता के कारण वे शीघ्र ही सर्वाधिक लोकप्रिय शिक्षक बन गए। वे खूब टहला करते, रातों में काम करते और कक्षा की कोई ठोस समय-सारणी नहीं मानते। हममें से कई एक साथ घूमते और गंगा में खूब नौका विहार करते। मैंने 14 अगस्त, सन् 1971 को उनसे शादी कर ली और वे तब से मेरे सबसे अच्छे हमसफर रहे हैं—साहसी और मनमौजी।

मैंने लकड़ी की नक़्क़ाशी का पहला अनुभव उनके साथ ही प्राप्त किया। संगमरमर तराशने का उनका काम हमें मंत्रमुग्ध कर देता। यों तो हम कम ही समझ पाते कि उन्होंने क्या बनाया है पर तराशने की उनकी शैली बहुत ही प्रभावित करती। मैं तराशने के काम में बहुत तेज थी और खून रिसती अंगुलियों एवं दर्द

भरे हाथों के बावजूद मैं यह प्रकट करती कि यह काम सचमुच आसान है और मैं कॉलेज के लड़कों की तुलना में कहीं अधिक सुलभतया कर सकती हूं। मैंने इस काम का इतना अभ्यास किया कि अंततः यह आसान हो ही गया! अब मेरे मन में बैठ गया कि मुझे मूर्तिकारी ही करनी चाहिए क्योंकि इससे मुझे अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक संतुष्टि मिलती। मैं दरअसल पूर्ण आत्मसमर्पण की तलाश में थी। सो मैंने अपने विभागाध्यक्ष के लाख विरोध के बावजूद मूर्तिकारी को ही चुना। उनका कहना था कि भारतीय लड़कियां इसके लिए नहीं बनी थीं। पर मुझे पूरा विश्वास था कि मैं उन्हें गलत साबित कर दूंगी। सन् 1997 में जिस दिन मेरी कृति, पंडित जवाहर लाल नेहरू की 20 फुट ऊंची कांस्य प्रतिमा, जवाहर भवन (नई दिल्ली) में उद्घाटित की गई उस दिन मुझे उन तमाम दंभी पुरुषों को पीछे छोड़ देने का संतोष हुआ। मैंने सदैव समानता के लिए लड़ाई लड़ी थी—लड़कियों के लिए समान अवसर के लिए संघर्ष किया था।

मैंने लड़कों की मदद की पर किसी भी परिस्थिति में उनकी सहायता नहीं ली। मैं सदैव सुबह 5 बजे उठती और ठंडे पानी से स्नान करने के बाद साइकिल पर सवार होकर चित्रकारी या प्रकृति के अध्ययन के लिए निकल पड़ती। मुझे तेजी से सीखना था और हर हाल में अच्छा प्रदर्शन करना था। एम. एस. विश्वविद्यालय, बड़ोदा में मैं पूरी रात विभाग में बिताया करती और अपने सांचों को स्वयं पकाती। मैं सबके समक्ष यह भी साबित करना चाहती थी कि मुझमें मेरे पिता का विश्वास न्यायसंगत था। किसी छात्रावास में जाने वाली अपने परिवार की मैं पहली लड़की थी। और अपने कठिन परिश्रम के कारण मैं बहुत प्रसिद्ध हो गई। लड़कों की बराबरी करने के लिए हमने निर्णय लिया कि देर तक छात्रावास से बाहर रहेंगे। मैं रात के लगभग 8 बजे तक काम किया करती। सूर्यास्त के बाद देर तक नौका विहार करती, क्योंकि हम घाटों के धूसर व श्याम अध्ययन-चित्र बनाना चाहते थे।

वाराणसी के घाट अद्भुत थे। मुझे वहां बहुत उदासी महसूस होती। इसकी वजह कहीं यह तो नहीं कि वहां कई बूढ़े लोग भटकते रहते? यहां और नालंदा में मुझे लगता कि मैं सदियों पुराने लोगों से रू-ब-रू हो सकती। निश्चय ही कुछ कारण रहा होगा जिसके परिणामस्वरूप वाराणसी और गंगा का किनारा दोनों इतने दिनों से यथावत बने रहे। वहां बिताए गए 5 वर्षों ने जिंदगी के प्रति मेरा नजरिया ही बदल दिया। नित्य प्रति इतनी संख्या में लाशों का दर्शन—मृत्यु हमारे निकट, किसी मित्र की भांति, आ गई थी। भौतिक दुनिया की नश्वरता भी एक ध्रुव सत्य लगने लगी। एक बात और जो मेरे सामने स्पष्ट हो गई वह यह कि हम

सभी इस दुनिया में किसी लक्ष्य के साथ आते हैं और उसके पूरा होते ही चले जाते हैं।

पांच वर्ष के बनारस प्रवास ने मुझे अत्यधिक ठोस और कठोर बना दिया। मूर्तिकला की छात्रा के रूप में मैंने अपनी कार्यशैली विकसित कर ली ताकि भौतिक कठिनाइयों, खासकर भार एवं आकार से संबद्ध, को दूर कर सकूं। अंततः जीतना मुझे ही था। समस्या जब कभी न्याय से संबद्ध होती तो पुरुषों की चट्टानी दीवारों से टकराने की नौबत आ जाती। महिलाओं के लिए तमाम नियम कानून पुरुष ही बनाते पर हम उन्हें तोड़ने पर आमादा होते। मेरा लक्ष्य बिल्कुल साफ था—मेरी मूर्तिकारी के मार्ग में जो भी बाधा आए मैं उसे समूल उखाड़ फेंकूं। मेरे सौभाग्य से ललित कला के कुछ शिक्षक बहुत ही उदार और प्रयोगवादी थे और मैंने इस बात का खूब लाभ उठाया। मैं फौरन किसी भी, और सभी तकनीकियों पर आधिकारिक जानकारी प्राप्त करने में विश्वास रखती ताकि आगे हममें आत्मविश्वास रहे। इस प्रकार कोई भी समस्या बाधक नहीं बन पाई।

मैं भारत या बाहर कहीं भी अन्याय नहीं सह सकती। यह मेरी आदत बन गई है। सन् 1991 में अमेरिका में और फिर सन् 1999 में आस्ट्रेलिया में मैंने किसी प्रकार का समझौता नहीं किया और अपने विदेशी मेजबानों को साफ कर दिया कि भारतीय महिलाएं शिक्षित, और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हैं और एक प्रजातांत्रिक प्रणाली की अंग हैं। मैं एक घोर राष्ट्रवादी भी हो गई हूं। भारतीयों या अपने देश के बारे में किसी भी अपमानजनक बयान का मैं खुलकर विरोध करती हूं तथा 'वर्ण' को श्रेष्ठता का प्रतीक मानने को कतई तैयार नहीं हूं। मुझे लगता है भारत हो या इसके बाहर, औरतें अधिक साहसी एवं ईमानदार होती हैं। अधिसंख्य पुरुष समझौतावादी और महत्त्वाकांक्षी हैं और जल्द ही असुरक्षित महसूस करने लगते हैं। दरअसल पुरुषों को ही उनकी तमाम वर्जनाओं से मुक्ति के लिए सही शिक्षा की आवश्यकता है। मैं सदैव दहेज प्रथा और अत्यधिक जनसंख्या वाले इस देश में बच्चे पैदा करने के विरुद्ध रही। दहेज से संबद्ध निर्णय को लेकर मैंने ढेरों कठिनाइयां झेलीं। पर यह जिंदगी तो मेरी अपनी थी सो मैंने निर्णय लिया कि मैं स्वयं पैसा अर्जित करूंगी। मैं बुरा बर्ताव नहीं झेल सकती सो अपनी ससुराल को सदा के लिए छोड़ आई और कभी भी इसका पछतावा नहीं किया। मैं वाकई मनुष्य की मूल स्वतंत्रता और सम्मान से समझौता नहीं कर सकती।

इस अवधि की सबसे अच्छी बात यह थी कि मैंने उससे कहीं अधिक पा लिया था जिसका स्वप्न देखा था। दोस्तों के मामले में भी मैं बहुत ही सौभाग्यशाली

थी क्योंकि वे भिन्न-भिन्न विषयों एवं रुचियों वाले थे। यों तो मैं अपनी कला में मग्न रहती पर इसका विकास भी तो आसपास के परिवेश में ही संभव होता। वस्तुतः मेरे इर्द-गिर्द के लोग, भू-दृश्य और भावनाओं के प्रति मेरी तत्काल प्रतिक्रिया से ही मेरी कृतियों में स्वाभाविकता आती।

स्नातक होने और शादी के बाद मैं बलबीर सिंह कट्ट के साथ लंदन चली गई। वे वहां सुप्रसिद्ध रायल कालेज आफ आर्ट में मूर्तिकला का अध्ययन कर रहे थे। यह अवधि हम दोनों के लिए गहन अध्ययन का समय था। हमने यूरोप की यात्रा की और कई कला संग्रहालयों एवं ऐतिहासिक स्थानों को देखा। सभी प्रकार के कलाकारों से मिले और बातचीत की। सन् 1973 में हम वापस भारत आ गए—काबुल तक बस, और उसके बाद हवाई जहाज से। मेरी यह यात्रा अविस्मरणीय है। इस्तांबुल, इस्फहान, कंधार और काबुल के आसपास समय व्यतीत करने का अनुभव अविस्मरणीय है। मैं तो अफगानियों एवं उनके आतिथ्य से अत्यधिक प्रभावित थी। इस मामले में वे यूरोपवासियों की 'संकुचित' प्रवृत्ति से कितने भिन्न थे! मुझे आज भी लगता है कि निस्संदेह अफगान पुरुष ही सबसे सुंदर होते हैं। वर्षों स्वादहीन खाना खाने के बाद हमें अफगानिस्तान में सचमुच लजीज खाना खाने को मिला। उस क्षेत्र में जारी हालिया युद्धों ने तो मेरा दिल तोड़ कर रख दिया।

ब्रिटेन से वापस आने के बाद मैं ललित कला में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त करने के लिए एम. एस. विश्वविद्यालय, बड़ोदा चली गई। वहां मैं प्रो. महेन्द्र पांड्या के मार्गदर्शन में रही। मैंने उनकी काष्ठ-कृतियां देखी थीं और मुझे उनमें मौलिकता नजर आई थी। मेरी उनसे अच्छी बनती थी और इसलिए मैं उनसे बहुत कुछ सीख पाई। सन् 1974 में अपने पिता की मृत्यु के बाद मैंने खुद को अचानक नितांत अकेला पाया। मेरे पास फूटी कौड़ी नहीं थी और मैं किसी से उधार नहीं लेना चाहती थी। पर मेरे पिता ने मेरे अहं को जीवित रखने में मेरी मदद की थी। इससे मुझे आंतरिक और बाह्य कठिनाइयों से लड़ने की ताकत मिली। मेरे बड़ोदा प्रवास के आरंभिक दिनों में मुझे कभी-कभी दो जून की रोटी के लिए भी संघर्ष करना होता। लेकिन मैं बिना किसी समझौते के उबर गई। यह मेरे लिए कठिन परीक्षा की घड़ी साबित हुई लेकिन मुझे लगता है कि मैंने अपने जीवन की तमाम असुरक्षाओं पर भली-भांति विजय पा ली। लेकिन एक बार घोर हताशा के बीच, जब मैं अत्यधिक थकी हुई थी, शरीर में खून की बहुत कमी थी और पूरा बदन टूट रहा था, और खाना या दवा के लिए फूटी कौड़ी तक नहीं थी तो मैं इस उम्मीद से सड़क के बीचों-बीच चली गई ताकि कोई

ट्रक मुझे कुचल दे। पर ऐसा नहीं हुआ और जब मैं वापस छात्रावास पहुंची तो मुझे बहुत ही पछतावा हुआ। मैंने जब अपनी मां और छोटी-छोटी भतीजियों के बारे में सोचा तो फूट-फूटकर रो पड़ी और दुबारा आत्महत्या का प्रयास न करने की शपथ ली।

मैंने मृत्योपरांत जीवन या दूसरी दुनिया की यात्रा पर कई मूर्तियां बनाईं। 'सफलता के सोपान की मंजिल कहां?' नामक कृति उनमें से एक है। यह नेशनल गैलरी आफ माडर्न आर्ट के संग्रह में है। मैंने 'द सीक्रेट लाइफ आफ प्लांट्स' पुस्तक पढ़ी जो बहुत ही मददगार साबित हुई। मैं ललित कला (केंद्र) के सामने कमाती बाग में घंटों समय व्यतीत करती। वहां कुछ लंबे-लंबे पेड़ मेरे बहुत अच्छे मित्र बन गए। आज भी जब मैं बड़ोदा जाती हूं तो उन्हीं रास्तों से गुजरती हूं और उन पेड़ों के साथ कुछ समय बिताती हूं।

ऐसे ही एक अवसर पर, जब मैं एक झोपड़ी को देख रही थी तो गाय के गोबर पर नजर चली गई और मुझे अपने काम का एक नया माध्यम मिल गया था। मैंने गोबर, लकड़ी और रस्सी से कई आकृतियां बनाईं। यह एक अच्छी खोज थी। मैंने इसे सुरक्षित रखने के लिए देशी घरेलू सामग्रियों जैसे नीम का तेल, इमली और विभिन्न प्रकार के रेशों का इस्तेमाल किया। मुझे इसमें बहुत मजा आता। वह कृति आज 24 वर्षों बाद भी मेरे संग्रह में सुरक्षित है। सन् 1978 में कसौली में आयोजित कलाकारों के एक समारोह में आमंत्रित आलोचकों को गोबर से बनी मेरी कृतियों की जानकारी थी पर उन्होंने अन्य बहुत कम उम्र के कलाकारों को इस माध्यम की खोज का श्रेय दे दिया। यह उनकी अनैतिकता थी जिससे मैं आहत हुई थी। पर मैं नहीं चाहती थी कि मेरा उत्साह कम पड़े। बाद में मैंने कुट्टी से ढेर सारा काम (पेपरमेशी) किया। अफ्रीका, स्वीडेन और जापान में उनमें से कुछ की खूब प्रशंसा हुई। वे अब नेशनल गैलरी आफ माडर्न आर्ट, दिल्ली के संग्रह में शोभायमान हैं। संगमरमर तराशने पर मेरा सबसे महत्त्वपूर्ण कैंप भारत-जापान मैत्री पर आधारित था जो सन् 1988 में बड़ोदा में और फिर सन् 1989 में युगोस्लाविया में आयोजित हुआ था। उन्हीं दिनों मुझे भारत सरकार द्वारा विभिन्न देशों के लिए पंडित नेहरू की आठ आवक्ष मूर्तियां बनाने का दायित्व दिया गया।

सन् 1970 में बलबीर कट्ट और मैं बनारस विश्वविद्यालय में बतौर शिक्षक कार्यरत थे। हम गंगा के समीप रहे और वाराणसी की पुनः-पुनः खोज करते रहे। मैंने जमकर फोटोग्राफी की और कुछ विशाल मूर्तियां बनाईं। बतौर शिक्षक मैंने कई छात्राओं को अहमियत दिलाई। सन् 1985 में विश्वविद्यालय के ईर्ष्यालु

कलाकारों द्वारा मेरा स्टूडियो जला दिया गया। मैं परिवर्तन हेतु जामिया मिलिया इस्लामिया चली गई। मुझे अब तक यह पता चल गया था कि स्त्री को नीचा दिखाने के लिए पुरुष किसी भी सीमा तक जा सकते हैं और वे जो चाहते हैं, पाते हैं। मैं यह जानकर क्रुद्ध भी थी। इसलिए पुरुषों ने जब भी मुझे क्षति पहुंचाने की कोशिश की मैंने मुंहतोड़ जवाब दिया और किसी के द्वारा विस्थापित होने से अस्वीकार कर दिया।

मेरे पति बलबीर सिंह कट्ट (ललित कला संकाय के डीन) 30 जनवरी, सन् 2000 से 'लापता' हैं। मुझे पक्का विश्वास है उन्हें कैंपस से भगा दिया गया या अपहृत कर लिए गए? या कौन जाने उन्हें जहर दे दिया गया हो? अब तक मैं उनका घर और उनकी नौकरी बचाने में सफल रही क्योंकि उनकी सेवा 30 जून, 2002 तक जारी थी। मैं उनकी वापसी की उम्मीद ही तो कर सकती हूं। इस अवधि में मैंने कई मित्र बनाए और कई लोगों ने स्वयं आगे बढ़कर मदद की पेशकश की। हालांकि उनके प्रिय मित्र एवं छात्र, जिनकी उन्होंने हर संभव मदद की थी, संकट की इस घड़ी में मानो गदहे के सींग की तरह गायब हो गए। मेरे लिए यह अनुभव दुखद रहा।

मैंने जैसा कि पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि हममें से कुछ जीवन में खास लक्ष्य के साथ बढ़ते हैं और प्रायः मेरा लक्ष्य है इनके सदृश लोगों के साथ संघर्ष करते हुए न्याय की प्राप्ति। इन दो वर्षों में ही मैंने जान लिया है कि कौन मेरे सच्चे मित्र हैं और कौन वर्षों से परजीवी रहे हैं। मुझे अन्य लोगों के प्रदर्शन या उपलब्धियों से कभी भी ईर्ष्या नहीं हुई। मैंने अपने काम का मानदंड स्वयं तय किया है और हमेशा अधिक सीखने और अच्छा करने की चाहत रही है। सन् 1997 में नेहरू की प्रतिमा पर काम करते हुए मैं बहुत ऊंचाई से गिर पड़ी। मैं तो यह मान चली थी कि मैं मर जाऊंगी पर गिरते हुए मुझे डर नहीं लगा क्योंकि मैं चैन से, संतुष्ट होकर मरती। बलबीर कभी वाराणसी छोड़ना नहीं चाहते थे और हम दोनों ने नदी किनारे एक विशाल आर्ट स्टूडियो बनाने का निर्णय लिया। सन् 2001 में मैंने गंगा किनारे जमीन का एक टुकड़ा, फलों के कई पेड़ों सहित, खरीदा। मैंने और भी कई फूलों के पेड़ लगवाए और अब चुनार बलुआ-पत्थर (सैंडस्टोन) से एक विशाल स्टूडियो का निर्माण करवा रही हूं। अशोक स्तंभ इसी पत्थर का बना है। पंकिल मिट्टी की दो झोपड़ियां तैयार हैं जिनके अंदर मेरे एक सहकर्मी चित्रांकन का काम करेंगे। यहां मैं विकलांगों एवं कुष्ठ के रोगियों और अंधे लोगों के लिए एक प्रयोगवादी कैंप लगाना चाहती हूं। मैं कला के माध्यम से उन्हें एक हैसियत और वित्तीय लाभ देना चाहती हूं। यदि किसी दिन बलबीर

सिंह वापस आते हैं तो उन्हें काम करने के लिए एक अद्‌भुत स्टूडियो मिलेगा। यदि भगवान कहीं हैं, तो बलबीर सिंह जहां हों बिल्कुल सही होंगे।

बलबीर की गुमशुदगी ने मुझे ज्योतिष के बहुत करीब ला दिया है। यों तो इस शास्त्र से मैं सदैव जुड़ी रही हूं पर परीक्षा की इस घड़ी में मैं ज्योतिष का अध्ययन अधिक गंभीरता से करना चाहूंगी। जादू-टोना एवं तंत्र-मंत्र में मेरी सदैव रुचि रही है। अदृश्य शक्ति और अदृश्य ताकतों की धड़कन तो हमेशा ही मेरी मूर्ति-शिल्पीय संरचना का अंग रही है। जाले के धागों का तनाव, ताजा प्रतान और वास्तविक एवं अवास्तविक स्थानों की अनुभूति सबके सब मेरे काम में स्थान पाते हैं। मैंने धातु, संगमरमर, पंकिल मिट्टी, गाय के गोबर, कुट्टी और लकड़ी का इस्तेमाल किया है। कला में छिपे रहस्य और द्वैध मुझे आकृष्ट करते हैं। अत्यधिक प्रतिनिधि एवं स्पष्ट कृतियों से ऊब होती है। कला में अतिशय अश्लीलता हो जाती है। सतही और अलंकारिक कला का स्थान न तो मेरे जीवन में है और न ही मूर्तिकला की मेरी दुनिया में।

वर्तमान में मैं जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली में मूर्तिकला की विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर हूं। हर प्रकार के घटिया भेदभाव से मेरा वास्ता पड़ता है और यह देखकर बहुत दुख होता है कि हम अपने विकास को लेकर भी कितने संकीर्ण विचार रख सकते हैं। कलाकार धार्मिक उन्मादी हो सकते हैं भला? कलाकारों को तो सृजनशील होना चाहिए और किसी भी सृजनशील व्यक्ति को धर्म, जाति एवं पंथ से ऊपर उठकर रहना चाहिए। संघर्ष जारी है और मुझे विश्वास है कि यही दैविक देन है क्योंकि ऊपर वाला ही मुझे जीतने की ताकत भी देता है।

मुझे उम्मीद है कि वाराणसी में विशाल और सुंदर स्टूडियो का निर्माण मेरे लिए नए अवसर सृजित करेंगी और नए आयाम जोड़ेंगी। मैं जीवन में कुछ ऐसे परिवर्तन की आस लगाए बैठी हूं। मैं इस दुनिया की कल्पना, इसमें अपने वजूद के बिना किसी हाल में नहीं कर सकती।

किरण बेदी (जन्म : 1949) भारतीय पुलिस सेवा में प्रवेश (1972) करने वाली प्रथम भारतीय महिला हैं। उन्हें सदैव एक ऐसे पुलिस अधिकारी के रूप में याद किया जाएगा जिन्होंने कठिन परिस्थितियों से निपटने के लिए सदियों की दंडात्मक परंपरा को धता बताकर नई सर्जनात्मक तकनीकियों का उपयोग किया। मामला जेलों के अंदर सुधार का हो, सड़कों पर काननू-व्यवस्था रखने का या फिर प्रशिक्षण संस्थानों में रचनात्मक गतिविधियों का, किरण बेदी ने सदैव सकारात्मक रवैया अपनाया है। उनके सर्वाधिक अविस्मरणीय योगदानों में कारागृह सुधार—कैदियों के लिए योग और ध्यान कार्यक्रम चलाकर—और नशीली दवाई उन्मूलन के कार्य रहे हैं। शराब और नशीली दवाइयों के शिकार लोगों को निःशुल्क आवासीय, सामुदायिक रोग-निवारण उपचार मुहैया करवाने के लिए सन् 1987 में उन्होंने नवज्योति नामक एक संस्था की नींव रखी। इसमें 12,000 से अधिक नशाखोरों का इलाज किया गया है और दरिद्र बच्चों की पढ़ाई एवं पुनर्वास में इसके योगदान को दिल्ली सरकार की सराहना मिली है। किरण बेदी द्वारा सन् 1994 में स्थापित 'इंडियन विजन फाउंडेशन' कैदियों के बच्चों की स्कूली शिक्षा का पर्याय है। साथ ही वे सड़कों पर मंडराते बच्चों के लिए गली स्कूल, ग्रामीण समुदायों की ग्राम्य परियोजनाएं और पिछड़े क्षेत्रों में विकलांगों के लिए परियोजनाएं चलाती हैं।

एक महत्त्वाकांक्षी महिला पुलिस अधिकारी के रूप में किरण बेदी ने कई महत्त्वपूर्ण पदों का निर्वहन किया है जैसे पुलिस महानिरीक्षक (कारागृह, दिल्ली); सह-पुलिस आयुक्त दिल्ली; उप-पुलिस महानिरीक्षक (सीमा), मिजोरम; और सह-पुलिस आयुक्त (प्रशिक्षण), दिल्ली। नशीली दवाओं की रोकथाम के लिए किए गए कार्यों हेतु इंटरनेशनल ऑर्गनाइजेशन आफ गुड टेंपलर्स ने किरण बेदी को 'एशिया-क्षेत्र पुरस्कार' दिया। सन् 1994 में सरकारी सेवा के लिए उन्हें रामन मैग्सेसे पुरस्कार मिला। गौरतलब है कि किसी पुलिस अधिकारी को पहली बार यह पुरस्कार मिला था। उसके बाद सन् 2001 में वेस्टर्न सोसायटी ऑफ क्रिमनॉलॉजी, अमेरिका द्वारा मॉरिसन-टॉम गाइशॉफ अवार्ड दिया गया। भारत में न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सुधारों के लिए उनके प्रयास हेतु यह पुरस्कार दिया गया था। राष्ट्रीय विकास, वर्ष 1999-2000, में विशेष योगदान के लिए पहला आइ आइ टी अलुम्नी एसोसिएशन अवार्ड भी दिया गया।

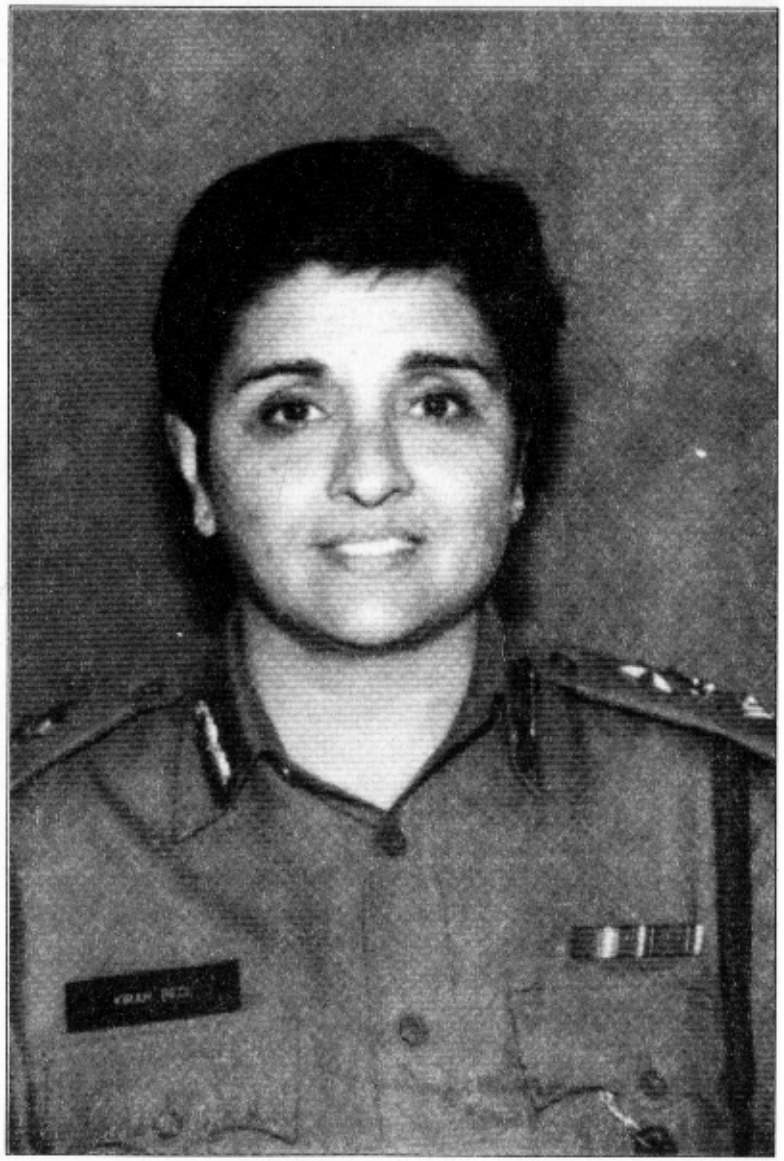

15

चुनौती लेते हुए

किरण बेदी

मेरा बचपन अच्छा था। माता-पिता का ढेरों प्यार और अच्छी परवरिश थी। लेकिन इसके बावजूद मेरा अपना संघर्ष था। किसे नहीं होता? हालांकि मैं यह जरूर कहूंगी कि मैंने घोर परिश्रम भी किया ताकि मेरे अनुसार काम हो। हर एक काम में उत्कृष्टता सदैव मेरा लक्ष्य रहा है। और जब आप उसके लिए काम करते हैं तो कुछ अधिक परिश्रम तो करना ही होगा। मैं अपनी क्षमता का ध्यान रखे बिना किसी वस्तु को पाने में विश्वास नहीं करती। और इसलिए मैंने हर एक उपलब्धि के लिए जमकर काम किया है, कठिन परिश्रम किया है। मुझे एक टेनिस खिलाड़ी, एक छात्रा, एक स्त्री और अंत में एक पुलिस अधिकारी बनने के लिए सदैव एक स्थान बनाना पड़ा है। कोई भी चीज कीमत चुकाए बिना, श्रम और पसीना बहाए बिना नहीं मिली। हां, अपने कठिन श्रम के दिनों मैंने अपने माता-पिता को भी संघर्षरत पाया। वे एक संयुक्त परिवार के अंग थे जिस पर मेरे जमींदार दादा की हुकूमत चलती। दादाजी मेरे माता-पिता पर अंकुश रखना चाहते थे—खासकर हम चार बहनों के लालन-पालन के संबंध में। पर मेरे मां-बाप ने विद्रोह कर दिया, पिताजी ने तो पहली बार किया था, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें कुछ फायदों से वंचित रहना पड़ा। लेकिन उन्होंने घुटने नहीं टेके, हमारे लिए संघर्ष करते रहे।

मैं तो यही चाहूंगी कि हर एक बच्चा, हर एक लड़की, को मेरी तरह ही मां-बाप मिलें। मेरे पिताजी दूरदर्शी थे और मेरी मां बहुत ही दृढ़-प्रतिज्ञ, कठोर परिश्रमी और संवेदनशील। दोनों का एक सपना था कि सभी बेटियों को मजबूत और अपने-अपने पैरों पर खड़ा देखें। घर में बीता एक-एक दिन हमारे लिए प्रेरणादायक होता—भविष्य के लिए प्रशिक्षण का क्षेत्र। परिवार में हम सभी एक ही दृष्टि रखते। लड़की होने के बावजूद मैं अपने लक्ष्यों से परिचित थी और निरंतर उनके लिए मार्ग प्रशस्त करने में लगी रहती। मेरा परिवार ही मेरी दुनिया थी।

मुझे चुनौती और प्रतिस्पर्द्धा पसंद थी क्योंकि मुझे आगे बढ़ना पसंद था। निस्संदेह ईर्ष्या या जलन के रूप में बाधाएं आतीं पर मैं उन्हें भी फलांग जाती। मुझे उन्हें समझने का प्रशिक्षण भी मिला था। वस्तुतः मेरी परवरिश इस प्रकार हुई थी कि मैं स्वयं अपनी सबसे अच्छी दोस्त और मार्गदर्शक बनूं। इसलिए तो मेरी अपनी ही नौकरी में जो कुछ चुनौतियां आईं मैं उनसे हैरान नहीं थी। आरंभिक जीवन में ही मैंने उन्हें झेलना, उन पर काबू पाना सीख लिया। खेल का मैदान बहुत अच्छा शिक्षक होता है।

मैंने जिंदगी से जो सीखा है उसका सार यही है कि 'तैयारी' ही सफलता का सार और अपना सबसे अच्छा 'बचाव' है। सतत विकास एवं उपलब्धि की जड़ में भी तैयारी ही है। मैंने यह जल्द ही सीख लिया और इसलिए सही परिणाम प्राप्त करने के लिए मैं सही रास्ते पर केंद्रित हो पाती। दरअसल जिंदगी आपके नजरिये पर निर्भर करती है। हम इसे सरल बना सकते हैं या बहुत जटिल। दरअसल यह किसी व्यक्ति विशेष की मनोदशा पर अत्यधिक निर्भर करती है। उसकी प्रतिक्रिया की परिपक्वता पर निर्भर करती है। और यदि वह व्यक्ति स्व-शिक्षा में विश्वास रखता है तो जीवन में निरंतर विकास अवश्यंभावी होता है।

मेरी प्रवृत्तियां, सही या गलत, मेरी परवरिश के परिणाम हैं। दरअसल मेरे परिवार का माहौल अत्यधिक सकारात्मक था। हमने समस्याओं पर भटकने के बदले समाधान पर केंद्रित होना सीखा। मैंने दिन काटने की बजाय, बढ़ते जाना सीखा। मैंने घर पर ही सहजता से समस्या समाधान का गुर सीखा। मेरी मां मेरा आदर्श थीं। पढ़ने की स्वस्थ आदत डाल रखी थी मैंने। खाली समय भी सुनियोजित होता। खेल-कूद नियमित था। अन्य सभी आदतें भी अच्छी थीं; गुपचुप कुछ भी नहीं होता। ये तमाम बातें मेरे छात्र-जीवन की हैं जिन्हें मैंने घर में सीखा। मेरे हिस्से में भी चोट और दुख की घड़ियां आईं। किन्तु, मेरी जागरूकता और चौकन्नेपन ने मुझे आगे की सही कार्यवाही की ओर प्रेरित किया। क्या हो गया, या किसने क्या किया, इस पर मैं ध्यान ही नहीं देती। सबक लिया और आगे बढ़ गई। मैं पलटवार करती, प्रतिक्रिया जताती पर कभी भी खुद को प्रताड़ित नहीं होने दिया। अपनी पूरी जिंदगी में मुझे एक भी वाकया याद नहीं जब मैंने स्वयं को प्रताड़ित होने दिया हो। मुझे जैसे ही इसका आसार नजर आता मैं चौकन्ना हो जाती। यह सदैव खेल के मैदान में रहने वाली बात थी। मैं मैदान में डटी, हमेशा चौकन्ना रहती। बल्कि मैं तो आदतन चौकन्ना ही रहती। एक-एक घटना के प्रति पूर्णतया सजग।

मुझे परिवार का पूरा समर्थन प्राप्त था। मेरे माता-पिता, मेरी बहनें सभी

बहुत अच्छे थे। सब बहुत ही दृढ़-प्रतिज्ञ, प्यार-भरे, निर्लोभ और सुरक्षा देने वाले। साथ ही वे अत्यधिक उदार भी थे। इस प्रकार एक ऐसा खुलापन था जिसमें देखभाल की कमी भी नहीं थी। संकीर्णता नहीं ही थी। मुझे वही दिया जाता जिसकी मुझे जरूरत होती। और मैंने भी कभी भी आवश्यकता से तनिक अधिक की मांग नहीं की। यह वाकई अद्‌भुत बंधन था।

मुझे याद है बचपन में मैं मां को घर पर नहीं पाकर रोया करती। वह यदि मेरे बालों को मेरी मर्जी के अनुसार नहीं संवारती तो रोया करती। अपने मां-बाप से बिछड़ने पर भी रोती। सचमुच मुझे उनसे बहुत लगाव था। मेरी मां को मेरी आवश्यकताओं का पूरा पता होता...वह तदनुसार तन-मन से मेरे पास होती। मां के साथ मेरा लगाव कहीं अधिक था इसलिए वह इस बात से अवगत थी कि मेरी सबसे बड़ी आवश्यकता थी कि उन्हें आसपास देखूं। मैं यदि कुछ पल के लिए भी घर आती, एन सी सी की पोशाक पहनने के लिए ही सही, तो मां उन 15 मिनटों में घर में मेरे आसपास रहती। मैं अन्यथा नहीं रोती... कभी नहीं। हां, मैं रोती भी तब जब मेरे मां-बाप इर्द-गिर्द होते, अन्य लोगों की उपस्थिति में नहीं। उस समय तो मेरे हाव-भाव ही अलग होते। बच्चा मैं सिर्फ घर पर होती, बाहर तो व्यवस्था से ही निपट लेती। यह तो सीमा पर सैनिक, और घर में बच्चा वाली बात थी। मैं सचमुच ऐसी ही थी।

मैं सोचती हूं कि मैं पल-पल फूंक-फूंक कर यात्रा करने के बाद उस मुकाम पर पहुंची हूं, जहां आज हूं। मेरी इस यात्रा की एक-एक चीज नपी-तुली थी पर कभी भी मैंने अकेलापन महसूस नहीं किया। मेरा पूरा परिवार सफर में साथ था। पुलिस सेवा में मैंने भले ही अपने उनतीस वर्ष लगाए हों, पर यह इतना ही नहीं है—इसमें मेरे माता-पिता का जीवन भी लग गया। और फिर मेरी बहनों का योगदान एवं मेरे पति का समर्थन। मेरे पति ने कभी भी मेरे काम में दखल नहीं दिया और न ही कभी परेशान किया। काम के प्रति मेरी एकाग्र प्रतिबद्धता में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। मेरी सास भी अत्यधिक समर्थन देती आई हैं। वे तो मानो मेरी पूजा करती हैं। वस्तुतः मेरी ससुराल के सदस्यों को मेरी वजह से डांट-फटकार भी हो जाती! मेरी सास कहती, "यदि किरण यह कर सकती है तो तुम क्यों नहीं?"

मैं आभूषण के नाम पर सिर्फ एक गहना पहनती हूं... कान की बालियां, जो मेरी सास ने दी थीं। उनका आशीर्वाद हैं और अंत तक मेरे साथ रहेंगी। पर यहां महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि मैं मनोवैज्ञानिक रूप से उन लोगों के समर्थन पर आश्रित नहीं थी। मैं उनके समर्थन का सम्मान करती और उनकी आभारी

थी पर यदि मुझे यह नहीं भी मिलता तो मैं संघर्षरत रहती। निस्संदेह तब मेरा संघर्ष कहीं अधिक कठिन हो जाता। यथार्थतः यह संघर्ष बहुत ही तीखा और प्रत्यक्ष रहा। और इसलिए परिणाम तेजी से सामने आए।

प्रायः सब लोग मेरी चिंता में साथ होते। संभव है उन्हें लगता कि उपलब्धि की मेरी भावना, मेरी खुशी में वे भी कहीं न कहीं थे क्योंकि अंततः तमाम खुशियां वापस घर में ही आतीं। ऐसा भी संभव है कि वे मेरी प्रतिबद्धता में भी खुद को शरीक पाते। यथार्थतः मेरे मां-बाप उनमें शामिल थे... मेरे पति और मेरी ससुराल के लोग भी। मुझे लगता है सभी इस खुशी के अंग थे। ऐसा लगता मानो यह उनसे भी संबद्ध था हालांकि मैं कभी यह नहीं कहती कि यह तुम्हारा है, यह मेरा। पर हर हाल में मेरे साथ खुशियां घर आ जातीं क्योंकि मैं अपने लिए कुछ नहीं रखती। मैं कुछ भी वापस नहीं चाहती। मामला देने का, बांटने का और करने का था। इस स्थिति में मुझे लगता है, विभाजन की कोई रेखा धुंधला जाती है। आप देते हैं या लेते हैं कोई फर्क नहीं रह जाता। पता है यह रेखा क्यों धुंधलाती है क्योंकि सब कुछ मिलकर एक हो जाता है। उदाहरण के लिए पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय में भगवान ही जाने मैं कुछ देती हूं या लेती हूं! किसी संदर्भ में मैं जितनी खुशी बांटती हूं तो दूसरे में उतनी ही पाती हूं। सचमुच भेद की रेखा धुंधला जाती है। मेरे मायके में भी ऐसा ही हुआ। मेरे मां-बाप मुझे अच्छा करते देख हर बार उत्तेजित होते। मेरे पिता टेनिस टूर्नामेंट में मेरे साथ जाते और मेरी मां सामाजिक कार्यक्रमों में मेरे साथ जाती। उनका अंतिम कार्यक्रम मेरे साथ चंडीगढ़ में था जहां मेरी बहन रीता मेरे साथ थी। वहीं पहली बार उन्होंने दो-दो बेटियों को एक ही मंच पर देखा। हम दोनों एक सभा को संबोधित कर रहे थे। मेरी मां स्वयं मेरी तरह रोमांचित थी क्योंकि हम एक मनोवैज्ञानिक (वह भारत के सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिकों में एक है) के रूप में रीता की दक्षता देख रहे थे। उसे बोलने के लिए विशेष आमंत्रण देकर चंडीगढ़ बुलाया गया था। और मैं वहां की पुलिस महानिरीक्षक होने के नाते बोली। मेरी मां अत्यधिक रोमांचित थी... हम नहीं समझ पाए कि यह उनकी अंतिम यात्रा थी।...बाद में मेरी बहन ने कहा कि हम दोनों अब कभी एक मंच पर नहीं जाएंगी। मेरे लिए भी कोई खुशी तब तक खुशी नहीं होती जब तक घर पर नहीं बांटी जाती। मैंने जो कुछ भी अर्जन किया, जो कुछ भी मेरे पास था उस पर सर्वप्रथम मेरे परिवार का हक होता। और यदि किसी को इसके अधिक भाग की जरूरत होती तो उसे मिलती। इस प्रकार का पूर्ण विश्वास और लगाव हमें एक-दूसरे में था। मेरी मां जब तक जीवित रही मुझे इतना भी पता नहीं रहता कि मेरे खाते में

कितना पैसा था। वही मुझे पैसा दिया करती, मेरे लिए बचाया करती। हमारा बंधन कुछ इस प्रकार का था।

जहां तक मेरी नौकरी का मामला है, मैं कहूंगी कि सरकार से जो प्रशिक्षण मुझे मिला वह बहुत अच्छा था। इसने मुझे उस पुलिसिया सांचे में ढाल दिया। पर मजेदार बात यह है कि मैं पहली बार वर्दी नहीं पहन रही थी। मैं पहले ही चार वर्षों तक कैडेट रह चुकी थी। दरअसल अपने कालेज की सर्वश्रेष्ठ कैडेट और एक एशियाई टेनिस चैंपियन भी थी। इस प्रकार मेरा पुलिस प्रशिक्षण एन सी सी में जाने के कई वर्ष बाद हुआ था और मैं चूंकि एन सी सी परेड का नेतृत्व कर चुकी थी सो वर्दी पहनना मेरे लिए नई बात नहीं थी। यों कहें कि किसी प्रतिभागी लड़के से अधिक, चार वर्षों तक मैं कदम-ताल कर चुकी थी। इसलिए मैं जब राष्ट्रीय पुलिस अकादेमी गई तो ऐसी कवायद सीखने की जरूरत नहीं पड़ी। मैं अपने आप कर लेती। लेकिन पुलिस प्रशिक्षण बहुत विशिष्ट था। कानून और घुड़सवारी में भी प्रशिक्षण दिया गया। प्रशिक्षण के दौर की संमाप्ति पर जब मेरे पति बृज, अपने 8 मि.मी. कैमरे के साथ फोटोग्राफी के लिए माउंट आबू आए तो मैंने उनके लिए घुड़सवारी की। इसका अंतिम चरण बहुत ही नाटकीय रहा : मेरे घोड़े ने जैसे ही बाधा पार की मैं गिर गई और ठीक उसी पल बृज के कैमरे की रील समाप्त हो गई। वस्तुतः जब मैं हवा में थी उसी क्षण ऐसा हुआ। हमारे जमाने में घुड़सवारी पुलिस प्रशिक्षण का सबसे मजेदार पक्ष होती—घोड़े प्रशिक्षुओं को ले हवा से बातें करने लगते और बेचारे प्रशिक्षु उनसे चिपके होते। आज भी हम याद करते हैं कि किस का घोड़ा बेलगाम हो गया! अब हम सब वृद्धावस्था में हैं; हमारे बाल सफेद हो गए हैं फिर भी सब कुछ याद है। सभी अधिकारियों की स्मृतियां समान हैं, फर्क सिर्फ इतना था कि मैं अकेली लड़की थी वहां।

क्या मुझे अकेलापन सताता? हरगिज नहीं! मुझे तो खूब मजा आ रहा था। मैं पहले ही शादीशुदा थी और इसलिए भावनात्मक रूप से सुरक्षित भी। मैं सचमुच बहुत खुश थी। मेरे सहपाठी मेरे अच्छे मित्र थे। मुझे चुनौतियां स्वीकार करने का शौक था। मैं चाहती तो अपने पेशे में अपनी बहुत ऊर्जा बचा सकती थी। संभव है वह ऊर्जा मैं कुछ और सीखने की एक पूरी प्रक्रिया में लगा देती। उसे अग्नि परीक्षा में झोंक देती। पर वहां अग्नि परीक्षा वाली कोई बात होती तब तो! इस प्रकार मेरे कैरियर में कई ऐसे अवसर आए, जिनसे मुंह मोड़ा जा सकता था। पर वे मेरे लिए मददगार साबित हुए। उन अवसरों पर मेरी सहनशीलता, मेरी शारीरिक क्षमता, और उस दिन, उस पल सबसे अच्छा प्रदर्शन करने की क्षमता की परख होती। हालांकि मेरे कुछ वरिष्ठ अधिकारी यदि चाहते तो वैसे

अवांछनीय अवसरों को टाला जा सकता था। मिजोरम की घटना भी टाली जा सकती थी। यह बात और कि उनसे मेरा आध्यात्मिक विकास होता रहा। जेल में मेरी नियुक्ति के दौरान हुई घटनाएं; या नौ महीनों तक बिना किसी पद के समय व्यतीत करना—यह सब भी मेरी नजर में सीखने की ही प्रक्रिया थी। और चूंकि मेरी प्रवृत्ति रही कि हर परिस्थिति में सकारात्मक बिंदु की तलाश करूं सो मैंने हर कठिन घड़ी का भी किसी न किसी रूप में लाभ उठाया।

मैं कठोर परिश्रम से नहीं घबराती। पर मेरी मां की अनुपस्थिति मुझे सताती है। मुझे लगता है यह मेरे लिए अपूरणीय क्षति है। मिजोरम में मेरे पिता भयानक बीमारी के दौर से गुजरे। यथार्थतः मैं जब कभी दिल्ली से बाहर नियुक्त हुई तो मेरे परिवार के ही किसी न किसी सदस्य को बीमारी का सामना करना पड़ा। मिजोरम के दिनों पिता, चंडीगढ़ में मां, और गोवा जाने पर बेटी की बारी थी। वे बहुत अधिक हताश हो गए थे और वे घड़ियां मेरे लिए सचमुच बेचैनी की थीं। लेकिन जहां तक मेरे पेशे का सवाल है मैं सदैव नियंत्रण बनाए रखती। मुझे लगता संप्रेषण की मेरी क्षमता, काम में मेरी निजी रुचि, समस्या समाधान, सहभागी प्रवृत्ति, व्यवस्थित कार्यशैली, पारदर्शिता, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, निरंतर आंतरिक परीक्षण, कार्य प्रदर्शन का सामाजिक परीक्षण, निरंतर समीक्षा, सहकर्मियों से सीख लेना, और यह देखना कि वह कितना कारगर है, निरंतर सुधार, नई खोज, सृजनशीलता, चुनौती लेना, यह देखना कि अगली चुनौती क्या है, कहां तक है और कितना कठिन आदि, आदि मेरे सबल पक्ष हैं। मेरी कमजोरियों में एक है किसी पर पूर्ण विश्वास करना। और विश्वासघात होने पर मैं सर्वाधिक आहत होती हूं। पर संयोगवश ऐसा कम ही होता है।

मैं अपना आपा खो बैठती हूं। और डांट-फटकार कर सकती हूं—डांटती हूं! लेकिन इसका खास लक्ष्य होता है। मैं ऐसा किसी मकसद से करती हूं, न कि आपा खो बैठने की वजह से। इसके पीछे तर्क होता है। यह असर करता है और इसका प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी गुस्सा जताना पड़ता है। पर मैं बस उतना करती हूं, अधिक नहीं। यह दूसरों की भलाई में होती है।

आने वाली पीढ़ी के लिए मेरी आकांक्षा है कि वह मूल्यों को माने, उसमें दृढ़ विश्वास रखे। लोग चरित्रवान हों। अंदर से खुश लोग हों, उदार प्रकृति के। एक राष्ट्र के लिए भी मेरी यही कामना है। चरित्रवान, सृजनशील और उदार लोगों से बना राष्ट्र। मैं समझती हूं एक बार उस मुकाम पर पहुंच जाने के बाद सब कुछ अपने आप ठीक हो जाएगा। मैं वह नई पीढ़ी देखना चाहूंगी जो संतुलित जीवन में विश्वास करेगी—सिर्फ आवश्यकतानुसार मांग करेगी। अच्छी तरह

पढ़े-लिखे लोग, सृजनशील लोग होने चाहिए जो आध्यात्मिक रुचि भी रखें और संवेदनशील रहें। लेकिन हमारी शिक्षा व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से ये गुण प्रदान नहीं करती और आध्यात्मिक रूप से तो अनुर्वर है। यह मानसिक उत्प्रेरण नहीं देती और न ही रचनात्मक सोच पर बल देती है। यह तो आपको सिर्फ एक नौकरी के योग्य बनाती है जिसमें आपको कुछ पैसे मिलते हैं। अन्य शब्दों में यह येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाने का जरिया है न कि किसी प्रकार की रचनात्मकता। यथार्थतः हमारी शिक्षा व्यवस्था कतई यह नहीं सिखाती कि हर काम का कोई उद्देश्य होता है, और पैसा कमाना तो इसका एक अंग मात्र है। दरअसल उद्देश्य तो है उस समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति, हम जिसके सदस्य हैं।

सपने? सपनों का अर्थ यदि भ्रांति हो तो मेरा एक भी स्वप्न नहीं है। मैं कठोर श्रम करती हूं और गहरी नींद, स्वप्न रहित, सोती हूं। पर दिन के एक-एक पल में मैं जीवंत रहती हूं। और इस प्रकृति के लिए मैं अपने मां-बाप के आशीर्वाद एवं उनकी प्रतिबद्धता की आभारी हूं। लोग यदि मुझे किसी रूप में याद रखना चाहते हैं तो वह उस व्यक्ति के रूप में रखें जो मेरे मां-बाप की परवरिश के लायक था।

(लवलीन थडाणी को दिए गए साक्षात्कार के आधार पर)

रुथ मनोरमा *(जन्म : 1952) एक समाज सेविका हैं और मानवाधिकारों के लिए कार्य करती हैं। वे समाज के गरीब वर्गों, असंगठित श्रम क्षेत्र और दलित वर्ग की महिलाओं से संबद्ध मुद्दों में गहरी पैठ और दिलचस्पी रखती हैं। वे सामाजिक न्याय के विभिन्न मुद्दों को जिस उत्साह और आवेश के साथ उठाती हैं वह जग-जाहिर है। अपनी सघन सांगठिनक शक्ति के लिए भी वे प्रसिद्ध हैं। वर्तमान में रुथ मनोरमा 'नेशनल अलायंस ऑफ वीमेन' की अध्यक्षा; 'वीमेंस वॉयस' की महासचिव; और 'राष्ट्रीय दलित महिला संघ' की राष्ट्रीय संयोजिका हैं।*

16

सामाजिक समता के लिए

रुथ मनोरमा

मैं 1950 और '60 के दशक में पली-बढ़ी, जब पूरी दुनिया में परिवर्तन की आंधी चल रही थी। भारतवर्ष उन दिनों अपनी 'भाग्य से भेंट' (ट्राइस्ट विद डेस्टिनी) के असर को जानने की कोशिश कर रहा था और अब तक छिपे विकास के नए पथ पर अग्रसर हो गया था। नौजवान नए राजनीतिक आदर्शों को लेकर उधेड़-बुन में थे। वातावरण उम्मीद की किरणों से उज्ज्वल था। और भय की कड़वाहट भी व्याप्त थी। सत्तर के दशक में महिला (खासकर शहरी) आंदोलन का विकास हुआ पर महिलाओं के लिए संघर्ष कोई नई बात नहीं थी। ग्रामीण क्षेत्रों में भी, भारत के कई भागों में, महिलाएं इस संघर्ष से पूर्व परिचित थीं। स्वतंत्रता से पूर्व तेलंगाना एवं तेभागा आंदोलन, मध्य भारत में जनजातीय विद्रोह, महाराष्ट्र में मूल्य वृद्धि के विरुद्ध विद्रोह, शहरी इलाकों में दहेज-विरोधी आंदोलन, और इन सबसे तनिक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं, मथुरा बलात्कार मामले में दिए गए निर्णय के विरुद्ध संघर्ष ने यह साबित कर दिया कि भारत की महिलाएं अरसों से चुपचाप पीड़ित भारतीय नारी नहीं रहीं। वर्ष 1975 को अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष और फिर अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक घोषित करने से भारतीय नारी की दशा समझने में बहुत सहायता मिली। बड़ी संख्या में शिक्षाविद्, राजनीतिक विचारक और समाजसेवक महिला संबद्ध मुद्दों पर सोचने और काम करने के लिए आकृष्ट हुए। साथ ही दलित चेतना भी बढ़ रही थी। दूसरे स्तर पर सामाजिक क्षेत्र में कार्यरत कई समूहों ने सामाजिक गतिविधि को अपना मूल उद्देश्य बना लिया। मैं विचारों एवं गतिविधियों की इन तमाम धाराओं के प्रभाव से नहीं बच पाई।

पहले चेटपेट, तब मद्रास के एक कस्बे का इलाका। हमारा विशाल परिवार इसी क्षेत्र के अंदर और इर्द-गिर्द घूमता रहा। मेरी मां नारी शिक्षा में इतनी गहरी रुचि रखती थी कि स्कूल जाने के प्रति मेरे पिता की रूढ़िवादी विचारों के बावजूद वह अंततः एक शिक्षिका बन गई। वह किशोरावस्था में ही ईसाई बन गई थी।

पंडिता रामाबाई की तो वह इतनी बड़ी प्रशंसक थी कि अपनी सबसे बड़ी बेटी का नाम पंडिता रामाबाई के नाम पर रखा। मेरा दूसरा नाम मनोरमा पड़ा। मेरे पिता ने गरीब गांववासियों को आंदोलित किया। उन्हें अपने इलाके में सफलतापूर्वक संघर्ष करने के लिए कहा ताकि उन्हें उन जमीनों पर मालिकाना अधिकार मिले जिन पर वे पीढ़ियों से बसे थे। डाक-तार विभाग में सेवारत मेरे पिता और माध्यमिक विद्यालय में शिक्षिका मेरी मां ने अपनी सभी बेटियों को प्रेरित किया कि वे पढ़ें, कार्यवृत्ति चुनें, आत्मनिर्भर बनें और जिस दलित समुदाय से वे संबद्ध हैं उसके समक्ष आदर्श बनें। मेरे माता-पिता का एक खुला दरबार था जिसमें कोई भी जरूरतमंद आ सकता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान में उनकी गहरी और व्यावहारिक आस्था, कठिन परिश्रम, न्याय के सिद्धांत, आत्मसम्मान और गरीबों के प्रति सेवा भाव मेरे लिए सबसे बड़े प्रेरणास्रोत थे।

हमें स्थानीय स्कूलों एवं कालेजों में दाखिला लेने में सफलता मिली थी। वीमेंस क्रिश्चियन कालेज, चेन्नई से विज्ञान में स्नातक की उपाधि लेने के बाद मुझे *'सॉल डे' अलिंस्की* की प्रविधि' से सामुदायिक संगठन का प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु भेज दिया गया। मैं उधर क्षेत्र में कार्य कर रही थी इधर मेरे पिता को स्टेला मैरिस कॉलेज, चेन्नई में सामाजिक कार्य में स्नातकोत्तर के बारे में पता चला और उन्होंने मेरी ओर से आवेदन कर दिया। वे बहुत उत्सुक थे कि मैं अच्छी तरह स्नातकोत्तर या कोई व्यावसायिक पढ़ाई पूरी करूं। मैं चूंकि पहले से कार्यरत थी सो स्नातकोत्तर में बहुत रुचि नहीं रखती थी। साक्षात्कार के लिए जब बुलावा आया तो मैं दक्षिणी तमिलनाडु के किसी गांव में थी। मेरी मां कालेज गई और विभागाध्यक्ष, फिलिपिंस की एक नन, से मिली और उनसे एक नई तारीख देने का आग्रह किया। उन्होंने मेरे काम के बारे में विभागाध्यक्ष को बताया। यह सुनकर उन्होंने कहा कि मेरे लिए साक्षात्कार में उपस्थिति अनिवार्य नहीं रही--मैं उसके बिना ही चुनी जा चुकी थी! मेरे पिताजी ने मुझे बुलाया और कालेज की फीस थमा दी। उस सत्र के लिए 650 रुपए देकर कालेज भेज दिया। मैं कुछ दिनों तक टाल-मटोल करती रही। रुपया मेरे रुमाल में बंधा रहा। एक दिन शुल्क जमा करने के लिए स्टेला मैरिस कालेज से डाक द्वारा एक पुनर्सूचना आई। उसे फटाफट पिताजी की नजरों से छिपा दिया, शुल्क जमा करने भागी और सत्र में शामिल हो गई।

स्नातकोत्तर के बाद मैंने एक वर्ष के लिए चेन्नई के एक स्वयंसेवी संगठन में काम किया। उन दिनों चुनाव हो रहे थे इसलिए लोगों को कुछ राजनीतिक शिक्षा देने का अच्छा अवसर मिला। ठीक उसी बीच अचानक आई बाढ़ ने सायदापेट

में बसी विशाल झुग्गी बस्ती, धिधिर नगर को पूरी तरह जल मग्न कर दिया। मैं वहीं कार्यरत थी। वहां मेरा सबसे पहला लक्ष्य था निवासियों को शिक्षा और आवास प्रदान करना। हम पूरी बस्ती को फिर से बसाने में सफल रहे थे। साथ ही जमीन के स्तर को ऊंचा उठवा दिया और सुविधाएं बढ़वा दी थीं ताकि आने वाली हर बाढ़ से बचा जा सके। मेरी अगली नियुक्ति 'ग्रेल' में हुई। यह महिलाओं का अंतर्राष्ट्रीय संगठन था। मेरा मुख्यालय बंगलोर में था जबकि इसकी परियोजनाएं दक्षिण भारत में फैली थीं। इसमें पूरे समुदाय एवं क्षेत्र के कार्यकर्ताओं के लिए शिक्षा एवं सामुदायिक विकास प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम तैयार करना था। मैं इन परिस्थितियों में पाउलो फ्रेयरे की 'विवेकीकरण प्रविधि' उपयोग में लाती।

पांच वर्ष नौकरी करने के बाद मैंने निर्णय लिया कि कुछ निजी काम करना अनिवार्य था। मेरी यह पक्की धारणा थी कि हाशिए पर जी रहे लोगों को संगठित किया जा सकता था और इस प्रकार वे अपने अधिकारों के लिए लड़ सकते थे। इस प्रकार 'वीमेंस वॉयस' की स्थापना हुई। बंगलोर की झुग्गियों में रहने वाली महिलाओं की आवश्यकताओं के मद्देनजर हमने सन् 1985 में काम शुरू किया और शहरी गरीबों की स्वास्थ्य, आवास और अन्य आवश्यकताओं पर काम करते रहे। शहरी क्षेत्रों में कामगार महिलाओं, अधिसंख्य घरेलू कार्यों में लगीं, की दुर्दशा देख हमने देश में पहली बार ट्रेड यूनियन ऐक्ट के अधीन एक ट्रेड यूनियन के रूप में बंगलोर गृहकर्मिकारा संघ का पंजीकरण करवाया। ट्रेड यूनियन के मामले में मैं राष्ट्रीय श्रम संगठन (एन सी एल) से भी अच्छी तरह जुड़ी हूं। यह देश का सबसे पुराना और सर्वोच्च संगठन है जो असंगठित क्षेत्र में कार्यरत लोगों के हितों की रक्षा करता है। गृहकर्मिकारा संघ राष्ट्रीय श्रम संगठन का ही एक अंग है। मैं इसके सचिवों में एक हूं।

सन् 1988 के उत्तरार्द्ध में मैं देश भर के स्वयं-सेवी संगठनों के नेताओं की एक बैठक में शामिल थी। इस बैठक का उद्देश्य था महिला विकास से संबद्ध परिकल्पनाओं में पारदर्शिता लाना, स्वयं-सेवी संगठनों की गतिविधियों के सबल और कमजोर पक्षों की चर्चा करना, और महिला विकास में लाभदायक हस्तक्षेप की रणनीतियों को तैयार करना। निष्कर्ष यह निकला कि दृष्टि, कार्यक्रम, आंतरिक संगठन और कार्यविधि के स्तर पर सहायता की आवश्यकता थी। सन् 1989 में हम लोगों ने मिलकर 'इनिशिएटिव : वीमेन इन डेवलपमेंट (आइ डब्ल्यू आइ डी)' की शुरुआत की। इसमें ज्योत्स्ना चटर्जी, हरि जॉन, अन्त्या मदियाथ, शोभा शकरवाड़े, मार्था पुष्पारानी और मैं स्वयं शामिल थी। आज आइ डब्ल्यू आइ डी महिलाओं के विकास प्रशिक्षण संस्थानों में एक प्रमुख स्वयं-सेवी संगठन के रूप

में स्थापित है। इसने विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं की वकालत, उनके हित के लिए संघर्ष और उनके सशक्तीकरण का काम किया है। कई नीति विषयक प्रयासों में भी इसकी भूमिका रही है और मैं इससे निरंतर सक्रियता से जुड़ी रही हूं।

वर्ष 1986 में मुझसे अमेरिका में रहने वाले अफ्रीकी-अमेरिकियों और भारत के दलितों के मद्देनजर एक सांस्कृतिक अध्ययन करने को कहा गया। निस्संदेह मेरी भी इसमें रुचि थी कि अमेरिका में रहने वाली काली महिलाओं के जीवन का अध्ययन करूं और भारत की दलित महिलाओं, अस्पृश्यों की दशा से उनकी तुलना करूं। इस अध्ययन से मुझे यह देखने की दृष्टि मिली कि किस प्रकार कई मुद्दों के समान रहने के बावजूद समाज के हाशिए पर खड़े लोगों से संबद्ध मुद्दे मौलिक रूप से भिन्न थे। इन्हीं दिनों ईसाई दलित मुक्ति का काम, और दलित अध्ययन जोरों पर था। भारत में महिलाओं की स्थिति, खासकर दलित समाज के अंदर अत्यधिक अनिश्चिततापूर्ण थी। उन्हें अपनी विभिन्न स्थितियों के लिए मार झेलनी पड़ती—महिला, दलित, गरीब और पूर्णतया तिरस्कृत। यही कारण है कि मैं उन्हें दलितों में दलित कहती हूं। मैं अब यह भी समझती हूं कि एक विशाल क्षेत्र की बड़ी आबादी को प्रभावित करने वाली सामाजिक संरचना से संबद्ध मुद्दों को उठाने के लिए बड़े जनाधार वाले संगठनों की अत्यावश्यकता थी। मैं पहली एशियाई महिला मानवाधिकार परिषद के आंतरिक संगठन की सदस्या के रूप में जुड़ी थी, और सन् 1993 में मैंने बंगलोर में दलित महिलाओं के विरुद्ध अत्याचार पर जन-सुनवाई आयोजित की। राष्ट्रीय दलित महिला परिसंघ उसी की देन है।

वर्ष 1994 में भारत के स्वयं-सेवी संगठनों ने निर्णय लिया कि बड़ी संख्या में भारतीय महिलाओं को आंदोलित करने जरूरत है ताकि अगले वर्ष सन् 1995 में बीजिंग में होने वाले चौथे संयुक्त राष्ट्र विश्व महिला सम्मेलन में उनकी सार्थक भागीदारी हो। चंद सहानुभूतिपूर्ण द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय दाताओं की मदद से एक समूह का गठन किया गया जो इस प्रक्रिया को सुचारु बनाती। दिल्ली में एक समन्वय समिति गठित की गई। इसमें इस क्षेत्र की विशेषज्ञ एवं अन्य महिलाएं शामिल थीं जो महिला मुद्दों पर जमीनी स्तर से काम कर रही थीं। इस सलाहकार समिति में मैं भी थी। इसमें भारत के सभी भागों के प्रतिनिधि थे। इसकी मुख्य भूमिका थी उक्त सम्मेलन के बारे में सूचना प्रसारण, जमीनी स्तर पर कार्यरत महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा, उनकी समस्याओं एवं आकांक्षाओं पर विचार और उनके अनुभवों का संग्रह। इन तमाम बातों को लेकर मसौदा बनाया जाता जो न सिर्फ मुख्य सम्मेलन के लिए होता बल्कि हुवैरू में आयोजित स्वयं-सेवी

मंच में भी काम आता। कथित मंच एवं सरकारी सम्मेलन की अवधि लगभग एक ही थी।

हम लोगों में कुछ को लगा कि एक ऐसी ही समन्वय समिति दक्षिण भारत में हो। हमें लगा कि आसान यह होगा कि हम समूहों एवं संस्थाओं के पास पहुंचें। इस प्रकार क्षेत्र से निकटता एवं स्थानीय भाषाओं से हमारा परिचय हमें अधिक प्रभावी बनाता। समन्वय समिति, बंगलोर इसी का परिणाम थी। यह भारतीय सामाजिक संस्थान, बंगलोर से काम करने लगी।

सही हो या गलत, भारत में नारी आंदोलन की मूल छवि एक शहरी, शिक्षित, सवर्ण और सबल रूप में है। राजनीतिक पार्टी-पोषित महिला संगठन के साथ-साथ विशुद्ध स्वयं-सेवी महिला संगठन और युवा ईसाई महिला संगठन (एक सेवारत संगठन) सभी ने सरकार के समक्ष महिला मुद्दों को रखने और अपेक्षित सफलता पाने के लिए बहुत अच्छा काम किया है। ऐसे ही संगठनों के मुख्यालय दिल्ली में हैं और इसके परिणामस्वरूप इनकी 'राष्ट्रीय' छवि है। पर मुझे इसकी पक्की जानकारी नहीं है कि उनके वक्तव्यों में किस हद तक दलित और हाशिए पर बैठे लोगों की बातों को रखा गया। हालांकि पीड़ित लोग बकायदा अपना नेतृत्व कर ही रहे हैं और आवाज भी बुलंद कर रहे हैं। पर एक तथ्य यह भी है कि दक्षिण भारत की महिलाएं पूर्ण भागीदारी नहीं कर सकी हैं क्योंकि उनके लिए दूरी और भाषाई दीवार बाधास्वरूप हैं। इस सिलसिले में मैंने जोर देकर कहा कि दस्तावेजों का अनुवाद, तब वितरण और फिर प्रभावी ढंग से विचार हो सकता था। और यदि दक्षिण भारत में समन्वय हेतु कोई संस्था होती तो इन गतिविधियों का परिणाम केंद्र सरकार को बताया जा सकता था। सचमुच आप अनुभव से ही समझते हैं कि 'ज्ञान बड़ी शक्ति है।'

इसके परिणामस्वरूप दक्षिण भारत से निम्नतम तबके की महिलाओं का सबसे बड़ा जत्था 'प्रतिबद्धता सम्मेलन' में भाग लेने के लिए दिल्ली पहुंचा। महिलाओं का यह हुजूम केंद्र सरकार से नीतिगत निर्णयों की मांग कर रहा था जिससे महिलाओं के जीवन पर सकारात्मक असर पड़ता। इनमें से बड़ी तादाद में महिलाएं बीजिंग गईं। वहां उन्हें चौथे संयुक्त राष्ट्र विश्व महिला सम्मेलन में भाग लेना था, हक की बात मनवानी थी और सम्मेलन को सफल और महत्त्वपूर्ण बनाना था। भारत वापसी के बाद सलाहकार समिति की बैठक हुई जिसमें यह निर्णय करना था कि इस आंदोलन के लाभ को किस तरह आगे बढ़ाया जाए। दिसंबर 1995 में हैदराबाद में उन महिलाओं की एक विशाल बैठक हुई जो बीजिंग सम्मेलन के पूर्व और पश्चात् की गतिविधियों में संलग्न थीं। इस सम्मेलन में

निर्णय हुआ था कि 'कार्य दल' की दस क्षेत्रीय सदस्या एकजुट होकर राष्ट्रीय महिला संघ (एन ए डब्लू ओ) के रूप में अग्रसर होंगी। बैठक में यह भी निर्णय हुआ कि मैं इसकी अध्यक्षा बनूंगी। इस बैठक का महत्त्व यह था कि एन ए डब्लू ओ (नावो) प्रथम वैधानिक स्वायत्त राष्ट्रीय मंच बना, जहां पूरे देश—उत्तर, उत्तर-पूर्व, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण—की निम्नतम तबके की, हाशिए पर जीवन-यापन करने वाली महिलाओं की समस्याओं को स्वर दिया गया।

अपनी स्थापना के बाद से 'नावो' महत्त्वपूर्ण नीतिगत मुद्दों पर कार्य कर रहा है। मैं स्वयं गरीब-दुखिया महिलाओं की चिंताएं अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर रखने के अतिरिक्त राष्ट्र स्तर पर नीति और योजना बनाने में योगदान करती रही हूं। हमने न्यायपालिका, न्यायाधीश, कानूनवेत्ता एवं न्यायिक अधिकारियों अर्थात न्यायपालिका के विभिन्न अंगों के लिए 'महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव की समाप्ति हेतु सम्मेलन' (सी ई डी ए डब्लू) सदृश कई प्रशिक्षण कार्यक्रमों का अयोजन किया। व्यक्तिगत रूप से मैं कर्नाटक राज्य योजना समिति की सदस्या हूं और वर्तमान में 10वीं पंच वर्षीय योजना के महिला सशक्तीकरण कार्यदल समूह में भी शामिल हूं।

रंग और नस्ल भेद के मुद्दों के प्रति मेरी रुचि निरंतर बनी रही है। ऐसा सिर्फ इसलिए नहीं कि मैं दलित मुद्दों से जुड़ी हूं बल्कि पश्चिम में काली महिलाओं के मुद्दों पर मैं पहले से ही सजग रही हूं। अतः यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं वर्ष 2001 में डरबन में आयोजित 'नस्लवाद के विरुद्ध विश्व सम्मेलन' में भाग लेने के लिए अत्यधिक इच्छुक थी। इस प्रकार का यह तीसरा सम्मेलन था। वैसे भी राष्ट्रीय दलित महिला परिसंघ की संस्थापिका-सदस्या और दलित 'मानवाधिकार अभियान' की एक संयोजिका के रूप में मैं वर्ष 1988 से दलितों के मानवाधिकार संबंधी मुद्दों को उजागर करती रही हूं। कथित परिसंघ की स्थापना स्वातंत्र्योत्तर महिला आंदोलन के क्रम में दलित महिलाओं के एक राष्ट्रीय मंच के रूप में की गई थी। इस प्रकार डरबन सम्मेलन, 2001 के लिए अधिक-से-अधिक दलितों को आंदोलित करने में मेरी भागीदारी महत्त्वपूर्ण थी।

राष्ट्रीय दलित महिला परिसंघ की अपनी एक अलग विशेषता है क्योंकि यह जाति, वर्ग और लैंगिक उत्पीड़न की एक ऐसी सांस्थानिक पृष्ठभूमि में अवस्थित है जिसकी जड़ें राजनीति और हमारे समाज में अंदर तक हैं। मैं इस मुद्दे पर लंबी बात करना चाहूंगी। संयुक्त राष्ट्र की अनगिनत संस्थाओं ने भारत सरकार से आग्रह किया है कि दलितों की दशा में सुधार करे। 'नस्लवादी भेदभाव के सभी रूपों के निर्मूलीकरण' पर बनी संयुक्त राष्ट्र समिति ने कहा है कि "दलित

भेदभाव निर्मूलीकरण के उक्त कार्यक्रम के अंतर्गत आते हैं। 'उत्पत्ति' शब्द का संबंध सिर्फ नस्ल से नहीं है बल्कि इसमें दलितों की दशा भी अंतर्निहित है।" हालांकि हम यह देखकर हताश (आश्चर्यचकित नहीं) थे कि नस्लवाद के विरुद्ध विश्व सम्मेलन (डब्लू सी ए आर) में भारतीय स्वयं-सेवी संगठनों द्वारा जाति के मुद्दों को उछालने के हर प्रयास को कुचलने के लिए भारतीय सरकारी शिष्ट मंडल अपने तमाम राजनयिकों, राजनीतिज्ञों, प्रशासनिक अधिकारियों एवं शिक्षाविदों के साथ जोर-शोर से जुटा था और उसे सफलता भी मिली थी। स्वयं-सेवी संगठन कार्य योजना के मसौदे से अनुच्छेद 73 को भी हटाने की मांग कर रहे थे। यह कार्य या उत्पत्ति अर्थात जाति के आधार पर भेदभाव से संबद्ध है। पर हमें यह संतोष और खुशी है कि इन असफलताओं के बावजूद आज पूरी दुनिया, जाति आधारित भेदभाव के विभिन्न पहलुओं से भलीभांति अवगत हो गई है। आज दुनिया जानती है कि किस प्रकार यह भेदभाव हमारे दैनिक जीवन, हमारी छवि, हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य को प्रभावित करता है। हमारे समाज में फैलते इस गहरे और रिसते घाव को जिस प्रकार ढँकने का प्रयास हमारी सरकार ने किया है उससे विश्व समुदाय के सामने उसकी पोल खुल गई है। दलितों के मुद्दे और जातिगत भेदभाव अपने सभी रूपों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली मानवाधिकार चर्चाओं में महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। दलित आंदोलन की यह एक बड़ी उपलब्धि है। सही मायनों में यह भारत के महान सपूतों में एक डा. भीमराव अंबेडकर को सच्ची श्रद्धांजलि है।

मैं अपने काम का सिंहावलोकन संतोष के साथ करती हूं। साथ ही यह सोच भी रहती है कि कितना काम करना शेष है। मैंने जीवनपर्यंत यही प्रयास किया है कि मेरी जिंदगी हर प्रकार की हिंसा, जाति, सामुदायिक और लैंगिक भेदभाव के विरुद्ध एक संघर्ष हो। मुझे लगता है बहुत से गरीबों, हाशिए पर खड़े लोगों और असंगठित श्रम के क्षेत्रों में किसी हद तक गुणात्मक सुधार हुआ है। वैश्वीकरण के बुरे परिणामों से किसी सीमा तक उनके हितों की रक्षा हुई है। मेरा सतत प्रयास यह भी रहा है कि सांप्रदायिक एवं फासीवादी ताकतों के विरुद्ध भारत के धर्मनिरपेक्ष और प्रजातांत्रिक ताने-बाने को सुरक्षित रखूं।

जहां तक उपलब्धियों का सवाल है, मुझे लगता है मैंने शहर के गरीबों, विशेषतः असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों, के लिए संबद्ध लोगों का संगठन बनाया। इसके अतिरिक्त महिला सशक्तीकरण, खासकर दलित महिलाओं पर केंद्रित, के लिए काम किया और इसके मद्देनजर क्षेत्रीय एवं वैश्विक प्रयासों में साम्य स्थापित करवाने का प्रयास किया। मैंने सामाजिक न्याय के जिन मुद्दों पर अडिग

निर्णय लिया उसे जनसाधारण, सरकार और सत्ता के लोगों समेत सभी ने मान्यता दी है।

मेरा घर मित्रों, कार्यकर्ताओं, विचारकों, विकासकर्मियों, मजदूर संघ के कार्यकर्ताओं और गरीबों का अड्डा रहा है। मेरे परिवार के सदस्य—मेरे पति पाक्किरी सामी, मेरी दो प्यारी बेटियां वंदना (20 वर्ष) एवं प्रियंका (13 वर्ष) मुझे बहुत प्रिय हैं। मेरे पति मेरे सहकर्मी भी हैं। वे मेरी हर लड़ाई में मेरा साथ देते और समर्थन करते हैं। वस्तुतः हम दोनों कई मुद्दों पर मिलकर काम करते हैं। मेरी बेटियों ने भी मेरे 'समय' और 'उपस्थिति' पर अपना दावा जताए बिना मुझे सहयोग दिया है। इसके बावजूद मैंने अपने काम में भयानक चुनौतियां झेली हैं। सबसे बड़ी चुनौती है सभी स्तरों पर एक ही भ्रष्टाचार, उदासीनता आदि से लड़ना। राज्य में ही यह समस्या सर्वाधिक है। यह काम थका देने वाला होता है और आपकी ऊर्जा को सोख लेता है। मैं ऐसी प्रवृत्तियों से जमकर लोहा लेती हूं और सफलता भी हाथ लगती है। परिवर्तन की गति धीमी है पर मैं इतना जरूर कहूंगी कि लोगों के वर्षों का संगठित प्रयास रंग दिखाने लगा है। हम सरकार को जनता के प्रति अधिक जागरूक एवं उत्तरदायी बनाने में सफल रहे हैं।

दीन-हीनों, खासकर सहकर्मी महिलाओं, का कठोर श्रम और उत्साह मुझे प्रेरित करते हैं और चुनौती देते हैं कि मैं अपने काम में अग्रसर रहूं। मैं जब कभी हतोत्साहित होती हूं तो परिवार एवं समाज के प्रति उनके समर्पण की एक झलक मुझे नए उत्साह से भर देते हैं। गरीबों की क्षमता में मुझे अत्यधिक विश्वास है—वे न सिर्फ अपनी जिंदगी का कायापलट कर सकते हैं बल्कि एक न्यायपूर्ण, मानवीय और प्रजातांत्रिक समाज भी बना सकते हैं। और मुझे लगता है कि मेरे सदृश सक्रिय कार्यकर्ता अपने-अपने तरीकों से उन लोगों के लिए प्रजातांत्रिक माहौल और अवसर जुटाते रहते हैं। लेकिन अंततः लोग तो यही कहेंगे कि "हमने स्वयं इसे किया है।"

वे कौन-से खतरे हैं जो मुझे सामने नजर आते हैं? मेरी राय में कई हैं।

* वैश्वीकरण और उसके परिणामों का गरीब महिलाओं पर असर। दक्षिण एशिया में शस्त्रों का जमावड़ा। दुनिया के निर्धनतम क्षेत्र होने के बावजूद दक्षिण एशिया की सरकारों ने मानव विकास में लगने वाले अल्प साधनों को भी सुरक्षा और प्रतिरक्षा के सौदों में लगा दिया ताकि झड़प, आतंकवाद और युद्ध से निपटा जा सके।
* हमारे देश में फैलते युद्ध, असहिष्णुता और हिंसा की संस्कृति जो सौहार्दपूर्ण सामाजिक संबंधों और संवाद की लंबी परंपरा को विस्थापित

कर रही है।

* उपभोक्तावाद की संस्कृति का विकास। इससे हाशिए पर गुजर करने वाले वर्ग धीरे-धीरे मुख्य धारा से दूर होते चले जाएंगे, उनके श्रम का अवमूल्यन होगा। उनका शोषण होगा और घोर हताशा बढ़ेगी।
* महिला संसाधनों और उनकी क्षमताओं को नजरअंदाज करना। हमें संसद में एक-तिहाई आरक्षण नहीं दिया जाना, जिससे राष्ट्र निर्माण में हमारे महत्त्वपूर्ण योगदान गौण हो रहे हैं।
* पर मेरी नजर में सबसे गंभीर मामला यह है कि भारतीय राजनीति संवैधानिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है।

हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए मेरा एक दर्शन है : उन्हें हमारे राष्ट्र के मौलिक मूल्यों के प्रति पुनः समर्पित होना चाहिए। भारत के समाज-निर्माण के बृहत्तर लक्ष्यों के लिए बने आदर्श, मूल्य और प्रतिबद्धता जो हमारी स्वाधीनता संग्राम की धरोहर रहे हैं, एक बार फिर उन लोगों के दिलों एवं जीवन में अनुगुंजित होने चाहिए। उन्हें महान दर्शन—समानता, न्याय और शांति के दर्शन—के साथ ऊपर उठना होगा। उन्हें हमारे समाज परिवर्तन का कर्णधार बनाना होगा। हमारी राजनीति और बृहत्तर विश्व व्यवस्था में परिवर्तन का साधन बनना होगा। नावो में हम युवा महिलाओं में नेतृत्व के गुण विकसित करने में लगे हैं। उन्हें हर एक निर्णायक क्षेत्र में शामिल करने के लिए हर संभव प्रयास कर रहे हैं। उत्तरदायी एवं क्रांतिकारी नेतृत्व पैदा करना ही इस घड़ी की मांग है।

मैं डा.बाबा साहेब अंबेडकर, आधुनिक भारतीय संविधान के जनक, के शब्दों के साथ समापन करना चाहूंगी। दुनिया के विशालतम प्रजातंत्र के राजनयिक और दलित वर्गों के इस महान नेता ने कहा था : ''हमारा संघर्ष न धन के लिए है, न ही सत्ता के लिए। यह स्वतंत्रता की लड़ाई है। मानवोचित व्यक्तित्व को पुनः प्राप्त करने के लिए चलने वाला संघर्ष है।''

माया कृष्ण राव (जन्म : 1953) एक थिएटर कलाकार, निर्देशिका, नृत्य-निर्देशिका, और पुरुष रूप में कथकली नृत्य में प्रशिक्षित गिनी-चुनी महिलाओं में एक हैं। उन्होंने कृष्ण, अर्जुन, हनुमान, भीम, रावण, दमयंती और डेसडेमोना की भूमिका अदा की है। उन्होंने एकल महिला नृत्य-नाटिका की भी शुरुआत की। 'खोल दो' (1993); 'द जॉब' (1997); एवं 'डिपार्चर्स' (1999) उनकी एकल नृत्य-नाटिका प्रस्तुतियां हैं। उन्होंने 'किंग लीयर', 'डॉल्स हाउस', 'द मदर', 'हाउस ऑफ बर्नाडा अल्बा' एवं 'द रोवर' में मुख्य भूमिका की। 'वीय' (1990); 'ड्रीम ऑफ रीजन' (1991); एवं 'सुभद्रा' (1995) में उनका सुंदर नृत्य निर्देशन देखा गया। उन्होंने 'ममी' (1995) एवं 'द मदर' (1982) का निर्देशन किया। उन्होंने अमेरिकी नृत्य सम्मेलन (1992); लंदन अंतर्राष्ट्रीय नाट्य पर्व, लंदन (1997, 1999); फैज़ शताब्दी समारोह, लाहौर (1998); पृथ्वी थिएटर समारोह, मुंबई (1996); रेस्टलेस ग्रेविटी फेस्टिवल, एबिर्सविथ, वेल्स (2000); और कियाज्मा म्यूजियम थिएटर समारोह, हेलसिंकी (2001) सदृश कई प्रदर्शनियों एवं कार्यशालाओं में भाग लिया।

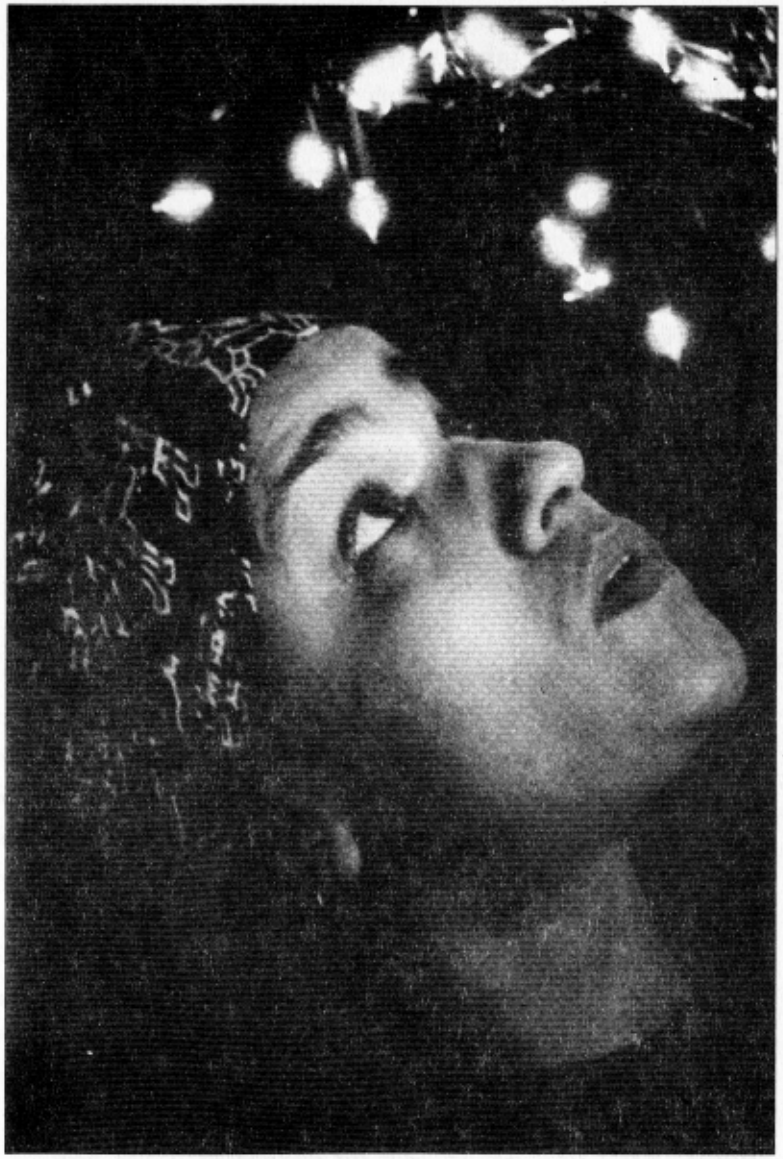

17

जीवन के भंवर में

माया कृष्ण राव

जिंदगी ढेर सारी बातों से प्रभावित होती है। वे अपने आप बहुत जटिल होती हैं। उन पर विचार करना या उनके बारे में कुछ ठोस कहना भी आसान नहीं होता। कलाकार इसे अधिक कठिन पाते हैं। खासकर हम कभी भी पूर्णतया नहीं समझ पाते कि वे कौन-से तत्त्व हैं जो किसी सृजनात्मक कृति में शामिल होते हैं। हम स्वयं अकसर आश्चर्यचकित रह जाते हैं और चिल्ला पड़ते हैं, "हे भगवान, मुझे तो पता ही नहीं था कि ये मुझमें हैं...!" मेरी समझ से खासकर महिला कलाकारों के साथ ऐसा होता है जिनके लिए जीवन और काम के बीच धागों के इतने तरह के ताने-बाने होते हैं कि एक का प्रभाव निरंतर दूसरे पर पड़ता रहता है। उदाहरण के लिए एक संतान होने के वर्षों बाद ही मैं यह जान पाई कि उसे प्रतिदिन समय पर खिलाने, नहाने और बहुत तरह से उसकी देखभाल करने की आवश्यकता के कारण ही मैं अपनी प्रथम एकल रचना (सोलो) की ओर प्रेरित हुई थी। मैं पूरे दिन को पूर्व निर्धारित गतिविधियों के अनुसार बंटी हुई समयावधि के रूप में देखने लगी थी। अपने पास सिर्फ गिने घंटे होने का अहसास होता मुझे। और बच्चे के इर्द-गिर्द समय के जिस अनुशासन की आवश्यकता होती मैं उसी अनुशासन से अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए पल-दो-पल का समय चुरा लेती।

मेरा लालन-पालन दिल्ली महानगर में हुआ। मेरे पिता एक सरकारी नौकर थे और मां एक कलाकार। बचपन में एक 'सरकारी मकान' की बालकनी की रेलिंग पर झुकी लंबी, तपती दुपहर के दिन मुझे आज भी भली-भांति याद हैं। मैं सामने एक कतार में खड़े मकानों पर इधर से उधर नजरें घुमाया करती और उनमें से प्रत्येक में घटित होती विभिन्न प्रकार की जीवन-गाथाओं की कल्पना में डूबी रहती। दिनों का आपसी घालमेल जारी रहता। उनमें फर्क नजर नहीं आता। और वे उन गतिविधियों से गड्ड-मड्ड होते, जिन्हें करने में मेरी दिलचस्पी नहीं

के बराबर होती। जैसे स्कूल का गृहकार्य, नृत्य और संगीत की कक्षाएं, मां-बाप के मित्रों से मिलना और उनके समक्ष कुछ न कुछ प्रदर्शित करने के लिए कहा जाना। मेरे लिए तो सारा काम एक-सा था। अपने बारे में मैं यह दावा नहीं कर सकती कि मैंने जैसे ही "इस कला को जाना तो समझ गई यही मेरी जिंदगी बनने वाली थी।" कुछ भी इतना आसान और सरल नहीं था। जहां तक मुझे याद है कला के साथ मेरा अजीब संबंध रहा है; मिश्रित भावों का संबंध। यह विरक्ति और गहन अनुराग के बीच सहजता से झूलता रहा है।

मैं जब मात्र छह वर्ष की थी तो मेरी मां ने घर पर ही एक नृत्य कक्षा की शुरुआत की ताकि मैं भी उसमें संलग्न रहूं और सीख भी लूं। मेरे वही मित्र जिनके साथ मैं पिट्टो या लुका-छिपी खेला करती अब मेरे साथ एक कतार में अनुशासन में खड़े होते और भरतनाट्यम के आरंभिक थिरकन का अभ्यास करते। मेरी मां एक अनुशासनप्रिय शिक्षिका थीं। कोई उदासीन होकर नाच का अभ्यास कर ले इसकी कोई गुंजाइश नहीं थी। महीन से महीन गतिविधि का बिल्कुल सटीक अभ्यास जरूरी था। हर एक कक्षा, हर एक प्रदर्शन में मुद्रा, मुस्कान, आंखों की भाव-भंगिमा और पैरों की थिरकन में दृढ़ता होना अनिवार्य होता।

किसी "नृत्य-नाटिका" (उदय शंकर द्वारा प्रेरित शैली में) या स्कूल के कार्यक्रम के लिए अभ्यास हेतु कक्षाओं से छुट्टी लेना बचपन की सुखद यादों में शामिल है। नई-नई चमकीली पोशाकों के लिए दर्जी को माप देना। वापस घर आकर बीटल्स के अलबम को खूब तेज स्वर में बजाकर अपने हाथ-पैर भांजना या फिर 'ट्विस्ट डांस' का अभ्यास। गर्मी के दिनों हर बार रेलगाड़ी की लंबी यात्रा, खाते-पीते, के बाद कालीकट—केरल में मेरी मां का पैतृक घर पहुंचना और एक ऐसी दुनिया की आबोहवा लेना जो दिल्ली से बहुत भिन्न थी। पहले तो वह भिन्न थी पर धीरे-धीरे वर्षों बाद, कई यात्राओं के पश्चात वह दुनिया मेरी सोच के सांचे का एक भाग बन गई। मैं गरमी और जाड़े की उन लंबी छुट्टियों की शुक्रगुजार हूं जिन्होंने मुझे शहर की एक आयामी लड़की बनने से बचा लिया। उन दिनों ही प्रायः मैं समझ पाई कि अनुशासन किस बला को कहते हैं। मेरी मां कथकली के एक गुरु को अपने परिवार में आकर रहने का न्यौता दे आती। और उसके बाद पौ फटने से पूर्व प्रारंभ होता आंखों का अभ्यास और शाम ढलने तक मुझे एक ही चीज करनी होता—कथकली। ऐसे समय में अपने चचेरे भाई-बहनों के साथ धमा-चौकड़ी कम ही मचा पाती। पर मुझे लगता है मैं मन ही मन कथकली का आनंद लेने लगी थी क्योंकि इसमें तन और मन दोनों का व्यायाम होता। यह अभ्यास केरल में ही होता जहां की सुगंध, हरियाली, नारियल से परिपूर्ण खाना

और हमारा बड़ा परिवार मुझे खूब भाते। वहां कथकली के लिए कठिन अभ्यास करना अच्छा लगता और जैसे-तैसे सही भी हो जाता।

हालांकि पीछे मुड़कर देखने से मुझे लगता है कि एक ऐसे घर, जहां कला का अभ्यास और उसकी पूजा होती, से संबद्ध होने के बावजूद कला को एक पेशा या जीविका के रूप में लेने की कोई संभावना नजर नहीं आती। यों तो मुझे सभी अनिवार्य प्रशिक्षण दिया गया था; सभी कार्यक्रमों में ले जाया गया था पर उन दिनों समाज में कला के लिए कोई ठोस और स्वीकार्य स्थान नहीं था। व्यावसायिक प्रशिक्षण और उससे अर्जन का जरिया नहीं था। मैंने कथकली और कर्नाटक संगीत में प्रशिक्षण लिया पर मेरे मां-बाप ने भी मुझे कभी भी इस नजरिए से नहीं देखा कि मैं दोनों में किसी को अपनी जीविका का साधन बनाऊंगी। कथकली में तो उन दिनों एक भी महिला नहीं थी। बच्चे नृत्य और संगीत की कक्षाओं में स्कूल की छुट्टी के बाद ही जाते थे। स्कूल की परीक्षा में आप कितने अंकों के साथ घर आए, इसकी अहमियत बनी हुई थी। इसलिए मैं सोचती हूं कि मैं कला की दुनिया में, और कला मुझमें उतनी सुलभतया आसन लगाकर नहीं बैठ सकी जैसा कि प्रायः होना चाहिए था।

लेकिन यह भी सही है कि मैं अंततः एक कलाकार बन गई और आज स्थापित हूं; उसके पीछे यह तथ्य रहा कि मेरे लिए इन कलाओं को पूर्व-निर्धारित पेशे के रूप में नहीं देखा गया। दरअसल मैं अपने आपको कथकली के अपने गुरु के सामने एक विडंबनापूर्ण स्थिति में पाती हूं। वे एक अत्यधिक साधारण परिवार और परिवेश से संबद्ध हैं। उनके परिवार में इन कलाओं के प्रति नहीं के बराबर सम्मान था। लेकिन इन तमाम परेशानियों के बावजूद उन्हें बहुत बचपन में ही यह अवसर मिला कि वे नृत्य को अपना पेशा, अपना जीवन बना लें! सुदूर दक्षिण, केरल के एक गांव में रहते हुए 14 वर्ष की अवस्था में ही उन्हें पता था कि नृत्य ही उनका जीवन बनने वाला था।

अतः आरंभिक अवस्था में मुझ पर नाना प्रकार के स्रोतों का प्रभाव रहा। कथकली ने शरीर और मस्तिष्क को साधने के लिए मुझे एक ठोस पृष्ठभूमि दी। आपको पता हो कि कथकली में शरीर के एक-एक अंग—पांवों, हाथों, चेहरे की पेशियों, को साधने के लिए वर्षों प्रशिक्षण दिया जाता है। धीरे-धीरे इन सबको एक साथ करके पद्म या पात्र की भूमिका सीखते हैं। आगे तकनीकी पूर्णता के साथ नवरस सीखा जाता है। हालांकि 8-9 वर्ष की एक लड़की होने के नाते मैंने उन भावनाओं का वास्तविक जीवन में रसास्वादन नहीं किया था, उन्हें जाना नहीं था। खैर, धीरे-धीरे पांव लय में थिरकने लगते हैं और हाथ और चेहरा उस

अद्‌भुत कमल को अभिव्यक्त करता है जिसे कलाकार अंतर्मन में देखते हैं। यह बात दीगर है कि मैं बरसों बाद ही एक कमल का फूल देख पाई। इस प्रकार प्रशिक्षण का एक संपूर्ण तंत्र होता है। तन को वर्षों प्रशिक्षित किया जाता है ताकि एक प्रकार की मानसिक ऊर्जा उत्पन्न की जा सके। यह ऊर्जा नाना प्रकार के विचार, कार्य और भावना के लिए एक वाहक का काम करती है। ये सब एक ऐसे रूप में अभिव्यक्त होते हैं जो आए दिन की दुनियादारी के किसी भी तत्त्व से भिन्न होते हैं। वस्तुतः मेरे कथकली प्रशिक्षण का सबसे अनमोल पक्ष यही रहा। सप्ताह के सामान्य दिनों मैं इस अद्‌भुत दुनिया में चली जाती जहां मुझे लगता कि मेरी सांस और ऊर्जा भी परिवर्तित हो जाते। यथार्थतः कथकली में कुछ भी 'सामान्य' नहीं होता है। कलाकार के बैठने, खड़ा होने, आंखों की मुद्रा, यहां तक कि सोचना, अनुभव करना और व्यक्त करना सब कुछ असामान्य होता है। वर्षों कला के एक ऐसे रूप, दैनिक जीवन से नितांत अलग, का अभ्यास करते रहने से परिकल्पना ही प्रशिक्षित हो जाती है और जैसे ही उसे जागृत किया जाता है वह स्व-अभिव्यक्ति के अनदेखे क्षेत्र में विचरने को तैयार हो जाती है। मेरा यह मानना है कि कथकली में मेरे कठिन प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप ही मैं भारत-पाक विभाजन की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत एक आधुनिक कथा की व्याख्या न सिर्फ गति, बल्कि दृष्टिकोण और विचारधारा को ध्यान में रखते हुए भी कर पाई।

मैं लगभग पंद्रह वर्ष की रही होऊंगी जब थिएटर मेरे अवचेतन में समा गया, और नृत्य के साथ प्रतिस्पर्द्धा के पश्चात यह अपने आपको कहीं 'श्रेष्ठ' मान बैठा। मेरा अपरिपक्व मस्तिष्क कतई यह मानने को तैयार नहीं था कि कथकली से अधिक श्रेष्ठ थिएटर कल्पना मात्र है। उन दिनों यथार्थतः मेरे लिए कथकली का अर्थ अभ्यास, नकल था। स्व-अभिव्यक्ति या सृजनशीलता से कोई लेना-देना नहीं था। स्कूल में हमारे नाटक के शिक्षक ओम शिवपुरी, राष्ट्रीय नाट्य दिद्यालय के मंजे हुए कलाकार, ने हममें से कुछ का शेक्सपीयर का नाटकों से परिचय करवाया। यहां पहली बार मैंने विचारों / भावनाओं / रहस्यों की एक निजी दुनिया देखी जिसमें ये सभी तत्त्व स्वच्छंद होकर विचरण कर सकते थे। यह एक कलात्मक अभिव्यक्ति की दुनिया थी—मेरी अपनी सर्जनात्मक दुनिया। मेरे घर का अनुशासन या सखी-सहेली के साथ संबंधों में उलटफेर और हैसियत का फर्क या फिर कथकली—इनके कोई मायने नहीं होते। यह एक अद्‌भुत, उन्नत दुनिया थी! मुझे आज भी याद है मैं किस प्रकार स्कूल के ऑडिटोरियम में आंखें मूंद कर नितांत अकेली बैठी रहती—'किंग लीयर' के लिए चुना गया 'आंधी का संगीत' सुनती रहती और खुद को बदहवासी की दशा के लिए तैयार करती।

यह बात और कि लड़की होने के कारण मुझे किंग लीयर की भूमिका नहीं मिलती पर मैं उससे 'कठिन' विदूषक की भूमिका में आती।

कथकली के प्याले से चुस्कियां लेने के बाद मैं उस समय जो बात नहीं समझ पाई वह यह कि शेक्सपीयर कुछ मायनों में उसका ही विस्तार था। एक भिन्न प्रकार की शराब था, पर थी तो शराब ही। यहां कल्पना की पराकाष्ठा के वाहक, मुखर होते स्वर थे न कि कथकली की भांति हाथ, पैर या मुखड़ा। ऐसा लगता था मानो शेक्सपीयर के शब्द और बिंब मेरी कल्पना के आंतरिक गागर में, जो कथकली के वर्षों प्रशिक्षण के बाद मेरे मन में पैठ गया था, विक्षोभ उत्पन्न कर रहे थे। कितना अच्छा होता कोई उस समय मुझे यह समझा पाता। पर शायद उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी।

कथकली में पुरुष की भूमिका के लिए प्रशिक्षित और स्कूल की नृत्य-नाटिका में अकसर कृष्ण की भूमिका लेने के परिणामस्वरूप मैं बहुत जल्द ही समझ गई कि नाटक की इस दुनिया के पात्रों को पुरुष या स्त्री विशेष के रूप में नहीं देखना चाहिए। वे तो बस किसी अन्य दुनिया के पात्र दिखते। अपने कथकली प्रशिक्षण के दौरान मैंने बहुत विलंब से स्त्री की भूमिका सीखी। उसमें एक अपरिचित नयापन दिखता और इतने वर्षों पुरुष भूमिका के बाद मुझे यह भूमिका रोमांचित कर जाती! पहली बार मैंने नायिका की झुकी-झुकी नजर का अभिनय किया। मुझे यह अनुभव रोमांचित कर गया कि पलकें नज़ाकत से नहीं बल्कि प्रेम के अतिरेक और प्रवाह से झुकती हैं।

सिंहावलोकन में मुझे लगता है मैंने एक ओर स्कूल में आयोजित उदय शंकर शैली की नृत्य-नाटिका एवं नाट्य प्रस्तुति; और दूसरी ओर घर पर कथकली के शास्त्रीय प्रशिक्षण से उत्पन्न उत्तेजक खंडित मनोदशा का भी आनंद लिया। एक से दूसरे पर सहजता से जाने की क्षमता, 'विरोधाभास की सरगर्मी बिना', मुझे आनंदित कर देती। मैंने जिस कृष्ण की भूमिका की वह वृंदावन, या सुदूर दक्षिण केरल के कथकली के कुरुक्षेत्र में हो सकते थे। यथार्थतः ये सब मेरे दोनों संसारों में शामिल थे, न कि एक या दूसरे में। इसके परिणामस्वरूप मैं यथार्थतः कभी नहीं जान पाई कि आधुनिक बनाम पारंपरिक के विवाद में कैसे अपनी स्थिति स्पष्ट करूं। इतना ही नहीं मेरे लिए कृष्ण सदृश किसी पात्र की अनुभूति उस व्यक्ति से उत्पन्न होती मैं जिसके नृत्य का अभिनय करती, न कि मिथकीय कथाओं के भगवान या पूजा घर में सुशोभित उनके चित्र से। वस्तुतः मुझे अच्छी तरह याद है कि बहुत बचपन से ही मैं गोल-मटोल और मक्खन का मटका लिए बालक कृष्ण की छवि और द्रौपदी को ढाढ़स बंधाते (उसके प्रति हुए अन्याय पर दुखी

नहीं होने के लिए कहने वाले) मंच पर चहलकदमी करते कृष्ण की छवि में कोई तालमेल नहीं देख पाती। या फिर अर्जुन के सारथी बने, उसे उसकी कायरता के लिए दुत्कारते कृष्ण भी मुझे बचपन में कल्पना में बसे कृष्ण से बिल्कुल भिन्न दिखते।

कालेज के दिन क्रांतिकारी नाटकों में बीत गए। हम पूर्णतया ब्रेख्त के नक्शेकदम पर थे। विषय और प्रस्तुति दोनों पर उनकी अमिट छाप थी। यह रुचि सत्तर के दशक में नुक्कड़ नाटकों में परिणत हो गई। महिलाओं का मुद्दा केंद्रीय विषय होता। ऐसा जान-बूझकर कम, इत्तिफाकन अधिक होता। कुछ महिला संगठनों ने मुझसे पूछा कि क्या मैं दहेज पर एक नुक्कड़ नाटक करने में मदद कर सकती हूं, और मैं तैयार हो गई। यहां भी कथकली में प्रशिक्षित मेरी काया ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मैंने दहेज हत्या के आरंभिक मामलों में एक, जो अखबारों में सुर्खियों में थे, में कंचन की भूमिका की थी।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रवेश के लिए मैंने दो बार आवेदन किया—पहली बार स्कूल के बाद और दुबारा स्नातक होने के बाद। दोनों बार चुनी गई पर दोनों बार वहां से भाग आई—पहली बार एक सप्ताह के बाद और दूसरी बार पंजीकरण के तुरंत बाद। मैं स्वभाव से स्वच्छंद और भावुक थी सो नाट्यकला का एक व्यवस्थित रूप से, पाठ्यक्रम और परीक्षा समेत, अध्ययन करना मेरे लिए असहनीय था। दरअसल उस समय तक मैंने अपने अपरिपक्व, अधपकी मानसिकता से नाटक के संबंध में एक भिन्न धारणा बना ली थी। उसके प्रति मेरे मन में कहीं उत्तेजक संभावनाएं घर कर गई थीं। संभव है लोग इसे छोटे मुंह बड़ी बात कहें। नाटक के सभी भागों को कंठस्थ करना; एक ही ड्राइंग रूम या किसी अन्य हॉल में चहलकदमी करना; और अन्य पात्रों के साथ 'संबंध' बनाना—मैं खुद को इन रूपों में नहीं देख सकती थी। मेरे लिए नाटक का अर्थ था अभिव्यक्ति की एक अलग दुनिया। दहेज की शिकार कंचन बिल्कुल यथार्थ थी पर उसके विचारों और भावनाओं को एक अन्य भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करना था। और वह भाषा न तो समकालीन थी और न ही पहचाने जाने योग्य। प्रस्तुति के इसी रूप में उसकी कहानी की कड़वाहट उकेरी जा सकती थी। अन्य शब्दों में नाट्य-प्रस्तुति के उस रूप की ओर आकृष्ट थी जहां आपको तथ्य से परे हटना होता है, तटस्थ होना पड़ता है ताकि सचाई को दिखाया जा सके। मुझे लगता है किसी-न-किसी रूप में मेरे लिए यह आवश्यकता कई वर्षों से बनी हुई है। इसने मेरी सोच और संवाद की शैली को निरंतर संवारा है।

पर एक बात उल्लेखनीय है कि मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के एक भी

नाटक को देखना नहीं छोड़ती। मैं पूरे प्रदर्शन में आंखें फाड़कर बैठी रहती और वापस घर पहुंचते ही आईने के सामने प्रिय पात्रों का अभिनय दुहराने लगती। यह काम तो मैं हेलन, मीना कुमारी और मधुबाला के मामले में भी करती। इस प्रकार ये तमाम नारियां, और बलात्कार या दहेज पीड़ितों की भूमिकाएं हमारे नुक्कड़ नाटकों में अभिनीत होतीं। इसके अतिरिक्त नारीवादी मोर्चों पर सुर्खियों में रही महिलाएं या फिर एंजेला डेविस सदृश महिलाएं मेरे मन-मस्तिष्क पर छाई रहतीं। अब चूंकि मैं अच्छी पाठक तो थी नहीं, सो एंजेला के काले बाल और हठपूर्ण बहादुरी अधिक आकृष्ट करती न कि उसके तर्कों की ताकत। उस समय तक मेरे जीने का एक अंदाज बन गया था। कोई अन्य रास्ता है, मैं नहीं जान पाई।

कई अन्य परिस्थितियां थीं जो मेरी सृजनशीलता को प्रज्वलित रखतीं। मैंने समाजशास्त्र में प्रतिष्ठा के साथ स्नातक किया और राजनीति विज्ञान में स्नातकोत्तर और आखिरकार दिल्ली की एक कालेज में राजनीति विज्ञान की व्याख्याता बन गई। पर मैं इससे बहुत हताश थी। दरअसल पढ़ाई के दिनों में मुझे छात्र राजनीति का चस्का लग गया था। और मैं विश्वविद्यालय की राजनीति समझती थी। हालांकि मैंने प्रायः सर्वप्रथम नाटक (ब्रेख्त के माध्यम से) में राजनीति का स्वाद चखा था और उसके बाद अपने आसपास। यदि किसी वास्तविक चीज का रस पहली बार आपको कला की दुनिया से मिले तो उसकी बात ही कुछ और है। सो हमने वाकई यह कल्पना की कि हम अपनी कला के माध्यम से दुनिया को बदल देंगे। मेरे लिए नाटक हमेशा शौकिया होता जबकि यह मेरे मन-मस्तिष्क पर छाया रहता। इसे 'शौक' की हैसियत से झकझोर कर हटाने में मुझे बहुत समय लगा (जब मैं 30 वर्ष की हुई और इंगलैंड चली गई तब संभव हो पाया)। पर पीछे मुड़कर देखने पर मैं सोचती हूं कि नाटक को मिली 'हाशिए की हैसियत' ने अप्रत्याशित रूप से मेरी मदद की। मैं समाज विज्ञान का अध्ययन कर पाई और विश्वविद्यालय के राजनीतिक जीवन में भागीदारी कर पाई क्योंकि नाटक मेरे लिए हाशिए पर ही होता। दोनों के बीच दिन इस बराबरी के साथ बंटे होते कि नाटक के केंद्र में आते-जाते मैं सोच की एक राजनीतिक धारा प्राप्त कर चुकी थी। यही वह पृष्ठभूमि बनी जिस पर मैंने एक गैर-वास्तविक थिएटर खड़ा किया। लेकिन अब भी यह पूर्णतया खुला नहीं था। मेरे नाटकों के लिए विषय/कहानी/विचार का चयन कभी भी महज मौलिक राजनीतिक कारणों के मद्देनजर नहीं हुआ। परंतु राजनीतिक समझ का असर होता। प्रत्येक नाटक में यह असर भिन्न होता, पर होता जरूर। हर एक भाव-भंगिमा में राजनीति का पुट होता है, न कि भाव-भंगिमा राजनीतिक होती। और हर एक नई सर्जना के बाद राजनीतिक समझ भी पैनी

हो जाती। उदाहरण के लिए विभाजन पर एक प्रस्तुति के बाद मुझे नहीं लगता कि मैं उसी विषय पर, यदि कभी अवसर लगे, उसी प्रकार दुबारा नाटक करूंगी।

मुझे क्या करना चाहिए, और मैं क्या करना चाहती हूं, के बीच का अदृश्य सफर तय करने में बहुत समय लगा। कभी-कभी पहली दशा से गुजर कर ही आप दूसरे विकल्प को पूर्णतया और स्पष्टतया समझ पाते हैं। मैं नहीं कहती कि दोनों के बीच छत्तीस का आंकड़ा है। दरअसल अकसर वे एक-दूसरे में सम्मिलित होते हैं। पर महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि उनमें उत्प्रेरक कौन है, मूल भूमिका किसकी है! मेरे लिए प्रश्न सिर्फ यह नहीं था कि मैं किस पेशे को अपनाऊं बल्कि महत्त्वपूर्ण यह था कि एक बार यदि मैंने नाटक को अपना लिया तो किस प्रकार का नाटक करूं। एक राजनीतिक दृष्टिकोण प्राप्त कर लेने के बाद मेरे सामने थिएटर के अंदर संभावनाओं की एक पूरी शृंखला ही उपस्थित थी। या यों कहें कि मैं भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वरूपों की तलाश में थी जिनमें नाटक किए जा सकते थे। मुझे उन स्वरूपों की तलाश थी जिनमें नाटक को समाज के शेष भाग से जोड़ कर देखा जा सकता था। एक बार फिर, इनमें से कुछ सोच-विचार कर किए गए और कुछ संयोगवश हो गए।

दो उपाधियां और राजनीति विज्ञान में पांच वर्षों तक अध्यापन करने के बाद मैं आनन-फानन में (एक वर्षीय) नाटक की डिग्री लेने इंगलैंड चली गई ताकि इसे व्यावसायिक रूप में अपना सकूं। मैं तीस की थी और कभी भी घर से बाहर नहीं गई थी। पर बहुत जल्द सब कुछ बदल गया। मैंने घर छोड़ा, शादी की और एक अपरिचित देश में परिवार बसाया। मैं पूरी तरह थिएटर में चली गई, बरसों बाद पुनः एक छात्रा बन गई। इस नए देश में मुझे कोई नहीं जानता। मैं स्वयं अपने लिए, हर एक के लिए नई बन गई और सभी मेरे लिए नए थे। आप गहरा गोता लगाकर जितना सीखते हैं, उतना कभी नहीं। मैंने खुद को थिएटर के हवाले कर दिया था। हालांकि परिस्थितियां कठिन और उत्तेजक दोनों थीं। मैंने परदेस में, जीवन की पूर्णतया बदली परिस्थितियों के बीच अपना मनवांछित पेशा चुन लिया था।

उपाधि प्राप्त करने के बाद मैंने कुछ दिनों तक इंगलैंड में ठहरने और काम करने का निर्णय लिया। वहां थिएटर-इन-एजुकेशन (टी आइ ई) और सामुदायिक थिएटर दो ऐसे क्षेत्र थे जहां नई सोच और स्वरूप आकार ले रहे थे। सौभाग्यवश मुझे उन दिनों की सर्वश्रेष्ठ टी आइ ई कंपनियों में एक से सदस्यता का आमंत्रण मिला। हमारा कार्य था एक पात्र, कोई घटना, पाठ्यपुस्तक का कोई अध्याय, किसी ऐतिहासिक पल के माध्यम से थिएटर को कक्षाओं में ले जाना और उसे

अन्वेषण के लिए इस प्रकार प्रस्तुत करना कि छात्रों के लिए शिक्षा की प्राप्ति एक अनुभव बन जाए—अधिक गहराई तक जाने वाला अनुभव। इनमें अधिसंख्य नाट्य प्रस्तुतियां बिना किसी तैयारी की होतीं। वयस्क कलाकार और बच्चे दोनों अपने लिए भूमिका चुनते और परिदृश्य बनाते। वे दर्शक के लिए ऐसा नहीं करते।

व्यावसायिक रूप से ये मेरे लिए सबसे उत्तेजक वर्ष थे। सांस्कृतिक और कलात्मक दोनों ही रूपों में कठिन और याचना के दिन थे। आनन-फानन में छात्रों की मांग पर हमें किसी व्यक्ति की भूमिका में आने के लिए तैयार रहना पड़ता था। मुझसे अकसर एक गोरा, पुरुष और अंग्रेज की भूमिका के लिए कहा जाता था! एक बार उस भूमिका में आते ही छात्रों के बहुत करीब बैठना पड़ता था और एक पूर्णतया विश्वसनीय पात्र बनना पड़ता था। इसमें सीखने की अपार संभावना रहती थी। यह उम्दा किस्म का यथार्थवादी नाटक था। मैंने भारत में कभी इसका अभ्यास नहीं किया, इससे वंचित रही थी! फिर भी कथकली प्रशिक्षण के दौरान मैंने कल्पना, पेशी-नियंत्रण और ध्यान पर जो अधिकार किया था वह काम आया और मैं तत्काल पात्र बनने में कामयाब होती थी। यहां मैं नाटक का एक अन्य पक्ष भी समझ पाई—परिवर्तन का सामर्थ्य। छात्र-छात्राएं अपनी कक्षा के सुपरिचित परिवेश में बैठे-बैठे हमारे द्वारा बनाई गई काल्पनिक दुनिया में गोते लगाने लगते। वे अपने आत्मविश्वास में हमें शरीक कर लेते जैसा अन्य शिक्षकों एवं मां-बाप के साथ प्रायः नहीं कर पाते। वे उन्हें चकित करने वाले विचार और भावना व्यक्त करते। यह सब थिएटर से ही संभव हुआ था।

आज मैं एकल, एकल-महिला प्रस्तुतकर्ता हूं। ऐसा अंशतः संयोगवश, अंशतः विचार कर और अंशतः एक सजा के रूप में है! पर इसमें बहादुरी या साहस की कोई बात नहीं है। मुझे काम करने का कोई और तरीका आता ही नहीं है या संभव है मैं वह भूल गई हूं। पर इसके लाभ भी हैं। आप भौतिक दुनिया और भावों को अपने ही नजरिए से देख सकते हैं। प्रस्तुति के लिए कुछ गढ़ते वक्त आप अपने जीवन के अनुभवों और दक्षताओं को एक-दूसरे से स्वच्छंद होकर बात करने का अवसर दे सकते हैं। अब मुझे इसकी आवश्यकता नहीं महसूस होती कि अपने काम को विशेषकर नृत्य या नाटक में वर्गीकृत करूं। बचपन में कथकली में मिले प्रशिक्षण से मैं एक अलंकारिक सर्जनात्मक भाषा गढ़ सकती हूं जो दोनों संसारों से संबद्ध हो। और नाटक उस भाषा की पूर्ण अभिव्यक्ति में मेरी मदद करती है।

नाटक, कला का एक ऐसा रूप है जो एक मायने में जीवन के बहुत निकट है। इसमें हाड़-मांस के बने लोग (कलाकार) होते हैं जो एक सृजित दुनिया में

जीते हैं और अपनी भूमिका निभाते हैं। यह एक ऐसा रूप है जो लोगों को पिघला दे, यहां तक कि उन्हें सिहरा दे। एक पुरानी कहावत, हालांकि बिल्कुल प्रासंगिक, के अनुसार यह समाज का आईना है। वस्तुतः रंगकर्म की सबसे रोमांचक चुनौती यही है कि आप किसी व्यक्ति के अदृश्य आयामों, जीवन को किसी कतरे, घटना, या फिर एक कहानी को किस सफाई से उद्घाटित करते हैं और दर्शकों के समक्ष परोसते हैं।

नृत्य की दुनिया में विभिन्न प्रकार की प्रस्तुतियों के लिए उत्तरोत्तर 'नृत्य-नाटिका' शब्द का उपयोग होने लगा है। कला के इन दो स्वरूपों के बीच की रेखा उत्तरोत्तर धुंधलाने लगी है। मेरी अपनी ही बात लीजिए, जब मेरी अपनी सर्जना की बात आती है तो एक के साथ काम करना दूसरे के लिए दखलंदाजी और चुनौती बन जाता है। हालांकि यथार्थ यह भी है कि मेरे कथकली के प्रशिक्षण ने दोनों को एक साथ रखा, एक-दूसरे पर आच्छादित और अभिन्न रूप में। नृत्य में प्रवाह है। सर्वांग शरीर एक विषय का वहन करता है, उसे अनवरत प्रवाह के साथ अभिव्यक्त करता है। यहां तन और मन एक प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर, नाटक इस प्रवाह को 'क्षणिक' आघात से रोक देता है। यह क्षण किसी क्रिया या सोच या परिस्थिति का होता है जो जीवन से लिया गया होता है और नृत्य की तुलना में अधिक प्रत्यक्ष और प्रखर होता है। एक पल को सिर, शरीर से अलग सक्रिय हो जाता है। मन-मस्तिष्क जीवंत हो उठता है, विचारमग्न हो जाता है। फिर उस तेज, प्रखर सक्रियता से शरीर नृत्य की अवस्था में वापस आता है। यह अवस्था क्षणिक नहीं बल्कि प्रवहमान होती है। दोनों आपस में संघर्षरत होते हैं; एक-दूसरे के लिए चुनौती पेश करते हैं; और आपके विषय की अन्य परतों को भी उद्घाटित करते हैं। आप नाना प्रकार के भावों से खेल सकते हैं। जीवन से निचोड़ प्राप्त करने की विभिन्न विधियों को समझ सकते हैं। मोटे तौर पर नृत्य किसी मनोदशा को एक 'काया' प्रदान करती (ठीक उसी प्रकार जैसे संगीत) है और नाटक उसे 'जीवन' देते हैं।

कला के इन दो स्वरूपों के साथ काम करते हुए आपको एक ऐसी व्याख्या मिल जाती है जिसकी कल्पना आपने आरंभ में नहीं की होगी। उदाहरण के लिए सआदत हसन मंटो की 'खोल दो', विभाजन-पूर्व सांप्रदायिक दंगों में बेटी की तलाश में भटकते एक बाप की कहानी, पर काम करते हुए 55 मिनट की एक ऐसी प्रस्तुति बन गई जिसमें बेटी की तलाश इतनी बेचैन थी कि वह पिता अपने ही शरीर की अंगुलियों, सिर के झुकाव और मुस्कान में उसे तलाशने लगता है। मुझे लगा मैं न तो सिर्फ एक कहानी (नाटक) कह रही थी और न ही उस पिता

के शरीर का इस्तेमाल उसके संताप (नृत्य की भांति) को व्यक्त करने के लिए कर रही थी।

रचना की मेरी प्रक्रिया के अंतर्गत सर्वप्रथम मैं कोई कहानी/विषय/विचार चुन लेती हूं। यह संयोगवश अपनाया गया होता है। ये किसी-न-किसी रूप में मुझे प्रभावित कर चुके होते हैं या उनमें कई परतें होती हैं जो हाथ नहीं आती पर बांध कर रख देती हैं। किसी कमरे में मैं कुछ संगीत बजा देती हूं और कुछ देर ध्यानस्थ होने के बाद मैं उक्त विषय या कहानी या विचार के इर्द-गिर्द गति और क्रिया के माध्यम से एक अलग 'संसार' बनाती हूं। ये तात्कालिक अभ्यास कुछ दिनों तक चलते रहते हैं। संगीत की प्रकृति उक्त रचना की शैली को अत्यधिक प्रभावित करती है। मैं अभिलेखन और संपादन (यदि शब्द हैं) करती रहती हूं और अगले कुछ दिनों तक यह जारी रखती हूं। इस प्रकार सुधार करते हुए टुकड़ों को जोड़कर एक प्रस्तुति पूर्ण करती हूं। मैं सामान्यतया बाद में बहुत कम जोड़ती हूं।

सुधार की प्रक्रिया मेरे लिए सामान्य जन-जीवन के ठीक विपरीत है। इस दुनिया में शरीर नेतृत्व करता है। इसकी गतिवधियों को मस्तिष्क पढ़ता है और अर्थ सर्जना करता है और तब शरीर को अगली गतिविधि के लिए प्रेरित करता है। अब चूंकि मैं किसी प्रकार की भाव समाधि में रहती हूं सो मस्तिष्क कभी-कभी हर प्रकार के विचारों एवं बिंबों को कुरेदता है और उन्हें अलग गतिविधि में जोत देता है। इस मनोदशा में, स्वप्नों की भांति, हम उन विचारों पर सोचते हैं जो हमारी चेतनावस्था में कभी नजदीक नहीं फटकते। ऐसे में सब कुछ भिन्न होता है—रंग, बिंब, लय, गतिविधियों की कड़ी सब अपने-अपने तर्क के साथ प्रतीत होते हैं। आरंभिक दिनों में मेरी प्रस्तुतियां शब्दहीन हुआ करतीं। उनमें कथकली की भांति शब्द का काम हाथ कर दिया करते। इतना ही नहीं, चूंकि शरीर के विभिन्न भाग अलग-अलग काम करने के लिए प्रशिक्षित हैं सो हमारी परिकल्पना एक पल पांवों के माध्यम से, तो दूसरे पल आंखों के माध्यम से काम करतीं। निरंतर पांव पटकते रहने से विस्मृत बातों को पुनः अधिकार में किया जा सकता है। कथकली प्रशिक्षण की यह बहुत बड़ी खासियत है कि यह अभिव्यक्ति के लिए कलाकार को उसके शरीर के प्रत्येक भाग को पृथक् और एक-साथ उपयोग करने का अवसर देती है। इसमें एक भाग दूसरे का स्थान भी ले लेते हैं।

यह प्रक्रिया अनुभवों एवं प्रभावों की एक पूरी शृंखला के रिस-रिस कर कलात्मक अभिव्यक्ति में प्रस्फुटित होने में सहायक रही है। इसी प्रक्रिया ने मुझे नुक्कड़ नाटक से नृत्य-नाटिका से हास्य नाटक से नृत्य कला तक पहुंचने में सहायता

दी। और इन सभी में वह तत्त्व था जिसे मैं व्यापक रूप में 'सामाजिक समझ' कहती हूं और जिसे मैंने अपने छात्र जीवन में अपनाया। इसी समझ ने मेरी इस यात्रा का मार्ग सुनिश्चित किया और उसकी भाषा बनाई।

मेरी दूसरी नाट्य प्रस्तुति थी 'द जॉब'। ब्रेख्त की यह लघु कथा एक ऐसी महिला के जीवन की वास्तविक घटना पर आधारित है जो स्वयं और अपने दो बच्चों को सिर्फ जीवित रखने के लिए बारह वर्षों तक एक पुरुष के वेश में काम करती रही। मैंने अपने दो कार्य निश्चित कर लिए। मुझे बोलने और चलने का काम हर हाल में एक साथ करना होता। मैं उन वस्तुओं के साथ काम करती जिनका उपयोग महिलाएं घरेलू कार्यों जैसे कपड़े धोने, मसाला कूटने, स्नान करने और आटा गूंथने में किया करतीं। इन गतिविधियों के साथ कार्य करने की प्रक्रिया में मैं यह देखना चाहती थी कि क्या कहानी के भिन्न-भिन्न टुकड़े मेरे समक्ष अपना 'रहस्योद्घाटन' करेंगे। मैं इन गतिविधियों का अभिनय करते हुए मूल पटकथा का निर्माण करती। कभी-कभी यह तरीका काम करता, कभी-कभी नहीं। पर जब यह काम नहीं करता तो मैं ब्रेख्त के शब्द कंठस्थ कर लेती और उन शब्दों एवं गतिविधियों की लय के साथ इस प्रकार अभिनय करती कि वे दोनों एक-दूसरे को उछाल फेंकते। उदाहरण के लिए चार किलो आटा गूंथने की प्रक्रिया में मैंने महिलाओं के उस संघर्ष को उजागर करने का प्रयास किया है जो वे अपने 'रहस्य' को छिपाने के लिए करती हैं। और इस संघर्ष के साथ वे जीने एवं काम करने की प्रक्रिया में मशगूल रहती हैं।

'डिपार्चर्स' एक विचार से अभिप्रेरित प्रस्तुति थी। वस्तुतः यह शब्द मात्र की विभिन्न अनुगूंज ही थी। एक बार जब मैं एक लंबे समयांतराल के लिए बाहर जा रही थी उससे लगभग दो घंटे पूर्व मुझे ध्यान आया कि मैंने किसी सूटकेस में कपड़े आदि को रखा ही नहीं था। मैंने अपना सारा समय अपने घर का रखरखाव उस प्रकार करने में लगा दिया था जैसा मैं अपनी अनुपस्थिति में चाहती थी। इस तरह सजा दिया था जो मेरी अनुपस्थिति में रहने वाले लोगों के लिए आरामदायक और सुकून देने वाला होता। बाहर निकलने से कुछ पहले मैंने कुछ कपड़े जैसे-तैसे सूटकेस में ठूंस दिए और बाद में मुझे पता चला कि उनमें अधिसंख्य उस यात्रा के लिए फिजूल थे। इस घटना ने मुझे सोच में डाल दिया—हम क्या ले जाना चाहते हैं और क्या पीछे छोड़ जाते हैं। अपनी सोच, काम, प्रवृत्ति आदि कई बातों से हम बार-बार विदा लेते हैं। और फिर बाद में हमें कैसे पता चलता है कि हम बदल गए हैं पर यह तय नहीं कर पाते कि कब और कैसे? एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए पलायन (डिपार्चर्स) आज के

युग की सार्वत्रिक घटना हो गई है। लाखों लोग एक स्थान छोड़ दूसरे स्थान को नया घर बना लेते हैं।

आज मैं अपने आपको परिपूर्ण और खाली दोनों अवस्थाओं में पाती हूं। वस्तुतः ये दोनों अनवरत रहने वाली दशाएं हैं—कभी खालीपन होता है तो कभी पूर्णता। आप जितना अधिक काम करते हैं उतना ही खुद को खाली महसूस करते हैं और उतनी अधिक संभावनाएं उभरती हैं। ढेरों स्थान, ढेरों संभावनाएं! घुप्प अंधेरे सिनेमा हॉल में गुफ्तगू किसी नाटक का आरंभिक बिंदु बन सकता है। या फिर 104 मंजिले डब्लू टी सी टावर, हवाई जहाज से ध्वस्त, में फंसे 50,000 लोगों के बारे में कल्पनारत बच्चे, एक जर्जर हुआ कपड़ा मिल, कैफेटेरिया, घर, खेत, फैक्ट्री, शौचालय... और हां, सड़क एवं ऑडिटोरियम भी नाटक के शुरुआती बिंदु हो सकते हैं। कोई नाटक पूर्व अभ्यास या किसी विचार से अनुप्राणित हो सकता है। यह अपने आप में सिनेमा, फोटोग्राफी, नृत्य, संगीत सदृश कला के अन्य रसों को समाए रख सकता है। तकनीकी सुविधाएं—लेजर से लेकर कंप्यूटर तक तो हैं ही। वस्तुतः इसने दुनिया को देखने और उस पर सोचने के प्रति हमारे नजरिए को बदलना शुरू कर दिया है। भले ही इससे दुनिया में यथार्थतः कोई परिवर्तन न हो।

नाटक, और खासकर एकल अभिनय महिला कलाकारों के लिए बहुत ही चुनौतीपूर्ण और मुक्तिदायक साबित हुआ है। महिला कलाकार/निर्देशिकाएं अब अपनी नई भाषा और शैली को लेकर चर्चित हो रही हैं। माना आज भी महिलाएं कुछ भी दिखाकर, नारी उत्पीड़न पर कलात्मक भावुक प्रस्तुति दिखाकर, दर्शकों की फूहड़ तालियां बटोर सकती हैं पर उन्होंने सर्जना का भूदृश्य भी तो बदला है। वे निरंतर आत्मान्वेषण में लगी रहती हैं। इस हेतु वे आपके एवं दुनिया के बीच अदृश्य डोर को सदैव तना हुआ और कंपायमान रखती हैं। यदि इस डोर को आप छूट जाने देते हैं तो महिला होने के नाते सुलभतया एक पीड़ित की भूमिका निभाने के लिए अभिशप्त हो जाते हैं। और यह दुनिया आपको उसी रूप में देखेगी।

आप स्वयं को इस दुनिया से अलग (चूंकि वस्तु उत्पादन प्रक्रिया के इतिहास ने एक प्रकार से हमारे साथ यही किया, हमें उससे बाहर ही छोड़ दिया) रख सकती हैं। और इस पर हंस सकती हैं। एक महिला के रूप में अपने आप पर हंस सकती हैं। महिलाएं यह काम बखूबी करती हैं—या विडंबना के रूप में करना होता है। लंबी, नम दोपहर में चारपाई पर बैठकर वे ऐसा करती हैं। पर हम जिस गड्ड-मड्ड दशा में हैं उस पर एक स्वस्थ सतत कटाक्ष परिवर्तन के पहिए

को पटरी पर रखने के लिए जरूरी है। हम कई परिस्थितियों, आंदोलनों, बिंबों, नजरों, आदर्शों... ढेर सारी महिलाओं की लिखित-अलिखित जीवनियों से गुजर चुके हैं। ये सब चुनौती के अंग भी तो हैं।

मैं आज तक जिन परिस्थितियों से गुजरी हूं, जो कुछ किया है, उन सबको देखकर यह नहीं लगता कि मैंने बहुत कुछ हासिल किया है। काश मुझे पहले कोई मिला होता जो मेरा मार्गदर्शन अधिक स्पष्ट दृष्टिकोण के साथ करता। मैं महज संयोग पर, अचानक मिली उपलब्धि पर अत्यधिक निर्भर करती रही। मैं अपनी सीमा का पुनः निर्धारण अत्यधिक सुलभता से कर सकती हूं। मुझे लगता है मैं अपने को अनुशासित रख कर बेहतर हो सकती थी। बचपन में जो जगह, महत्ता मुझे दी गई उसका बेहतर इस्तेमाल मैं कर सकती थी। कितना अच्छा होता कोई पुरुष, मेरे पिता, मेरी किशोरावस्था में अधिक सकारात्मक भूमिका निभाते। मैं यथार्थतः एक महिला-जगत की देन हूं। काश मैं एक सहज लड़की की भांति पल-बढ़ पाती। और अपने आपको और अधिक पसंद करती। मैं यह भी सोचती हूं कि काश मैं उन अव्यक्त चिंताओं, अपने आप से बेचैनी के कारण भय से ग्रस्त और अपने आप में विश्वास की कमी की शिकार नहीं होती। इन सबसे निश्चिंत रहती।

कल्पना लाजमी (जन्म : 1954) पुरस्कृत हिंदी फिल्म निर्मात्री और रंगकर्म से जुड़ी शख़्सियत हैं। उन्होंने कई वृत्तचित्र, टेलीविजन धारावाहिक और फिल्में बनाई हैं। उनकी प्रस्तुतियों में प्रमुख हैं : 'डी. जी.मूवी पायनियर', धीरन गांगुली का जीवन-वृत्तचित्र (1978); फीचर फिल्म 'एक पल' (1986); 'रुदाली' (1993); 'दरम्यान' (1997); और 'दमन' (2001); टेलीविजन धारावाहिक 'लोहित किनारे' (1988); 'डॉन' (1997); और 'ग्लिंपसेज ऑफ द मिस्टी ईस्ट' (1997)। सन् 1994 में 'रुदाली' के उत्कृष्ट निर्देशन के लिए लाजमी को वी. शांताराम पुरस्कार दिया गया।

18

कैमरे के पीछे

कल्पना लाजमी

मेरा बचपन बहुत ही आराम से बीता था। विशेष कर विकास, संपन्नता और कलाओं से परिचय के मामले में मैं सौभाग्यशाली थी। ऐसा इसलिए भी क्योंकि मेरी मां, ललिता लाजमी, एक सुविख्यात चित्रकार थीं, बल्कि हैं। उन्होंने बचपन में ही कविता, चित्रकारी, सिनेमा और थिएटर से मेरा परिचय करवा दिया। मेरी नानी, स्वर्गीया वसंती पादुकोणे, ने मेरे सपने गढ़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने ही मेरे समक्ष साहित्य की दुनिया का दरवाजा खोला। वे कुशल कथा वाचक, फुर्तीली और करिश्माई थीं। स्वाध्यायरत मेरी नानी भारत की नौ प्रमुख भाषाएं लिख-बोल सकती थीं। कहानी कहने में उनका कोई सानी नहीं था। वे मुझे महाभारत, रामायण, पंचतंत्र और भारत की अन्य सभी ऐतिहासिक, पौराणिक और लोक कथाओं के संसार की सैर करवातीं। उन्होंने मुझे पढ़ना सिखाया और न सिर्फ अंग्रेजी भाषा और साहित्य में, बल्कि बंग्ला साहित्य में भी मेरी रुचि जगाई। ये आगे चलकर मेरे संबल बने। मेरे बचपन में स्वच्छंदता तो थी पर मुझ पर लोगों की नजर भी रहती। मेरे पिता बहुत ही शालीन व्यक्ति थे। उन्होंने मुझे एक 'गोरी मेमसाब' बना दिया—पाश्चात्य शिक्षा, और पूर्वी प्रवृत्ति वाली लड़की। मेरे माता-पिता ने कभी भी मुझे या मेरे भाई को आर्थिक तंगी का अहसास नहीं होने दिया। किताबें, कॉमिक्स, कपड़े, कॉन्वेंट स्कूल में शिक्षा, नाटकों एवं वाद-विवाद में भाग लेने की अनुमति, दोस्तों के मामले में पर्याप्त स्वतंत्रता...मुझे तो सपनों का बचपन मिला था।

मैं अब अपनी किशोरावस्था की ओर चलती हूं जिस पर श्याम बेनेगल, मेरी मां के ममेरे भाई का बहुत अधिक प्रभाव था। वे मेरे युवा संसार में एक पिता की भांति आए और इस प्रकार मैंने दृश्य माध्यम में अपना पहला कदम रखा। उनके माध्यम से मैंने वाल्ट डिज्नी, पेरी द स्क्विरल, क्रिसमस पार्टीज़, विज्ञापन, वाणिज्यिक विज्ञापन और रेडियो जिंगल्स की दुनिया देखी। जादू, रोशनी,

रंग और अभिनय की इस दुनिया से मैं पूरी तरह सम्मोहित हो गई।

सारस्वत ब्राह्मण मूलतः कश्मीर के हैं जो कुछेक सौ वर्ष पूर्व मुंबई और कर्नाटक में बस गए थे। इस समुदाय के अधिकांश लोग व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त, और नौकरी करने वाले होते हैं। व्यवसाय कम ही करते हैं। ये लोग कर्मनिष्ठ, कलात्मक अभिरुचि वाले होते हैं। इन्हें अपने ख्यातिनाम लोगों पर गर्व होता है और ये अपनी बिरादरी के किसी सदस्य में विद्यमान क्षमता को उभारने के लिए सदैव उत्सुक होते हैं। इसलिए एक लड़की होने के बावजूद मैं इतनी भाग्यशाली थी कि अपने प्रत्यक्ष और संपूर्ण परिवार से हर संभव मदद, समर्थन और प्रोत्साहन मुझे मिला।

मैंने मेहर वकील के मार्गदर्शन में एक थिएटर में अभिनय से शुरुआत की। उन दिनों मैं स्कूल में ही थी। चूंकि यह लड़कियों का स्कूल था सो मुझे आसानी से एक लड़के की भूमिका मिल जाती! कॉलेज में मैंने पर्ल पदमसी के लिए अंग्रेजी और पंडित सत्यदेव दूबे के लिए हिंदी थिएटर में काम किया। दोनों ने मुझे एक संपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में संवारा। अभिनय, निर्माण, रूप-सज्जा और प्रकाश व्यवस्था—मंच और उसके पीछे की हरेक गतिविधि, में प्राप्त ठोस आधार ने चलचित्र में मेरी रुचि को साकार बनाया। सन् 1974, सेंट जेवियर्स कॉलेज में मेरा अंतिम वर्ष था... मैं अपनी उम्र के अधिकांश लड़के-लड़कियों की भांति एक चौराहे पर खड़ी थी। सचमुच यह नहीं समझ पा रही थी कि आगे क्या किया जाए। अतः श्याम बेनेगल के पास गई जिन्होंने सलाह दी कि यदि मैं सिनेमा की दुनिया में प्रवेश करती हूं तो अपनी बात थिएटर की अपेक्षा अधिक कह सकूंगी क्योंकि सिनेमा की पहुंच अधिक है और यह अन्य सभी कलाओं से अधिक स्थाई रही है। बेनेगल ने जो कहा उससे मुझे एक दिशा मिल गई और उसके बाद मैंने मुड़कर नहीं देखा।

मैंने कोई औपचारिक शिक्षा नहीं ली। श्याम स्वयं युवा और नए थे; वे स्कूल-शिक्षक की भांति काम नहीं करते। मैं बिना किसी औपचारिक ज्ञान या अनुभव के फिल्मी दुनिया में कूद तो गई पर शुरू में यह काम पहाड़-सा लगा। बल्कि उस समय से यह संघर्ष बना ही हुआ है। संवाद, शिक्षण और कथा की गतिशीलता समझने के दृष्टिकोण से मेरी उम्र बहुत कम थी। स्वयं सर्जनात्मक रूप से विकसित होने के बदले मैं दस वर्षों तक उस उत्सुक छात्र की तरह बर्ताव करती रही जो अपने छोटे-से-छोटे हरेक काम के लिए हमेशा बड़ों की शाबाशी की उम्मीद करता है। मुझे 350 रु. मासिक मिलते थे। मैंने सबसे निचले स्तर से काम शुरू किया था—फिल्म के डिब्बे ढोती, पुरानी पोशाकें सहेजती, उनमें

इस्तरी करती, कला और पोशाक विभागों के बीच संदेशवाहक का काम करती, कलाकारों को पटकथा पहुंचाती और उत्सुकतापूर्वक संपादन कक्ष में प्रवेश पाने की प्रतीक्षा करती। दुर्भाग्यवश मुझे कभी भी पटकथा लेखन या सर्जनात्मक संपादन का अवसर नहीं मिला। सिंहावलोकन में मुझे लगता है मैं मूलतः निर्माण में सहायिका थी जिसे 'सह निर्देशक' का तमगा लगा दिया गया था। मुझे लगता है कि एक फिल्म स्कूल मुझे फिल्म संबंधी सभी प्रकार की शिक्षा देता और मैं अपने कार्य के बहुत आरंभिक वर्षों में ही किसी फिल्म की पूरी परिकल्पना करना सीख जाती। मुझे आज भी औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं करने का खेद है।

मेरी अन्य रुचियों में पढ़ाई महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रति मेरा गहरा लगाव है। मुझे नाटक और नृत्य प्रदर्शन अच्छा लगता है। सभी प्रकार की फिल्में—मुख्यधारा, लोकप्रिय, अंडरग्राउंड, स्वच्छंद, ब्रिटिश, हॉलीवुड, यूरोपीय, चीनी, आस्ट्रेलियाई, और हिंदी फिल्में देखना पसंद करती हूं। मुझे जानवरों का बहुत शौक है और अपने मुंबई एवं आसाम के घरों में मैंने कुल दस कुत्तों को अपना रखा है। मुझे उनकी संगत में बहुत सुकून और शांति मिलती है। वे मेरे गुस्से को ठंडा करने का काम करते हैं और मुझे कल्पना से अधिक प्रेम और वफादारी देते हैं।

मैं जिस क्षेत्र में काम करती हूं उसका एक लाभ है रातों-रात काम को मिलने वाली प्रसिद्धि, और उस पर लोगों की नजर। किसी अन्य कला, नृत्य आदि की तुलना में यह कहीं जल्दी प्रसिद्धि दिलाती है। और फिर सिनेमा एक विशाल जनसमूह तक पहुंचने की क्षमता भी रखती है। लेकिन इसकी खामियां घातक हैं क्योंकि एक तरफ लोग इसे कसौटी पर रखते हैं और भूरि-भूरि प्रशंसा मिश्रित आलोचना करके आपको काल्पनिक लोक में पहुंचा सकते हैं। आपमें सुरक्षा की भावना घर कर जाती है और एक आत्ममुग्धता आ जाती है। परंतु, दूसरी ओर उसी क्रूरता से वही आपको अस्वीकार कर देते हैं और हताशा की गहराई में धक्का दे देते हैं। अतः इस क्षेत्र में लोगों को प्रसिद्धि और गुमनामी, स्वीकृति और तिरस्कार, प्रशंसा और आलोचना के बीच संतुलन बना कर चलना चाहिए।

मेरे बाद की पीढ़ी अत्यधिक भाग्यशाली रही है क्योंकि पहले की पीढ़ियों में गिनी-चुनी महिला फिल्म निर्मात्री थीं। अब उनका सैलाब आ गया है—खासकर टेलीविजन की दुनिया में। उन्हें हमारी तुलना में कंप्यूटर और 'मास कम्यूनिकेशन' से अधिक परिचय और उसका लाभ प्राप्त है। मेरी तो यही कामना है कि यह पीढ़ी अधिक प्रतिबद्ध हो। वे लोग हमेशा पाने की ललक छोड़कर अच्छे फिल्म-निर्माता बनने पर ध्यान दें। यही मेरी कामना है।

बछेंद्री पाल *(जन्म : 1954) प्रथम भारतीय महिला हैं जो सन् 1984 में माउंट एवरेस्ट की चोटी पर पहुंचीं। वह हमारे सर्वाधिक पुरस्कार प्राप्त पर्वतारोहियों में एक हैं। वह वस्तुतः भारत के सभी पर्वतों की चढ़ाई कर चुकी हैं। और सन् 1997 में अरुणाचल प्रदेश से सियाचिन तक 'प्रथम महिला ट्रांस-हिमालय यात्रा' और सन् 1994 में हरिद्वार से कोलकाता तक 'ग्रेट इंडियन वीमेंस रैफ्टिंग वोयाज़' समेत कई अभियानों एवं कठिन पर्वतारोहण कार्यक्रमों का नेतृत्व कर चुकी हैं। बछेंद्री पाल ने यूरोप स्थित माउंट ब्लांक की चढ़ाई सन् 1986 में पूरी की। और सन् 1993 में 'भारत-नेपाल महिला माउंट एवरेस्ट अभियान' का नेतृत्व किया जिसमें सात विश्व रिकार्ड बने। वे एक्स्प्लोरर्स क्लब, न्यूयार्क; रायल ज्योग्राफिक सोसायटी, यू.के.; और भारतीय पर्वतारोहण संघ, दिल्ली समेत कई अन्य संस्थाओं की सदस्या हैं। वह कम-से-कम एक दर्जन बड़े पुरस्कार जिनमें पद्मश्री (1985); अर्जुन पुरस्कार (1986); नेशनल एडवेंचर पुरस्कार (1994); पर्वतारोहण में उत्कृष्टता के लिए स्वर्ण पदक; यशपाल भारती पुरस्कार (1995) प्राप्त कर चुकी हैं। गिनीज़ बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड्स (1990) और लिम्का बुक ऑफ रिकार्ड्स (1997) में भी उनका नाम दर्ज है। उन्होंने 'एवरेस्ट : माई जर्नी टू द टॉप' नामक एक पुस्तक भी लिखी है।*

19

शिखर पर खड़ी

बछेंद्री पाल

मेरा जन्म गढ़वाल में उत्तरकाशी के निकट एक छोटे, पर सुंदर, पहाड़ी गांव नाकुरी में हुआ था। पास से बहती थी कलकल की ध्वनि करती हिलोरें लेती नदी भागीरथी। मेरे माता-पिता कठोर परिश्रम करने वाले, अपने-आप में संतुष्ट रहने वाले, लोग थे। यद्यपि हमारा परिवार गरीब था, किसी तरह बसर करने वाला, पर मेरे पिता ने हमें सिखाया कि किस प्रकार आत्मसम्मान और मर्यादा बनाकर रहना चाहिए। ये आज भी हमारे सर्वाधिक सुरक्षित पारिवारिक मूल्य हैं। साथ ही मेरे माता-पिता इस कथ्य का धर्मतः पालन करते रहे : "दयालुता सभी धर्मों का सार है।" वे उदार हृदय वाले थे और सामने से गुजरने वाले ग्रामीणों को चाय पी लेने का आग्रह किया करते। घर पर आने वाले साधुओं एवं पंडितों को अनाज देना नहीं भूलते। मुझमें यह गुण इस प्रकार रच-बस गया कि मैं भी अन्य लोगों के सुख-दुख में शामिल होती हूं। उनके जीवन में परिवर्तन लाने की चेष्टा करती हूं। लोग भले ही मेरे अपने घर के हों, या समाज या फिर कार्यस्थल के।

मैं अपने परिवार की तीसरी संतान थी और विद्रोही स्वभाव की थी। हम भाई-बहनों का क्रम इस प्रकार था—लड़की, लड़का, लड़की, लड़की और लड़का। मुझमें हर बात पर प्रश्न पूछने की आदत पड़ गई और मैं किसी लड़की के लिए तय पारंपरिक जीवन शैली से संतुष्ट नहीं थी। मैंने जब अपने बड़े भाई बछन को देखा कि वह सबसे छोटे भाई राजू को पहाड़ पर चढ़ने के लिए प्रेरित कर रहा है तो मैंने सोचा, मैं क्यों नहीं? मुझे लगने लगा मेरे भाइयों से हमेशा अच्छा बर्ताव किया जाता और उनके सामने सभी अवसर और विकल्प खुले थे। इसने मेरी यह दृढ़ता बढ़ा दी कि मैं सिर्फ वही करूंगी जो लड़के कर रहे थे, बल्कि उनसे बेहतर करूंगी।

पहाड़ी लोगों की सामान्य सोच यह थी कि पर्वतारोहण उनके लिए किसी खेल या अभियान की भांति नहीं था। वे स्वयं को जन्मजात पर्वतारोही मानते

थे क्योंकि उन्हें अपनी दैनिक जीविका एवं अन्य कार्यों के लिए पहाड़ पर चढ़ना-उतरना पड़ता था। हालांकि मैं एक छात्रा के रूप में विदेशी पर्वतारोहियों को गांव से गुजरते हुए उत्सुकतापूर्वक देखा करती। मैं यह सोचकर हैरत में पड़ जाती कि वे जाते कहां हैं! उन्हें अपने घर पर चलने का आग्रह करती और उनकी यात्राओं के बारे में अधिक जानने के लिए उनसे बातें किया करती। इसका असली महत्त्व मुझे बाद में पता चला जब मैंने काम करना शुरू किया। विदेशी इतना कष्ट झेलकर हिमालय में आते ताकि पर्वतारोहण के सामाजिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक पक्षों के बारे में स्वयं को शिक्षित कर सकें। उन्हें प्रकृति के विशाल फैलाव में शांति की तलाश भी होती।

पहाड़ों में स्कूल और कालेज के दिनों बाहरी भ्रमण और खेलकूद में मेरी रुचि बहुत स्वाभाविक थी। मैं जिस खेल में गई उसमें अव्वल आई। इस प्रकार मैंने कई पुरस्कार जीते और उन्हें बड़े गर्व से घर लाती। धीरे-धीरे सही, पर निश्चय ही खेल में मेरी मेधा के परिणामस्वरूप मुझे मान्यता मिलने लगी। एक के बाद दूसरी उपलब्धि—धीरे-धीरे मेरा आत्मविश्वास और आत्मसम्मान बढ़ने लगा। मैं घर से बाहर की गतिविधियों में भी अच्छी थी और युवा लोगों को उनमें शामिल करने के लिए बहुत कष्ट भी उठाती। यह नेतृत्व और सांगठनिक कौशल मुझमें जन्मजात था, बस एक अवसर चाहिए था! एवरेस्ट की चढ़ाई के बाद यह अवसर मिला, जब टाटा स्टील ने मुझे अपने सभी साहसिक खेल कार्यक्रमों का प्रमुख नियुक्त किया। वहां साहसिक खेलकूद के लिए एक पूरा नया विभाग ही बनाया गया।

एम. ए. और बी. एड. कर लेने के बाद भी मैं घर के काम में हाथ बंटाने से नहीं हिचकती थी। पहाड़ की ऊंचाइयों से जलावन या घास भी लाया करती। यह एक अद्‌भुत गुण था जो मैंने अपने माता-पिता से प्राप्त किया था। उन्होंने मुझे 'पढ़ाई' का सही अर्थ समझाया था। मैं आज तक वैसा ही अनुभव करती हूं और घर हो या समाज, पूरे दिन का काम कर संतुष्ट और खुश रहती हूं।

एक शिक्षित बेरोजगार की स्थिति मेरे लिए सबसे कठिन परीक्षा की घड़ी थी पर यह मुझे हवाई जहाज में उड़ने, कारों में सफर करने और नामी लोगों से मिलने के स्वप्न देखने से नहीं रोक पाई। भगवान की कृपा से अवसर ने दस्तक दी तो मैंने उत्तरकाशी में पर्वतारोहण का आरंभिक प्रशिक्षण लेना प्रारंभ किया। इस प्रशिक्षण में अपने प्रदर्शन से मैं स्वयं दंग थी और उप-प्रधानाचार्य कर्नल प्रेमचंद ने दावे के साथ मुझे 'एवरेस्ट के लिए उपयुक्त' घोषित कर दिया। एक ऐसी लड़की जिसे एवरेस्ट अभियान दल में शामिल किया जा सके। इसके बाद

तो पीछे मुड़कर देखने का सवाल ही नहीं उठता था। मैंने पर्वतारोहण का अपना आधुनिक प्रशिक्षण भी जबरदस्त सफलतापूर्वक संपन्न किया। यह मेरे लिए खुद को पहचानने की घड़ी थी और मैंने समय पर अपने अंदर छिपी असली संभावना और जन्मजात प्रतिभा पहचान ली थी।

भारतीय एवरेस्ट अभियान के लिए निर्विवाद चुन लिए जाने के बाद मैं तदर्थ चुस्त-दुरुस्त बने रहने के लिए नियमित अभ्यास करती रही। एक योग्य पर्वतारोही बनने के लिए स्वयं नए-नए तरीके अपनाती रही। घर के कामों के लिए हमें ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों से घास या जलावन का बोझा ढोकर लाना होता। मैं नाकुरी में अपने घर से पत्थर के भारी टुकड़े लेकर पहाड़ की ऊंचाइयों पर जाती। अच्छे संतुलन और ऊंचाई के प्रति भय को दूर करने के लिए मैं अधिक खड़ी चढ़ाई और कठिन रास्ता चुना करती। मैं जान-बूझकर शिलाखंड या खड़ी चट्टानों पर चढ़ जाती और साथ ले गए पत्थरों को ऊपर ही छोड़ देती और जलावन या घास का बोझा लेकर चली आती। मुझे पत्थर ढोता देखकर मेरे पिता मजाक में लोगों से कहा करते : "जानते हैं बछेंद्री पत्थर ढो कर ले जाती है, वह शायद पहाड़ की ऊंचाइयों में अपने लिए घर बना रही है।" इस प्रकार मैं अपने घर का काम और अपना कठिन अभ्यास दोनों जारी रखती जो मेरे लिए आगे चलकर एक वरदान साबित हुआ।

पर्वतारोहण में जिस प्रकार मेरे सपने साकार हो रहे थे उससे मैं खुश थी पर इससे मेरे और मेरे परिवार की आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। तब फरवरी, सन् 1983 में नेशनल एडवेंचर फाउंडेशन (एन ए एफ) के निदेशक ब्रिगेडियर ज्ञान सिंह उत्तरकाशी आए। वे राष्ट्रीय पर्वतारोहण संस्थान (एन आइ एम) के प्रशिक्षकों के लिए एक पर्वतारोहण प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करना चाहते थे। उन्होंने मुझ समेत सात स्थानीय शिक्षित महिलाओं का चयन एक छात्रवृत्ति के लिए किया। मैंने इस सुप्रसिद्ध, पर संवेदनशील वरिष्ठ पर्वतारोही से अपने मन की बात कही और यह स्पष्ट कर दिया कि मेरे माता-पिता मुझे विवाह के लिए दबाव दे रहे थे ताकि परिवार का वित्तीय बोझ कम हो। मैंने उनसे उन लोगों के लिए कोई रास्ता निकालने के लिए भी कहा जो गरीब थे पर पर्वतारोहण में रुचि और दक्षता रखते थे।

अगले दिन सुबह ब्रिगेडियर ज्ञान सिंह ने हमें 'भागीरथी सेवन सिस्टर्स एडवेंचर क्लब' हेतु आवेदन पत्र भरने के लिए कहा। उन्होंने विस्तार से बताया कि यह लड़कियों और महिलाओं का एक अनोखा संगठन होगा जो अन्य लड़कियों को पर्वतारोहण आदि के लिए प्रेरित करेगा, उसकी शिक्षा देगा। ब्रिगेडियर ज्ञान

सिंह ने वादा किया कि यह योजना प्रशिक्षु लड़कियों एवं महिलाओं की आर्थिक कठिनाइयों का समाधान करेगी। हमारा मनोबल आसमान छूने लगा, और हम तन्मयता से प्रशिक्षण में जुट गए।

प्रशिक्षण कैंप के पूरा होते-होते ब्रिगेडियर हमारे लिए पिता समान हो गए और मेरे सुझाव पर हम सभी उन्हें 'छोटे चाचा' कहकर बुलाने लगे। 28 फरवरी, सन् 1983 को जब छोटे चाचा उत्तरकाशी छोड़ कर गए तो हम सभी की आंखों में आंसू थे लेकिन उन्होंने यह वादा किया कि वे हमें स्वयं अपने एडवेंचर कार्यक्रम संचालित करने में मदद देने के लिए तीन महीने बाद आएंगे। वायदे के अनुसार 1 जून को वे कैंपिंग एवं ट्रेकिंग उपकरणों के 25 सेट लेकर आए। यह लड़कियों के लिए दो प्रशिक्षण कार्यक्रमों के लिए पर्याप्त था। आर्मी की मदद से उन्होंने यह व्यवस्था भी की कि तेखला में एक तंबू (शिविर) लगाया जाए।

जमशेदपुर से 13 लड़कियों का पहला दल आया था। दूसरा दल मेघालय का था जिसमें शिलांग की 15 उत्साही लड़कियां थीं। प्रत्येक प्रशिक्षण कार्यक्रम में 20 स्थानीय लड़कियों को छात्रवृत्ति देकर रखा गया। मुझे कार्यक्रम की निदेशिका और विजया पंत को उप निदेशिका नियुक्त किया गया। क्वार्टर-मास्टर और चिकित्सा सहायक जैसी जिम्मेदारी बारी-बारी से सात बहनों (सेवन सिस्टर्स) को दी जाती। हमें प्रशिक्षण कार्यक्रम में योगदान के लिए मानदेय दिया जाता था। बाद में कागजी कार्रवाई पूरा करने में व्यस्तता का बहाना बनाकर छोटे चाचा ने हमें दूसरा कार्यक्रम पूर्णतया अपने बूते चलाने के लिए कहा। पहले तो मैं घबरा गई पर उत्तरदायित्व के साथ ही आत्मविश्वास आया और सब कुछ सही-सही संपन्न हुआ। बच्चों ने जब छोटे चाचा को बताया कि उन्हें बछेंद्री दीदी के साथ ट्रेकिंग में कितना मजा आया तो मुझे बेहद संतुष्टि और उपलब्धि की अनुभूति हुई।

सन् 1984 में आयोजित भारतीय एवरेस्ट अभियान पहला पुरुष-महिला अभियान था और इसका मूल उद्देश्य था भारतीय नारी को माउंट एवरेस्ट की चढ़ाई में आने वाली चुनौती का सामना करने का अवसर प्रदान करना। दल में मेरे समेत सात महिलाएं थीं। अन्य सदस्यों की तुलना में मेरा यह पहला बड़ा अभियान था। शेष अधिक अभ्यस्त पर्वतारोही थीं। इस मिश्रित दल की अपनी समस्याएं थीं। इसमें लोगों की पसंद-नापसंद विकसित हो गई पर कुछ सदस्यों की ऊर्जा निरर्थक कामों में लग गई। एक नौसिखुआ होने के कारण मेरी रुचि सिर्फ चढ़ाई में थी जो अपने-आप में जीवन और मृत्यु के बीच एक दैनिक संघर्ष थी। हालांकि शिखर पर विजय की महत्त्वपूर्ण घड़ी में मेरी कठिनतम परीक्षा बाकी थी। एवरेस्ट ने सचमुच मेरी दक्षता और दृढ़ता दोनों की अग्नि परीक्षा ले ली।

बुद्ध पूर्णिमा, मई 15-16, सन् 1984 के दिन मैं कैंप-3 के रंग-बिरंगे नायलन तंबू में थी—ल्होत्से के हिमाच्छादित खड़ी ढाल पर टिकी हुई। दस अन्य लोग भी कैंप में थे। लोपसांग त्सेरिंग मेरे तंबू में था। एन. डी. शेरपा और आठ ऊंची चढ़ाई के माहिर शेरपा मालवाहक अन्य तंबुओं में थे। मैं गहरी नींद में थी जब रात्रि के लगभग 12.30 बजे जोरदार धमाका हुआ और कोई ठोस चीज मेरे सिर से आ टकाराई। मैं हड़बड़ाकर उठ गई। मुझे लगा कोई सर्द, बहुत भारी पदार्थ मेरे शरीर पर रेंग रहा था और मैं दबी जा रही थी। मैं बड़ी कठिनाई से सांस ले पा रही थी।

क्या हो गया था? ठीक हमारे कैंप के ऊपर ल्होत्से हिमनद की एक लंबी बर्फीली चोटी फट गई थी और तेज गति से नीचे आ रही थी। यह एक भयानक हिमस्खलन था। बर्फ के भीषण टुकड़ों का ढेर, बर्फ का चूरा आदि गड़गड़ाहट के साथ किसी एक्सप्रेस ट्रेन की भांति लगभग खड़ी ढाल पर फिसला आ रहे थे। इसी के रास्ते में पड़ा हमारा कैंप तहस-नहस हो गया। यों तो सभी लोग घायल हुए पर चमत्कार यह हुआ कि कोई मरा नहीं। लोपसांग अपने 'स्विस आर्मी नाइफ' (विशेष चाकू) से हमारे तंबू को फाड़कर निकलने में कामयाब रहा था। वह तत्काल मुझे ढूंढ़ने और बचाने का बेतहासा प्रयास करने लगा। देरी का अर्थ मौत था। बर्फ के बड़े-बड़े सिलों को धकेलते, हांफते हुए उसने मेरे गिर्द जमे कठोर बर्फ को खोद डाला और मुझे बर्फ के उस कब्र से खींच निकालने में सफल रहा।

रसोई के अतिरिक्त एक भी तंबू खड़ा नहीं था। मैं और लोपसांग उसी के पास पहुंच गए। वहां एन. डी. कैंप-2 के नायक से वाकी-टाकी पर बात कर रहा था! एन. एस. शेरपा ने कहा कि उसकी कुछ पसलियां टूट गई थीं। एक अन्य शेरपा की टांग फ्रैक्चर हो गई थी। इसके अलावा भी कई लोगों को चोटें आई थीं। दर्द की कराह और मदद के लिए पुकार चारों तरफ सुनी जा सकती थी। लेकिन एन. डी. ने कैंप-11 के नायक को आश्वस्त किया कि सब कुछ समाप्त नहीं हो गया था—अभियान में अब भी बहुत दम-खम बचा था।

अब तक हममें से अधिसंख्य रसोई के तंबू में या उसके निकट एकत्र हो गए थे। प्राथमिक चिकित्सा के अपने डिब्बे से मैंने सभी को दर्दनिवारक गोलियां दीं और गर्म पेय तैयार किया। संकट की इस घड़ी में मैं जब लोगों के काम आई तो मेरा उत्साह बढ़ा और मुझे घेरे दुःख के बादल और हताशा भी छंट गए।

पुरुष सदस्यों ने जब चोट या भय से बेस कैंप लौट जाने का निर्णय लिया

तो हमारे नायक ने मुझसे (उस 'शिखर अभियान दल' में एकमात्र महिला होने के कारण) पूछा कि क्या मैं शिखर विजय का एक और प्रयास करूंगी। मैंने कहा, "हां सर, मैं करूंगी।" वस्तुतः इस दुर्घटना से निपटने के बाद मेरा आत्मविश्वास बढ़ गया था। इस निर्णय ने मेरे जीवन को एक नया मोड़ दे दिया। मैंने मन ही मन सोचा कि अंतिम सत्य से बुरा कुछ नहीं हो सकता। भगवान ने मेरी जान बचाई थी और शायद मेरे लिए यह एक संकेत था कि मैं एवरेस्ट के साथ अपना नाता बनाए रखूं। मैंने अपने अंदर एक अद्‌भुत उत्साह महसूस किया और नई ताकत विकसित की। यही वह घड़ी थी जब मैंने महिला की शक्ति अनुभव की, एवरेस्ट के साथ अपना नाता बनाए रखने की शक्ति।

पुनर्गठित शिखर अभियान दल 22 मई को दक्षिण कोल के लिए रवाना हो गया। कैंप-4 दक्षिण कोल में अवस्थित था, जो शिखर कैंप भी था। शिखर दल में मैं एकमात्र महिला थी क्योंकि मैं तंदुरुस्त थी और मेरा प्रदर्शन साहस भरा। नायक ने अभियान का सारा दारोमदार मुझ पर छोड़ दिया क्योंकि यह चौथा भारतीय एवरेस्ट अभियान था जिसका मकसद खासकर भारतीय महिलाओं को शिखर पर पहुंचने का अवसर देना था। मैं अपनी आंतरिक ताकत पहचान गई और मैं इस अभियान में अपना सब कुछ झोंक देना चाहती थी। सबसे पहले मैं दक्षिण कोल पहुंची। मुझे पता था कि अन्य सदस्य अब भी कैंप-3 से कैंप-4 के बीच खड़ी चढ़ाई पर संघर्षरत थे।

अगले दिन सुबह 4 बजे ही मैं उठ गई। बाहर बहुत शांति थी। मैंने कुछ बर्फ को पिघलाकर पानी, और उससे चाय बनाई और जलपान के रूप में कुछ बिस्कुट और चॉकलेट लिए। मैं और अधिक ऊंचाई पर जाने की कल्पना से रोमांचित थी—मैं उन ऊंचाइयों तक कभी नहीं पहुंची थी। अपने तंबू में किसी तरह बैठ कर मैंने बड़ी कठिनाई से ऊपर चढ़ाई की पोशाक पहन ली। विरल हवा, आक्सीजन की कमी ने दिमाग और शरीर के बीच संतुलन कठिन बना दिया था। 18,000 फुट की ऊंचाई पर वातावरण में आक्सीजन की मात्रा भूतल की तुलना में आधी रह जाती है। जाहिर है 26,000 फुट, जहां मैंने रात बिताई, पर आक्सीजन की मात्रा और कम थी। इन ऊंचाइयों पर शरीर का क्षय बहुत तेजी से होता है और दक्षिण कोल पर कोई व्यक्ति चंद दिनों तक ही जीवित रह सकता है। इसलिए यह कहा जाता है कि दक्षिण कोल और उससे ऊपर 'चढ़ाई' का मुद्दा नहीं, बल्कि ऊंचाइयों को झेलने वाली बात रह जाती है। ठंडक -30 से -40 डिग्री सेल्सियस का होता है। बर्फ की खड़ी धारदार चट्टानों पर पीठ पर बोझ लादे चलना होता है। झेलनी पड़ती है बर्फीली हवा जो कभी-कभी 100 कि.मी. प्रति घंटे की रफ्तार से चलती है।

आगे की चढ़ाई हेतु अपनी विशेष पोशाक पहन लेने के बाद सुबह 5.30 बजे मैं अपने तंबू से बाहर आई। शेरपा सरदार आंग दोरजी बाहर खड़ा था। आसपास कोई और नहीं था। अन्य पुरुष पर्वतारोहियों की प्रवृत्ति के प्रति मेरे मन में एक शंका थी। इस अभियान के दौरान कुछ घटनाओं से मैं भांप गई थी कि यदि मुझे शिखर पर पहुंचना है तो दुस्साहसी कदम लेना पड़ेगा और स्वयं अपने पर्वतारोहण कौशल और ताकत में विश्वास रखना होगा। इसलिए मैं शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक रूप से भी तैयार थी। दुर्गा की एक मूर्ति को शिखर पर स्थापित करने के लिए मैं अपने साथ ले गई थी। दुर्गा शक्ति की प्रतीक हैं और इन विषम परिस्थितियों में लोग स्वभावतः दैविक शक्ति की ओर आस लगा बैठते हैं।

बर्फ की खड़ी चट्टानें कांच के टुकड़ों की भांति कठोर और भंगुर थीं। हमें बर्फ काटने वाली कुल्हाड़ी से काम लेना होता था। बर्फ की सख़्त सतह में क्रैम्पोन (विशेष कुल्हाड़ी) के अगले दांतों को धंसाने के लिए मुझे सचमुच बहुत ज़ोर से वार करना पड़ता था। खतरनाक रास्ते पर मैं एक-एक कदम फूंक-फूंक कर रखती। दोरजी अनवरत चलता रहा पर मुझे भी उसके साथ चलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। दो घंटे से पहले ही हम शिखर कैंप पहुंच गए। आंग दोरजी ने पीछे मुड़कर देखा और पूछा मैं थकी तो नहीं थी। मैंने जवाब दिया, "नहीं।" वह खुश और आश्चर्यचकित था। उसने मुझे बताया कि पहले के शिखर आरोही दलों ने वहां तक पहुंचने में चार घंटे का समय लिया था। उसने यह भी कहा कि यदि हम इसी रफ्तार से बढ़ते रहे तो 1 बजे शिखर पर होंगे। दक्षिणी शिखर के ऊपर हवा और तेज हो गई थी। उस ऊंचाई पर तेज हवा के झोंके से बर्फ की आंधी चलने लगी और कुछ भी देखना दुष्कर हो गया। कई बार मुझे घुटनों के बल बैठना पड़ा। बर्फीली आंधी की मार मैंने अपनी पीठ पर झेल ली। बर्फ का बिल्कुल सूखा बुरादा चारों ओर व्याप्त था।

चाकू की धार समान चोटी पर सीधा खड़ा रहना हड्डियों में सिहरन पैदा करने वाली बात थी। दोनों ओर अतल खाइयां थीं। मैंने अपनी कुल्हाड़ी को बर्फ की गहराई में धंसाया और अपनी कमर में बंधी पेटी को उसकी मूठ पर बांध कर खुद को संतुलित किया। 'दक्षिणी शिखर' और 'हिलैरीज़ स्टेप' नाम से प्रसिद्ध चोटी तक की चढ़ाई बहुत मशक्कत भरी थी। आंग दोरजी और ल्हातू उस पर पहुंच चुके थे पर मैं अब भी उसकी खड़ी चट्टान पर अपना रास्ता बना रही थी। इतने में आंग दोरजी शिखर की ओर नतमस्तक हुआ। मैं रोमांचित हो गई—लक्ष्य नजदीक था! नई उमंग के साथ मैं कुछ सेकेंड में हिलेरीज़ स्टेप के ऊपर थी।

सूरज ने बर्फ को कुछ नर्म बना दिया था और यहां की चढ़ाई पहले की अपेक्षा कुछ आसान हो गई थी।

हम कुछ समय तक बर्फ के भारी बुरादे में धंसते, चलते रहे। तब ऊंचाई प्रत्यक्षतः कम होने लगी। चंद कदमों के बाद मैंने देखा कुछ ही दूर बाद कोई उन्नत चढ़ाई नहीं थी। पर सामने की ढाल अनायास भयंकर गहराई में उतर गई थी। मेरा दिल बैठ गया।

मैं 23 मई, सन् 1984 को 1.07 बजे दिन में एवरेस्ट शिखर पर खड़ी थी। ऐसा करने वाली पहली भारतीय महिला! एवरेस्ट शिखर की खास नुकीली चोटी पर सट-सट कर भी दो लोगों के लिए जगह नहीं थी। चारों ओर हजारों मीटर की गहराई में उतरती ढलानों के कारण वहां अपनी जान बचाने का खयाल एकदम से आया। और हमने बर्फ में अपनी कुल्हाड़ियां धंसाकर सबसे पहले खुद को सुरक्षित कर लिया। उसके बाद मैं घुटने तक बर्फ में धंस गई और बर्फ पर माथा टेक मैंने 'सागरमाथा के मुकुट' को चूम लिया। उसी अवस्था में मैंने मां दुर्गा की मूर्ति और हनुमान चालीसा निकाला और छोटी प्रार्थना के बाद दोनों को बर्फ में स्थापित कर दिया। खुशी की उस घड़ी में मेरा मन अपने माता-पिता पर चला गया जिन्होंने मुझे संघर्ष और कठिन परिश्रम की महत्ता का पाठ पढ़ाया था।

उठने के बाद मैं आंग दोरजी के सम्मान में नतमस्तक थी। वे मेरे रोप-लीडर थे और उन्होंने मुझे लक्ष्य प्राप्ति के लिए साहस दिया था, वहां तक पहुंचा दिया था। आक्सीजन बिना उनकी एवरेस्ट की दूसरी चढ़ाई के लिए मैंने उन्हें बधाई भी दी। उन्होंने मुझे गले से लगा लिया और मेरे कान में फुसफुसाकर बोले, "आप अच्छी चढ़ाई करती हैं—मजा आ गया, दीदी!"

उस समय तक चार लोगों द्वारा एवरेस्ट फतह की खबर हमारे अभियान दल के प्रमुख को मिल गई थी। और वाकी-टाकी मेरे हाथ में दे दिया गया। कर्नल खुल्लर हमारी सफलता से बहुत प्रसन्न थे! मुझे बधाई देने के बाद वे बोले, "मैं तुम्हारी इस अद्‌भुत सफलता के लिए तुम्हारे माता-पिता को भी बधाई देना चाहूंगा।" उन्होंने यह भी कहा कि देश को मुझ पर गर्व है और मैं जब वापस पहुंचूंगी तो मेरी दुनिया ही बदल गई रहेगी।

हम शिखर आरोहियों ने एक-दूसरे को गले लगाया और पीठ थपथपाई। नेपाल, भारत और मेरी खातिर सेवन सिस्टर्स एवं टिस्को के झंडे फहरा दिए गए और तस्वीरें ली गईं। हम शिखर पर 43 मिनट तक रहे। ल्हात्से, नुप्त्से और मकालू सरीखी दानवाकार चोटियां हमारे इस पहाड़ के सामने बौने लग रही थीं। मैंने चोटी के समीप एक स्थान से पत्थर के कुछ नमूने उठा लिये।

एवरेस्ट विजय से वापसी पर मेरी गतिविधियां अत्यधिक बढ़ गईं। स्वागत समारोह, प्रीति भोज, महत्त्वपूर्ण लोगों से मिलना और तमाम अन्य औपचारिकताएं जारी रहीं। मेरी कंपनी, टाटा स्टील, ने मुझे एक मोटरगाड़ी दे दी और मेरे ठहरने का इंतजाम एक पांच सितारा होटल में कर दिया। देश के विभिन्न भागों में मेरी सभी यात्राएं इंडियन एयरलाइंस के सौजन्य से होती रहीं। अन्य लोगों के अतिरिक्त मैं भारत के माननीय राष्ट्रपति; जे. आर. डी. टाटा; राजीव गांधी और इंदिरा गांधी से भी मिली। श्रीमती गांधी भाव-विभोर होकर मुझे देखते हुए बोलीं, "हम इस देश में सैकड़ों बछेंद्री चाहते हैं।" उन्होंने मुझसे ग्रामीण लड़कियों के बीच भी एडवेंचर स्पोर्ट्स को प्रोत्साहित करने का आग्रह किया। ये लड़कियां कठोर परिश्रम तो करती हैं पर ऐसे खेलों में अपनी वह क्षमता नहीं लगा पाती हैं। एवरेस्ट की चढ़ाई के बाद मैंने यह मन बना लिया था कि मैं युवकों एवं महिलाओं के बीच एडवेंचर स्पोर्ट्स और उद्यम के प्रति उत्साह जगाऊंगी। मैंने इसे अपने जीवन का लक्ष्य बनाने की ठान ली थी।

मेरी एवरेस्ट विजय अन्य महिलाओं के लिए मार्गदर्शक घटना थी। मेरे माता-पिता, सगे-संबंधी, पहाड़ी लोग सभी मेरी उपलब्धि में खुद को शरीक पाते। एक खेल और जीवन-वृत्ति के रूप में पर्वतारोहण का महत्त्व उन्हें अचानक पता चल गया। उन्होंने अपनी आंखों से देखा कि किस तरह भारत सरकार और यहां के लोग मुझे सम्मान और मान्यता दे रहे थे। सन् 1984 में एवरेस्ट अभियान के बाद जब इंदिरा गांधी उत्तरकाशी के दौरे पर आईं तो उन्होंने बड़े ही गर्व के साथ गढ़वाल के लोगों को बताया कि वे, और खासकर महिलाएं, क्या करने की क्षमता रखते हैं। उन्होंने मुझे हिमालय की बेटी कहकर संबोधित किया, जिसने नारी जाति और देश का नाम ऊंचा किया था।

टाटा स्टील में काम करना मेरे लिए संयोग की बात थी। इस कंपनी ने मुझे हर प्रकार से सक्षम बनाया, जन-जन तक पहुंचने का अवसर दिया। युवा एवं खेल मंत्रालय, भारत सरकार ने भी मेरी हर संभव मदद की, मुझे प्रोत्साहित किया। मेरे अंदर जो नेतृत्व का गुण था उसे टाटा स्टील ने ही प्रस्फुटित होने का अवसर दिया। मुझे हिमालय की विभिन्न चोटियों के लिए अभियानों के आयोजनों का अवसर दिया गया था। मैंने उन्हें सुरक्षित और सफलतापूर्वक पूरा किया।

मुझे एक बात बहुत खटकी। दरअसल एवरेस्ट के लिए गए इस महिला विशेष अभियान से कुछ पुरुष पर्वतारोही हताश थे और उन्होंने विरोध भी जताया था। एक पुरुष प्रधान अभियान होने के कारण वे नहीं चाहते थे कि महिलाएं

उस क्षेत्र में आएं। खासकर महिलाओं द्वारा नेतृत्व और सांगठनिक कार्य तो उन्हें बिल्कुल नागवार गुजरा और उन्होंने महिलाओं की न केवल क्षमता बल्कि उनकी आकांक्षाओं को भी नजरअंदाज कर दिया। पर इससे मेरी दृढ़ता और बढ़ गई। मैंने ठान ली कि कथित बिरादरी और उनके नकारात्मक व्यवहार के आगे घुटने नहीं टेकूंगी। भारत-नेपाल महिला एवरेस्ट अभियान के नेतृत्व से पहले मुझे दिल्ली में ही कई पर्वतों को पार करना पड़ा। पर इस अभियान में सात कीर्तिमान बने और भारतीय पर्वतारोहण के क्षेत्र में यह एक मील का पत्थर साबित हुआ। सात महिला समेत अठारह लोग शिखर पर पहुंचे। आज किसी देश से एवरेस्ट शिखर पर चढ़ने वाली सर्वाधिक महिला कुल आठ, भारत की हैं। यह एक कीर्तिमान है।

भारतीय महिलाओं के लिए बिल्कुल नए इन अभियानों के आयोजनों के पीछे मेरा एकमात्र मकसद था। मैं महिलाओं के अंदर की जबरदस्त क्षमताओं को उभारना चाहती थी। उन्हें एक भिन्न संदर्भ में प्रस्तुत करना चाहती थी जहां आज वे कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी संगठन और नेतृत्व के कार्यों में अग्रसर हैं। वे खेल भावना से चुनौतियां स्वीकार करती हैं और कठिन दौर से गुजरती हैं। विषम परिस्थितियों में जिम्मेदारी लेती हैं और समाधान के साथ उबरती हैं। इतना ही नहीं वे लोक-प्रबंधन, जोखिम एवं समय-प्रबंधन का काम भी करती हैं और अपने अंदर छिपी 'महिला शक्ति' का परिचय देती हैं। सचमुच उनमें शक्ति है।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि किसी राष्ट्र की हैसियत या छवि विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं के प्रदर्शन से बनेगी। यदि महिलाओं को दोयम दर्जा दिया जाता है तो इससे उस राष्ट्र की छवि खराब होती है। यदि नारी जाति स्वस्थ, साधन-संपन्न और संघर्षपूर्ण है तो वह राष्ट्र भी सबल होगा और तेजी से प्रगति करेगा। पर शोषण के रूप में यह अवसर नहीं दिया जाना चाहिए। असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं के श्रम की प्रशंसा कोई मायने नहीं रखती क्योंकि ऐसी महिलाएं गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करती हैं। उनका शोषण होता है और जीवन आत्मसम्मान रहित।

टाटा स्टील ने समाज में साहसिक खेलों की एक संस्कृति विकसित करने के लिए मुझे हर संभव अवसर प्रदान किया ताकि हम साहस, दृढ़ता और उत्साह से परिपूर्ण नए चेहरों को उभार सकें। व्यक्तित्व एवं चरित्र विकास, खासकर बच्चों के लिए मैं प्रयासरत हूं। ये बच्चे ही भविष्य के मार्गदर्शक हैं। व्यक्तिगत रूप से मुझे लगता है मैं एक मनुष्य के रूप में बहुत सफल रही हूं। अपने काम से

जो खुशी मुझे मिलती है उसे एक उपयोगी और सार्थक रूप में अन्य लोगों के साथ बांट सकती हूं। मेरे इस प्रयास में उनके प्रति सजगता भी होती है। मेरी नजर में किसी व्यक्ति का सही मूल्यांकन यही है और मैं कहती हूं : "आपकी काबिलियत का सही मूल्यांकन उन सभी लाभों से है जो आपकी सफलता से अन्य लोगों को मिलती है।"

शुभा मुद्गल (जन्म : 1959) समकालीन भारत की सुप्रसिद्ध हिन्दुस्तानी संगीत गायिकाओं एवं संगीतकारों में एक हैं। एक संगीतकार के रूप में मध्ययुगीन रहस्यवादी और सूफियाना कलामों के उनके संग्रह में आज विरले ही सुनी जाने वाली वैष्णव पुष्टिमार्ग के कवियों के साथ-साथ कबीर, नामदेव, अमीर खुसरो, नाथ-पंथियों की निर्गुण रचनाएं और अन्य सूफियाना कविताएं भी शामिल हैं। उनकी रचनाओं में कई नृत्यांगनाओं (अदिति मंगलदास, प्रेरणा श्रीमाली, सोनल मानसिंह); कई नृत्य-नाटिकाओं (मीरा, परिक्रमा, कृष्ण कथा); वृत्तचित्रों, टीवी धारावाहिक एवं फिल्मों (मीरा नायर के 'कामसूत्र : ए टेल ऑफ लव' एवं राजन खोसला के 'डांस ऑफ द विंड') के लिए दिया गया संगीत भी शामिल है। उनकी लोकप्रिय रचनाएं हैं : सांग्स आफ द सीजन्स (1992); अली मोरे अंगना (1996); अब के सावन (1999); मन के मंजीरे (2000); और सूर्य उपासना (2001)। उन्हें सुर शृंगार संसद का सुरमणि सम्मान (1982); आधारशिला सम्मान (1996); 34 वें शिकागो अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह (1998) में संगीत में विशेष उपलब्धि के लिए गोल्ड प्लॉक अवार्ड; और भारत सरकार से पद्म श्री आदि अनेक सम्मान (2000) मिले।

20

संगीत सर्जना

शुभा मुद्गल

लगभग साठ या सत्तर वर्ष पूर्व मेरी नानी ने अपने पिता के समक्ष भारतीय संगीत सीखने की अपनी प्रबल इच्छा व्यक्त की थी। वैसे तो सन् 1900 में जन्मी मेरी नानी के उदार परिवार ने उसे अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया था और इसके परिणामस्वरूप वह अच्छी पढ़ी-लिखी थीं। अपनी पसंद से शादी की और वे एक कामकाजी महिला रहीं। लेकिन जब संगीत सीखने की बात आई तो बहुत मान-मनुहार के बाद उनके पिता ने पियानो सीखने के लिए एक मिशनरी शिक्षक की व्यवस्था कर दी। दरअसल उन दिनों भारतीय शास्त्रीय संगीत भद्र महिलाओं के लिए उपयुक्त शौक नहीं माना जाता था। अपने पिता को इस मुद्दे पर सहमत करने में अक्षम मेरी नानी को उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक वह स्वयं इलाहाबाद के क्रॉस्थवेट कालेज में गणित की शिक्षिका के रूप में कार्यरत होकर स्वतंत्र रूप से नहीं रहने लगीं। उसके बाद ही उन्होंने भारतीय शास्त्रीय संगीत—वादन एवं गायन दोनों—की शिक्षा प्राप्त की। मैंने उन्हें कभी भी गाते या बजाते सुना नहीं लेकिन मेरी मां के पास एक पुराना एलबम है जिसमें सितार, दिलरुबा, सारंगी और अन्य भारतीय साजों के साथ उनकी सुंदर तस्वीरें हैं। बहुत बाद में, उन्होंने निश्चय किया कि उनकी तीनों बेटियां जिनमें मेरी मां सबसे बड़ी हैं, गायन-वादन सदृश जीवंत प्रदर्शन कला में भरपूर शिक्षा लें। उन्होंने अपनी बेटियों को भारतीय शास्त्रीय संगीत और नृत्य में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए भी प्रोत्साहित किया। उनकी प्रत्येक बेटी इस प्रकार भारतीय संगीत एवं नृत्य में निपुण हो गई थी पर तीनों ने विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं में शिक्षक की वृत्ति अपनाई। उनके जीवन का यही उद्देश्य था। यह भी संभव है कि उनकी इस पसंद के पीछे मेरी नानी का प्रभाव रहा है। वे स्वयं संगीत सीखने के लिए तो प्रेरित करती थीं पर हो सकता है उन्हें अपनी बेटियों का इसे पेशा बनाना बिल्कुल पसंद नहीं हो।

दशकों बाद मेरी मां ने मुझे सलाह दी कि मैं स्नातक होने के बाद पढ़ाई से एक वर्ष की छुट्टी लूं और संगीत सीखूं। उसके बाद यह निर्णय लूं कि मैं संगीत के साथ पूर्णकालिक प्रतिबद्धता रखना चाहती हूं या नहीं। मैंने एक महीने के अंदर ही अपना निर्णय लिया और अपने परिवार की पहली पूर्णकालिक पेशेवर संगीतज्ञ बनी। मुझे मेरे माता-पिता का पूर्ण समर्थन और सहमति प्राप्त थी। एक समय था जब परिवार की नामंजूरी से लड़ने में असमर्थ, और वस्तुतः भारतीय शास्त्रीय संगीत के फनकारों के माथे लगने वाले सामाजिक कलंक के टीके से बचने के लिए मेरी नानी को उनके पिता ने उन्हें भारतीय शास्त्रीय संगीत सीखने की आज्ञा नहीं दी। ठीक आधी शताब्दी के बाद मुझे न सिर्फ परिवार का सक्रिय समर्थन और प्रोत्साहन मिला बल्कि मैं इतनी भाग्यशाली हूं कि देशभर के संगीत प्रेमियों ने मुझे मान्यता दी और सराहा।

पुराने जमाने में भारतीय संगीत से जुड़ी महिलाओं के साथ जो बर्ताव होता था, उसे हम बोलचाल की भाषा में 'घटिया व्यवहार' ही कह सकते हैं। पेशेवर महिला संगीतज्ञ और गाने वाली औरतें मोटे तौर पर तवायफों या मुजरा करने वाली औरतों के भारी बदनाम वर्ग से ही आतीं। और उनके पेशे से जुड़ी बदनामी यह सुनिश्चित कर देती कि 'संभ्रांत' महिलाएं उस पेशे में नहीं आएं। यद्यपि उन महिलाओं को बड़ी शख़्सियतों और कुशल कलाकारों के रूप में मान्यता प्राप्त थी पर उस युग की महिला संगीतज्ञों के प्रति अकसर भेदभावपूर्ण रवैया अपनाया जाता था। संगीत के छात्रों ने भेदभाव की उस घटना के बारे में सुना होगा कि किस प्रकार कुछ लोगों ने सरकारी अधिकारियों के समक्ष याचिका दी थी कि एक तवायफ को उनके पड़ोस में घर खरीदने की इजाजत नहीं दी जाए क्योंकि इससे उनके सम्मान में बट्टा लगेगा। जनसाधारण ही नहीं बल्कि श्रेष्ठ संगीतज्ञ और गुरु भी तवायफों के विरुद्ध भेदभाव करते। यह तो पिछले पचास-साठ वर्षों की उपलब्धि है कि तवायफ परंपरा से जुड़ी महिलाओं के अतिरिक्त अन्य महिलाओं को भी भारतीय संगीत सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा। फिर भी महिलाओं के लिए संगीत को पेशा बनाने की स्वीकृति बहुत बाद मिली। ठुमरी की सुप्रसिद्ध गायिका, जिनकी मैं शिष्या रही, नयना देवी ने पति के राजसी परिवार में मिले अपने नाम, निलिना रिपजीत सिंह, का इस्तेमाल बतौर पेशेवर गायिका नहीं किया। वह ऐसा कर उस परिवार को बदनाम नहीं करना चाहती थीं। उन्होंने जब 'आकाशवाणी' से गाना प्रारंभ किया तो एक छद्म नाम रखा—नयना देवी।

अतः मुझे पूरा विश्वास है कि जब मेरे मां-बाप ने मुझे पेशेवर संगीतज्ञ बनाने का निर्णय लिया तो मेरे पैतृक शहर में बहुतों लोग, यदि अवाक और भयाक्रांत

नहीं तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ जरूर हो गए होंगे। इलाहाबाद में उन दिनों बच्चों को पूर्ण विकास और निखार के लिए संगीत की शिक्षा देना एक रिवाज की तरह था पर किसी ने अपनी किशोर कन्या को पेशेवर संगीतज्ञ बनने का प्रोत्साहन तो दूर इजाजत भी दी हो ऐसा सुनने में नहीं आता। हालांकि मुझे याद नहीं है कि मेरे मां-बाप इस सामाजिक अस्वीकृति, कही या अनकही, के कारण कभी निराश हुए हों। और इन बीस वर्षों में जब मैं भारतीय संगीत की शिक्षा प्राप्त करती रही तो कभी भी उनका समर्थन कम नहीं हुआ।

इलाहाबाद में ही मैं कई ऐसी युवा महिलाओं के साथ संगीत सीखती रही जिनमें एक सुयोग्य और सफल फनकार बनने की प्रतिभा और कुशाग्रता थी। हालांकि आज उनमें से मात्र एक पेशेवर गायिका के रूप में कार्यरत हैं। अन्य महिलाओं ने अपेक्षाकृत अधिक पारंपरिक, और उतना ही महत्त्वपूर्ण कार्य अर्थात् गृहस्थी को अपनाया या उन्हें प्रायः दबाव में आकर ऐसा करना पड़ा। संभव है वे अपनी उस जीवन-वृत्ति से ही खुश हों और मेरा यह सोच लेना पूर्वाग्रह होगा कि उन्हें पछतावा रह गया होगा। लेकिन किसी संगीत सम्मेलन से बाहर निकलने पर जब-तब मुझे वे मिल जाती हैं और बड़ी उत्कंठा से मुझे बधाई देती हैं। वे कहा करती हैं—हम तो घर-बार में फंस कर रह गए, तुम को गाते हुए देखकर खुश हो लेते हैं।

भारतीय संगीत की शिक्षा को किसी पारंपरिक पाठ्यक्रम में बांधा नहीं जा सकता है। और इसलिए यह एक जिंदगी भर सीखने की कला है। संगीत के सभी छात्रों, पुरुष हों या नारी, के लिए पाठ, वास्तविक तालीम या संगीत सीखने तक सीमित नहीं होता। इसमें प्रत्येक छात्र धीरे-धीरे राग और ताल के रहस्यों से परिचित होता है। वह धीरे-धीरे और रहस्य से परिपूर्ण, सांप-सीढ़ी के खेल की भांति, ऊपर चढ़ता है—कभी ऊपर चढ़ता है तो कभी अप्रत्याशित ढंग से नीचे गिरता है। भारतीय संगीत पर राज करने वाली परंपराएं, तहजीब और अलिखित अदब भी हैं जिन्हें तालीम के क्रम में ही सीखना पड़ता है। महिलाओं को कुछेक अतिरिक्त सबक भी ध्यान में रखना होता है जो उनमें से कुछ के लिए भ्रांतिपूर्ण और घोर हताशा की स्थिति पैदा कर देता है। गुरु-शिष्य परंपरा में शिष्य-शिष्या को अपने गुरु से व्यक्तिगत रूप से वर्षों सीखना पड़ता है। अकसर यह सिलसिला जीवनपर्यंत चलता है। इसमें उन्हें गुरु के विस्तृत परिवार का एक सदस्य बन कर रहना पड़ता है। और विद्या के प्रतिदान या गुरुदक्षिणा के रूप में शिष्य-शिष्या को गुरु के प्रति सदैव समर्थन और सेवाभाव रखना पड़ता है। यह संबंध अंतरंग, और कभी-कभी घातक होता है। इससे कभी-कभी शिष्याओं

को जोरदार आघात भी लगता है। तब तो एक ऐसी संस्कृति में जहां गुरु-शिष्य परंपरा को पवित्र माना जाता है, यह संकेत देना अनिष्टकारी माना जा सकता है कि गुरु भी कभी-कभी अपनी शिष्याओं का शोषण करने के मामले में नश्वर प्राणी की तरह पतित हो सकते हैं। गुरुओं पर हावी होने वाले इस प्रकार के भावावेश पर गुप-चुप चर्चा मात्र हो सकती है। इसे जनता में व्यक्त कर सनसनीखेज बनाने का खतरा मोल नहीं लिया जा सकता है। लेकिन हमें पता है कि भारतीय संगीत में महिलाओं ने अपने पिता तुल्य और श्रद्धेय गुरुओं के पाशविक क्षणों को भी झेला है। उन गुरुओं ने आवेश के कमजोर क्षणों में अपनी शिष्याओं का दैहिक शोषण करने का भी प्रयास किया है। यह घटना एक मायने में बाल लैंगिक शोषण के समान भयंकर और घृणित है। लोग उसी प्रकार इस घटना पर भी पर्दा डाल देना श्रेयस्कर समझते हैं। मैंने स्वयं बहुत सोच-विचार के बाद अपने इस लेख में इस मुद्दे को स्थान दिया है। मुझे उम्मीद है कि इस साफगोई को लोग सनसनीखेज बनाने की मेरी व्यक्तिगत इच्छा साबित नहीं करेंगे। तब तो महिला संगीतज्ञों की स्थिति कितनी भी कमजोर हो, उनके समक्ष चुनौती है कि वे अपने आप को इस प्रकार के शोषण से बचा सकें।

मातृत्व किसी महिला के जीवन की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना होती है। यह अपने आप में इतनी आत्म-संतुष्टिपूर्ण और अद्‌भुत घटना है जिसे मुझ जैसे लोग शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते हैं। इसके साथ परिवर्तन भी आते हैं, शारीरिक और भावनात्मक दोनों, जिन्हें संभालना कठिन होता है। मेरे इकलौते बेटे धवल का जन्म जून 1984 में हुआ था, जबकि मैं उस वर्ष फरवरी-मार्च के महीने तक यदा-कदा कार्यक्रम करती रही थी। उसके बाद मैं अपने मायके के आराम और देख-रेख में चली गई। वहीं मेरा बेटा पैदा हुआ था। उसके जन्म के बाद जल्द ही मेरे माता-पिता ने यह व्यवस्था कर दी कि मैं फिर से रियाज में जुट जाऊं। और जल्द ही मैं संगीत कार्यक्रमों में उपस्थित होने लगी जबकि मेरे मां-बाप मेरे बच्चे की देखभाल करते। वस्तुतः धवल के जन्म के छह महीने बाद मैं संगीत की अपनी साधना में जुट गई थी। और मुझे किसी प्रकार का दबाव या आत्मग्लानि भी नहीं था क्योंकि मुझे पक्का विश्वास थी कि मेरे बेटे को उसके नाना-नानी संभाल लेंगे, उसे लाड़-प्यार देंगे। लेकिन सभी महिला गायक-वादक इतनी भाग्यशाली नहीं होती हैं। देश की एक मशहूर नायिका के जीवन पर बनी एक वृत्तचित्र में उसे फूट-फूट कर रोते हुए दिखाया गया जब वह उस घड़ी को याद कर रही थी जब उसे अपने चार दिन के नवजात शिशु को छोड़कर एक कार्यक्रम में जाना पड़ा। उसके नसीब में वस्तुतः आराम और स्वास्थ्यलाभ था ही नहीं। वह अपने

विशाल परिवार की एकमात्र कमाऊ सदस्या थी, और खिलाने के लिए कई मुंह और इसलिए नवजात का आगमन कतई समारोह का अवसर नहीं था। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे काम पर वापस जाना था—तत्काल। मैं फिल्म के उस क्षण को कभी भूल नहीं पाई। और इसके ठीक विपरीत मातृत्व की अपनी यादें भी नहीं भूल पाई! समारोह, बधाइयां, तोहफे, सजग परिवार के सदस्यों की आराम करने की सलाह और दादी द्वारा लगभग प्रतिदिन दिए जाने वाले विशिष्ट लड्डू, जो स्वास्थ्यकर थे!

अन्य महिला संगीतज्ञों ने अपने संगीत साधना-कार्यक्रमों को उस समय तक के लिए ताख पर रख दिया जब तक उनके बच्चे बड़े नहीं हो गए। यों कहें घोंसलों से उड़ने नहीं लगे। वस्तुतः बच्चों को पालने की जिम्मेदारी मांओं पर होती है भले ही इससे उनका अपना कैरियर और अपनी रुचियां बलि चढ़ जाएं। पिता से अपेक्षा यह होती है कि वह परिवार का भरण-पोषण करे, पर मां को निस्संदेह अपना सर्वस्व त्याग कर बच्चों को पालना पड़ता है। सामान्यतया महिलाओं से यह कभी भी उम्मीद नहीं की जाती कि वे तानपुरा की ट्यूनिंग, राग और आलाप के विविध अभ्यास, संगीत की पुस्तकों का अध्ययन, और इन सबसे कठिन, दूर-दराज जाकर संगीत कार्यक्रमों में गाएं और अपने बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों को उनके हाल पर छोड़ दें! पर मैंने कभी भी यह नहीं सुना कि किसी पुरुष ने यह पूछा हो कि उसकी अनुपस्थिति में जब वह सप्ताह के पांच या छः दिन, प्रत्येक दिन, कार्यालय जाता है तो उसके बच्चों का क्या होता है! पिता अपनी अनुपस्थिति में अपने बच्चों को पाल सकता है, मां कदापि नहीं! इन वर्षों में जब मैं निरंतर एक पेशेवर की भांति गाती रही हूं, अकसर लोग मुझसे पूछते रहे हैं कि मैं किस प्रकार एक मां का दायित्व और अपने पेशे के प्रति प्रतिबद्धता बनाए रखती हूं। आश्चर्यजनक बात यह है कि यह पूछने वाली सामान्यतया महिलाएं होती हैं। उनके प्रश्नों का मेरा जवाब (यह कहना कि मेरा बेटा सुरक्षित है और पिता उसकी अच्छी देखभाल करते हैं) अकसर उन्हें अवाक कर देता है। उनकी आरंभिक उत्सुकता तत्काल संदेह और वैमनस्य मे परिणत हो जाती है। और उनकी नजर में मैं एक बुरी मां बन जाती हूं। पर परंपरा और स्थापित मूल्यों के विरुद्ध जाना कभी भी सुलभ नहीं रहा है। ऐसे में सामाजिक दबाव के आगे झुकना स्वाभाविक लगता है। लेकिन संगीत में गहरी आस्था और पारिवारिक समर्थन ने मुझे अपने चुने गए पथ पर अटल रखा है। और मैंने अपने बेटे पर ही यह छोड़ दिया कि मैं क्या सचमुच एक बुरी या उदासीन मां हूं।

मेरी नानी की पीढ़ी के बाद से भारत में महिला संगीतज्ञों की दशा में बहुत सुधार हुआ है। लेकिन आज भी इससे जुड़े कलंक, पूर्वाग्रह और भेदभाव के चिह्न देखे जा सकते हैं—वह भी आपके आसपास। बॉलीवुड तवायफ परंपरा का फिल्मी संस्करण यदा-कदा परोसता रहता है। सामान्यतया यह काम भड़कीले नाच-गान के माध्यम से होता है जिसमें तवायफों को चतुर, लालची और कुलटा नारी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो संभ्रांत पुरुषों को उनके वैवाहिक जीवन से दूर कर देती हैं। हालांकि शास्त्रीय संगीत की दुनिया में तवायफ परंपरा से आई महिला गायिकाओं को आज भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। संगीत प्रेमी उन्हें आदर करते हैं और अंतर्मन से प्रशंसा करते हैं। लेकिन यह भी सही है कि वे गायिकाएं मुजरे की पुरानी परंपरा से अपना संबंध अकसर अस्वीकार कर जाती हैं। उनमें से कुछ अपने को अप्सरा (स्वर्ग में नाचने-गाने वाली मिथकीय महिलाएं) की संतति मानती हैं तो अन्य या तो अपने अतीत को गर्त में दबा देती हैं या फिर अपने लिए एक सम्मानजनक पारिवारिक इतिहास गढ़ लेती हैं। इस प्रकार मुजरा कलाकारों की संतति अपनी परंपरा, जिसमें कई अद्‌भुत महिलाओं ने भविष्य के लिए एक संगीत परंपरा को जीवित रखा, को श्रद्धांजलि देने की बजाय तिलांजलि देने की कोशिश करती हैं। उस परंपरा के साथ जुड़ी गैर उचित धारणाओं और कलंक के कारण वे ऐसा करने को बाध्य हैं।

मैं अपने निजी अनुभव के दायरे से भी यह बात कह सकती हूं कि भले ही मेरे घर की दीवार पर पद्‌म श्री का प्रशस्ति पत्र सुशोभित हो, पर दिल्ली के अच्छे-आवासीय इलाके में किराए पर मकान लेते वक्त अपनी साख और छवि साबित करना मेरे लिए दुष्कर होता है। मजे की बात यह है कि दिल्ली विगत उन्नीस वर्षों से मेरा घर रही है! हालांकि इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि पुरुष संगीतकारों को भी दिल्ली के मकान मालिकों के समक्ष अपनी साख और छवि सिद्ध करने में कठिनाई आती है। यहां तो 'कंपनी लीज' किसी व्यक्ति की साख का प्रमाण पत्र है। ऐसे में एक पेशेवर संगीतज्ञ, और ऊपर से महिला होना बड़ी आसानी से आपको साख-शून्यता के क्षेत्र में ला खड़ा कर देती है। परंतु ऐसा भी नहीं कि दिल्ली मात्र में महिला संगीतज्ञों को मकान-मालिक संदेह की नजर से देखते हैं। यथार्थतः महिला संगीतज्ञों, खासकर अपने अधिकार हनन के विरुद्ध आवाज उठाने वाली, को यह भी खतरा रहता है कि लोग उन पर 'विवादास्पद' और 'आक्रामक' होने का बिल्ला लगा देंगे। कुछ वर्ष पूर्व, कॉपीराइट को लेकर मेरी लड़ाई के बारे में एक अखबार ने लिखा कि मेरे नाम का मध्य भाग 'विवादास्पद' है। ऐसे में भारतीय संगीतज्ञों की खेमों में बंटी दुनिया

के साथी संगीतज्ञ, और भारतीय संगीत के आयोजकों एवं प्रोत्साहकों ने भी मुझे संदेह की नजर से देखा होगा। इसकी वजह साफ है। मैंने अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने का निर्णय लिया था। पर यदि मैं एक पुरुष होती तो संभव है कि लोगों ने मेरे प्रयासों को सराहा होता। एक महिला की आवाज होने के कारण इस विरोध को शंका की नजर से देखा गया—झगड़ालू व्यवहार कहा गया और स्त्रियोचित नहीं माना गया। पर जहां तक कलाकारों के अधिकारों का मामला है उसे लिंग भेद की सीमा से बांधा नहीं जा सकता है। ये अधिकार महिला और पुरुष दोनों कलाकारों के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। और इसलिए उन्हें समर्थन देना चाहिए, लोग भले ही उसे स्त्रियोचित माने या नहीं।

मैं अंत में यह कह सकती हूं कि एक संगीतज्ञ, पुरुष या नारी, का जीवन रोमांचपूर्ण, चुनौती और याचना से भरा हो सकता है। रहस्योद्‌घाटनों की संभावनाओं से परिपूर्ण हो सकता है। बहुतों के लिए आत्म-संतुष्टि का, कुछ के लिए हताशाजनक भी। हालांकि यह आलेख मूलतया भारतीय संगीतज्ञों द्वारा झेली गई चुनौतियों तक सीमित रहा है पर कई ऐसे क्षेत्र हैं जो पुरुष एवं महिला दोनों संगीतज्ञों के लिए सामान्य चुनौतियां बनी हुई हैं। अतः मेरे कहने का तात्पर्य कतई यह नहीं है कि भारत में पुरुष की अपेक्षा महिला संगीतज्ञ होना अधिक चुनौतीपूर्ण है।

कर्णम मल्लेश्वरी *(जन्म : 1975) को अंतर्राष्ट्रीय भारोत्तोलक चैंपियन के रूप में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनका नाम महिला भारोत्तोलन का पर्याय बन गया है। वह वर्ष 1990 से, जब वह मात्र 15 वर्ष की थीं, पदक जीतती आई हैं और इन वर्षों में 25 राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण पदक जीत चुकी हैं। इसके अतिरिक्त भी वह कई विश्व चैम्पियनशिप में स्वर्ण, रजत और कांस्य पदक से सम्मानित रही हैं। उन्हें एशियाई खेलों में रजत पदक मिला। वर्ष 1998 में उन्हें पद्मश्री; वर्ष 1996 में राजीव गांधी खेल रत्न पुरस्कार; वर्ष 1996 में शिरोमणि पुरस्कार; और वर्ष 1994 में अर्जुन पुरस्कार से सम्मानित किया गया। ओलंपिक खेलों में कोई पदक जीतने वाली वह पहली भारतीय महिला (2000) और उस ओलंपिक में पदक प्राप्त करने वाली एकमात्र भारतीय थीं।*

21

जीतने का हौसला

कर्णम मल्लेश्वरी

तेलुगु में मेरे नाम मल्लेश्वरी के पूर्वार्द्ध, 'मल्लि', का अर्थ होता है चमेली का फूल। उत्तरार्द्ध निस्संदेह ईश्वर या देवी है। हरेक माता-पिता की चाहत होती है कि उनकी संतान उसी ईश्वर का असली प्रतिबिंब बने। भगवान ही जानता है कि मेरे माता-पिता ने यह नाम क्यों चुना। मैंने दरअसल कभी इस पर नहीं सोचा। इसे अपनी पहचान के रूप में सहर्ष स्वीकार कर लिया। वस्तुतः मैं शुरू से ही विचारक प्रवृत्ति की नहीं रही हूं। सदैव स्वतःस्फूर्त कर्मठ महिला रही हूं।

मेरा जन्म 1 जून, सन् 1975 को नन्दलुरु गांव में हुआ। यह आंध्र प्रदेश के कुडप्पा जिले में है। मेरे पिता, के. मनोहर, रेलवे सुरक्षा बल में सिपाही थे। श्रीकाकुलम में मेरा सामान्य जीवन खेल-कूद, खाने-पीने और विशाल परिवार में मौज-मस्ती में बीतता। श्रीकाकुलम में बसे मेरे परिवार में मेरी तीन बहनें और एक भाई था। हम एक-दूसरे में बहुत घुले-मिले थे। आज सोचने पर मुझे लगता है कि भारोत्तोलन हमारे लिए पारिवारिक खेल की भांति था। मेरी सबसे बड़ी बहन नरसम्मा राष्ट्रीय चैम्पियन थी; कृष्ण कुमारी जूनियर वर्ल्ड चैम्पियन थी; और सबसे छोटी कल्याणी ने सब-जूनियर वर्ल्ड चैम्पियनशिप जीती थी।

हममें सबसे बड़ी बहन से इस सबकी शुरुआत हुई। नरसम्मा आरंभिक दिनों से ही परिवार की सफल सदस्या थी। स्कूल में शॉट-पुट हो या भाला फेंक या किसी और खेल का नाम लीजिए, वह सभी में भाग लेती और सभी में जीतती थी। हरियाणा आने से पूर्व मैं 'तगड़ा' शब्द से परिचित नहीं थी पर वह सचमुच तगड़ी थी। असल में जब मेरी बहन स्कूली खेल-कूद में व्यस्त थी उस समय मैं पूर्णतया अध्ययनरत थी। लेकिन अचानक हमने देखा नरसम्मा घर से कुछ दूर एक व्यायामशाला जाने लगी। यह व्यायामशाला बहुत दिनों बंद रहने के बाद हाल ही में खुल गया था। मेरी बहन वहां पूरे जोश में भारोत्तोलन किया करती थी। मुझे लगता है, यह उसके 'तगड़ेपन' का एक अन्य नमूना था।

मैं एक कर्त्तव्यनिष्ठ छोटी बहन की भांति उसके साथ साइकिल से व्यायामशाला तक जाती। हम 5-6 कि.मी. साइकिल की सवारी कर वहां पहुंचते। मैं मुख्यतया अपनी बहन के भारोत्तोलन के उपकरणों (भार) को इधर-उधर, चढ़ाने-उतारने में मदद करती। वहां वह एकमात्र लड़की थी, पर इससे वहां किसी को फर्क नहीं पड़ता। उन दिनों मैं बहुत दुबली-पतली थी लेकिन अपनी बहन को हांफते हुए भारोत्तोलन करते देखा करती। धीरे-धीरे उसकी टोली की अन्य लड़कियां भी इसमें शामिल हो गईं। मेरे पिता को शुरू में इसकी भनक भी नहीं थी कि हम प्रत्येक दिन तपती दोपहर में साइकिल से कहां जाते थे। पर मेरी मां शुरू से ही जानती थी और शीघ्र ही मेरे पिता भी समझ गए। मेरी पढ़ाई प्रभावित जरूर हुई, पर कभी भी बहुत क्षति नहीं हुई। तब तो संयोगवश कक्षा सात तक ही, स्कूल मेरे जीवन का अंग रहा।

स्कूल तो 9 बजे सुबह से शुरू होता लेकिन हमारी दिनचर्या में प्रतिदिन सुबह 5.30 से 7.30 बजे व्यायामशाला का समय होता। इतना ही नहीं, 4 बजे स्कूल की छुट्टी होते ही हम पुनः वहीं पहुंच जाते। यह मुझ पर हावी हो रहा था। लेकिन यदि मैं मन ही मन इस क्षेत्र में जाना भी चाहती थी तो मुझे उस समय इसका स्पष्ट पता नहीं था। हालांकि वहां के प्रशिक्षक एन. अपन्ना (मैं भला उनका नाम कैसे भूल सकती!) ने मेरी दुबली काया को देखकर जब यह कहा, "तुम क्या लिफ्टिंग करोगी, घर जाओ और खाना बनाओ", तो मुझे बहुत बुरा लगा।

माना मैं सिर्फ 12 वर्ष की थी और कुछ दुबली भी, पर इस बात ने मुझे परेशान कर दिया था और मैं उस प्रशिक्षक को चुनौती देना चाहती थी। वह भला इस तरह मुझे कैसे नजरअंदाज कर सकता था? मैं भारोत्तोलन क्यों नहीं कर सकती थी?

उन दिनों मेरी बहन राष्ट्रीय स्तर की प्रतिस्पर्द्धाओं में जा रही थी जो मेरे लिए बड़े गर्व की बात थी। इस बीच मैं उस व्यायामशाला में गई और उसे बहुत बुरी स्थिति में देखा। उसकी स्थिति की व्याख्या करने के लिए 'दुर्दशा' शब्द ही समीचीन होगा। पूरे फर्श पर गर्द की परत जमी थी। यथार्थतः मैं यहां उस व्यायामशाला का पूरा चित्रण नहीं करना चाहती। व्यायामशाला की चाभी जिसके पास थी उसने मुझसे कहा, "मैं तुम्हें चाभी नहीं दे सकता, वहां कोई नहीं है और तुम यदि किसी वजनी उपकरण को गिरा दोगी तो उसे उठाने के लिए यहां तुम्हारे साथ कौन रहेगा?" लेकिन मैं अब अपने आपको और दूसरों के सामने यह साबित करने के लिए कटिबद्ध थी कि मैं यह कर सकती हूँ।

मैंने सचमुच उठा लिया था! मुझे लगता है ये 10-15 किलोग्राम वाले बारबेल थे।

यह तो शुरुआत थी। पर बहुत अच्छी शुरुआत, मैं सबको दिखा दूंगी, मैंने सोचा। सो मैंने निर्णय लिया कि पंजाब जाकर अपनी बहन से मिलूंगी जहां वह प्रशिक्षणरत थी। मैं वहां पहुंची, शुरू में तो सचमुच अजीब लगा। वहां कोई तेलुगु नहीं बोलता था। सभी को कड़क पंजाबी बोलते हुए सुना, पर समझ नहीं पाई। मैं अपनी बहन के साथ रहती और भार उठाने का प्रयास करती। उसके रूसी प्रशिक्षक दूर से ही यह देखा करते। मुझे वाकई पता नहीं था, क्यों! मेरे लिए तो यह बड़ी बात थी कि मेरी बहन आगामी चयन-प्रतियोगिता की तैयारी में मुख्य प्रशिक्षक की निगरानी में अभ्यास कर रही थी। बहुत जल्द ही रूसी प्रशिक्षक पास आए और मेरे बारे में पूछा, "क्या वह अभ्यास करती है?" भारोत्तोलकों के परीक्षण के बाद उन्होंने मुझसे दिखाने को कहा कि मैं कौन-कौन सा वजन उठा सकती हूं, और कैसे? आज जब मैं इस पर सोचती हूं तो यह याद नहीं कर पाती कि भार उठाने के मेरे तरीके में क्या खासियत थी। हालांकि मैं खुश जरूर थी कि एक महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षक ने मुझमें कुछ क्षमता देख ली थी।

आगे, छह माह के गहन प्रशिक्षण के बाद मुझे लगा शक्ति और तकनीकी ही भारोत्तोलन का सार है। तकनीकी का अर्थ है अपने शरीर के उपयोग को जानना, भार को स्थिर करना और संतुलन। तत्पश्चात् नई-नई संकल्पनाएं, रोमांचक रहस्योद्घाटन! उसके बाद पदक आने लगे। मुझे पहला स्वर्ण पदक सन् 1990 में जूनियर राष्ट्रीय चैंपियनशिप में मिला। (अधिकतम 20 वर्ष आयु के प्रतिस्पर्द्धी इस वर्ग में आते हैं, 20 वर्ष से सीनियर आरंभ होता है जिसकी कोई ऊपरी सीमा नहीं है।) मैं उस समय 15 साल की थी। इस वर्ग में मुझे तीन पदक मिले। नौ नए राष्ट्रीय रिकार्ड बने थे! और फिर तेरह वर्ष की अवस्था में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करना! एक-एक रिकार्ड मेरी जिंदगी में रोमांचक लहर उत्पन्न कर जाता।

पटियाला में प्रशिक्षण पाना कठिन कार्य था। मैं पहली बार घर से इतनी दूर थी। प्रशिक्षण के कठोर परिश्रम में घर का सुख-चैन तो भूल गई थी पर मुझे वहां की आबोहवा अच्छी लगती। और फिर मेरी बहन भी वहां थी जिसके कारण देश के कोने-कोने से आए खिलाड़ियों की तुलना में मेरे लिए सब कुछ आसान था। हमारी दिनचर्या कुछ इस प्रकार थी : प्रातः बेला में 5 बजे से ही हम पी. टी. शुरू कर देते थे और यह सत्र दोपहर के भोजन से कुछ पहले ही संपन्न होता। कैंप की दिनचर्या सचमुच किसी कठिन सैन्याभ्यास के समान थी : 5.30 बजे

जागने की घंटी, 6-8 बजे पी. टी., जो सभी एक साथ करते। पर प्रत्येक को अपने खेल के अनुसार करना होता। दिन के 10-1 बजे तक प्रशिक्षण, तब भोजन और विश्राम। प्रशिक्षण का अगला सत्र 4-6 बजे सायं का होता। इस प्रकार किसी भी दिन कम से कम नौ घंटों का प्रशिक्षण दिया जाता। इसके बाद शायद ही किसी को अधिक सोचने का अवसर मिलता।

कभी-कभी लोग कहते हैं कि महिलाओं को भारोत्तोलन नहीं करना चाहिए। इससे उन्हें पीठ का दर्द, और अन्य समस्याएं होती हैं। पर मुझे तो ऐसे खयालात भी नहीं आए। मुझे लगता है महत्त्वपूर्ण यह है कि आप किस उत्साह से काम करते हैं; आपको जो करना है उस पर कैसे केंद्रित रहते हैं; और आप पाना क्या चाहते हैं? यह भी तो एक सत्य है कि भारोत्तोलन सभी खेलों की अम्मा है। हर एक एथलीट अपनी मांसपेशियां बनाने और चुस्त-दुरुस्त रहने के लिए भारोत्तोलन करता ही है। मेरी राय में 'किसी काम को सही ढंग से शुरू किया, तो उसे आधा हुआ मानो।' अपने प्रशिक्षण के दौरान मैंने दो महीने में ही हिन्दी सीख ली।

लेकिन मुझे अजीब लगता है जब लोग मुझसे पूछते हैं क्या आपको पुरुष चिढ़ाया करते थे या फिर दक्षिण भारतीय लहजे में मेरी हिन्दी या एक भारोत्तोलक के रूप में मेरे शरीर का मजाक उड़ाते थे। दरअसल हम सभी खिलाड़ी थे, कठोर परिश्रमरत। किसी ने यदि कुछ कहा भी हो तो मुझे याद नहीं क्योंकि मेरे कैंप के सभी सहभागी मुझे एक समान सहयोगशील लगे।

कैंप में प्रशिक्षु रातों में कभी-कभी इतना थककर चूर-चूर होकर बिस्तर पर जाते थे कि उन्हें किसी बात की सुध नहीं रहती। वहां उनके जूतों को उतारने वाला भी कोई नहीं होता। ऐसे में दो बातें होती हैं। एक तो लोग जूते पहने ही सो जाते हैं और दूसरी कि वे अपने दल के अन्य खिलाड़ियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो जाते हैं। पर मुझे कभी यह अनुभव नहीं हुआ क्योंकि अन्य दलीय खेलों की तुलना में भारोत्तोलन एकल प्रदर्शन होता है। हालांकि खेल में मशगूल हो जाने पर कभी भी अकेलापन का अहसास नहीं होता। मैं तो अपने भार-उपकरणों की संगत में ही सबसे अधिक खुश होती हूं। मुझे एक ही बात की सोच कभी-कभी घेर लिया करती कि मैं अपने मां-बाप से बिछुड़ गई हूं और मैंने औपचारिक शिक्षा को तिलांजलि दे दी और अपने तथाकथित मौज-मस्ती वाले दिन देश के नाम कर दिए। मैं हालांकि इस सोच के बावजूद भारोत्तोलन करने के गंभीर प्रयास में संलग्न हो गई थी और जैसे ही मैंने एक पदक जीता मेरी तमाम संशयपूर्ण सोच धूमिल पड़ गई।

दरअसल, क्या आपको पता है कि भारत में भारोत्तोलन एक ऐसा खेल

है जिसने अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा मैदानों पर अपने लिए सर्वाधिक पदक जीते और वाहवाही लूटी है। मैंने सन् 1990 से प्रत्येक वर्ष अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, विभिन्न विश्व एवं एशियाई भारोत्तोलन प्रतिस्पर्द्धाओं में, भारत का प्रतिनिधित्व किया है। मैंने उनमें चौथा एवं पांचवां स्थान प्राप्त किया और पदक लेकर भी आई।

वर्ष 1994 में तुर्की में आयोजित विश्व चैंपियनशिप में मैंने दो स्वर्ण एवं एक कांस्य पदक जीते। और सन् 1995 में चीन में मुझे तीन स्वर्ण पदक मिले। उसी वर्ष कोरिया में संपन्न एशियाई चैंपियनशिप में तीन स्वर्ण हासिल किए और सन् 1996 में जापान में एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया। सन् 1990 से अब तक 52 किलोग्राम वर्ग में; फिर 69 किलोग्राम वर्ग में एक 25 वर्षीया महिला का भाग लेना रोमांचक है! मैं इसके लिए अपने प्रशिक्षक को ही पूरा श्रेय देती हूं। पदक प्राप्त करने का यह क्रमिक सिलसिला सिर्फ मेरे लिए अहमियत रखता है क्योंकि मैं इससे अपने विकास का मूल्यांकन करती हूं। मैंने अपने तत्कालीन वर्ग (54 किलोग्राम) में 113.0 किलोग्राम उठाकर, स्वर्ण पदक के साथ, विश्व भारोत्तोलन में नया कीर्तिमान स्थापित किया। 'क्लीन एंड जर्क' श्रेणी के इस मुकाबले में इससे पहले दिसंबर 1993 में चीन की लांग यूलिंग का 112.5 किलोग्राम का रिकार्ड था।

स्वर्णिम क्षणों के अकसर पीठ पीछे बुरे दिन भी आते हैं जो आपके खेल एवं जीवन पर एक काली छाया की तरह होते हैं। वर्ष 1997 में विश्व चैंपियनशिप के दौरान मैंने अच्छी तैयारी की थी, अपने कीर्तिमान को ही मात दे रही थी, पर अंतिम प्रदर्शन से ठीक दो दिन पहले मेरी पीठ में दर्द शुरू हो गया और मैं जीतने का अपना अवसर गंवा बैठी। ऐसे समय अभ्यास के दौरान एक अन्य बात का पता चला! मैं जान गई कि किस प्रकार कुछ प्रशिक्षक अपना नाम कमाने के लिए हमें प्रतिस्पर्द्धा मैदानों पर ठेलना चाहते हैं, भले ही हमें कितना भी दर्द क्यों न हो! मैंने कभी ऐसा नहीं होने दिया। पर मैं कई भारोत्तोलक को जानती हूं जिन्होंने यह सब बर्दाश्त किया है।

अन्य तमाम सुविधाओं से परिपूर्ण, भारत में मुझे वह चीज नहीं दिखी जो मैंने चीन में देखी : चीनी दलों के प्रत्येक सहभागी के लिए उसके निजी प्रशिक्षक थे। हमारे पूरे दल के लिए एकमात्र प्रशिक्षक थे। कोई प्रशिक्षक प्रतिभागियों पर अधिक और अच्छा ध्यान दे सकता है यदि उनकी संख्या कम हो। ऐसा खासकर हमारे देश में तो होगा ही जहां हर एक क्षेत्र में राजनीति है! यहां किसी खिलाड़ी के प्रदर्शन में व्यक्तिगत प्रशिक्षण से बहुत सुधार होगा। उनके शरीर के अंगों, जिन्हें स्वाभाविक रूप से खींचना पड़ता है, पर ध्यान देना; उन्हें आराम देना और

स्वाभाविक दशा में लाना; खिलाड़ियों के सबल और दुर्बल पक्षों को पहचानना—इन सबसे खिलाड़ियों में एकाग्रता आती है। वस्तुतः मैं अपने एक साथी प्रतिभागी को हमारे सामान्य प्रशिक्षक के द्वारा प्रताड़ित होते देख खुद को नहीं रोक पाई और जब उमा भारती, तत्कालीन खेल मंत्री आईं और प्रशिक्षण सुधार आदि के बारे में पूछा तो मैंने टैनिन को प्रशिक्षक बनाने के लिए कहा। टैनिन वही रूसी प्रशिक्षक थे जिन्होंने मुझे आरंभिक दौर में देखा था और सही सांचे में ढलने में मेरी मदद की थी। उमा भारती ने मुझसे पूछा कि क्या टैनिन के प्रशिक्षक होने पर हमें आगामी ओलंपिक खेलों में कोई पदक मिलेगा? न जाने क्यों, मैंने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ कह दिया, "हां, ऐसा होगा।"

प्रशिक्षण केंद्रों पर उच्चाधिकारी प्रशिक्षकों की सुनते हैं। और ये प्रशिक्षक अपने निजी शिष्य-शिष्याओं को प्रोत्साहित करने में व्यस्त रहते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें अपनी विदेश यात्रा की फिक्र लगी रहती है। ऐसी स्थिति में तमाम मीडियाबाजी और विवादों के बाद, जो आप सबने देखा-सुना होगा, जब हम ओलंपिक में भाग लेने पहुंचे तो पूरे दल का कोई सदस्य अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाया।

हम लोग, खासकर लड़कियां, जब अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाओं में जाते हैं तो हमेशा एक-दूसरे को समर्थन देते हैं, हौसला बढ़ाते हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से ओलंपिक खेलों के लिए चुन तो ली गई थी पर मेरे प्रशिक्षक मेरे साथ नहीं आ पाए थे। वहां मेरे लिए चाहने वालों की कोई भीड़ नहीं थी। वस्तुतः ऐसे खेलों में शायद ही होती है और इसलिए हम अपने प्रदर्शन के बाद भी वहीं डटे रहते हैं—आगामी प्रदर्शनों में भाग लेने वाले अपने साथी प्रतिभागियों का हौसला बुलंद रखने के लिए। आखिरकार वह ओलंपिक था। प्रतिस्पर्द्धी आम तौर पर वही थे जो अन्यत्र होते पर पूरे मीडिया में इसकी धूम मची थी। यहां जीतने का अर्थ था विश्व की किसी अन्य प्रतिस्पर्द्धा में जीत से कहीं अधिक प्रसिद्धि। मैं कभी-कभी यह सोचने लगती कि ओलंपिक में ऐसी क्या खासियत थी? और भारत के लिए स्वर्ण पदक जीतने की ललक में मैंने अपने आपको अधिक आंक लिया। मैंने 69 किलोग्राम वर्ग में 247 किलोग्राम भार उठा लिया था। दरअसल मैंने 242 किलोग्राम से क्रमशः बढ़ने की बजाय अचानक 247 किलोग्राम पर पहुंच गई। दोनों छोर पर असंतुलन हुआ और सारा खेल खराब हो गया।

मैं एक कांस्य लेकर वापस आई। फिर भी भारत में लोगों ने मेरे लिए राष्ट्र धुन बजाई। मैं भावविभोर हो गई थी।

वह 19 सितंबर, 2000 का दिन था जब मैंने यह कर दिखाया था। मैं पहली भारतीय महिला थी जिसने कोई ओलंपिक पदक जीता हो। देश के कोने-कोने

में लोगों ने बाहें फैलाकर मेरा स्वागत किया। सबसे बड़ी आश्चर्यजनक घटना उसी दिन हुई जब मैंने वह पदक जीता था। लोग हमें सिडनी की सैर करवाने को तैयार थे। मेरी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाओं में ऐसा पहली बार हुआ था। अपने पति के साथ यह सैर किसी हनीमून की तरह लगी। वहां के स्थानीय भारतीयों ने हमें बधाई दी और वापस हैदराबाद में राज्य सरकार ने मेरा गर्मजोशी से स्वागत किया। हवाई अड्डे पर समारोहपूर्ण स्वागत के बाद मैं राज्यपाल और मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू से मिली। उनसे भारोत्तोलन अकादेमी के लिए एक संभावित जगह के बारे में बात की। टैंक बांध से लाल बहादुर स्टेडियम तक के जुलूस में मुझे साफ लगा कि लोग मेरी उपलब्धि से गौरवान्वित थे। स्टेडियम में आम जनता मेरे स्वागत के लिए जुटी थी। यह अनुभव कर कि मेरे माता-पिता ने मुझे यह सब करने दिया, अपना बहुत कुछ त्याग कर, मैं फूली नहीं समा रही थी।

इस विजय यात्रा में छात्रों, सरकारी अधिकारियों और आम जनता ने भाग लिया। इसके बाद बधाई समारोह हुआ जिसमें राज्य सरकार ने जुबली हिल्स के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में 25 लाख रु. की भूमि देने की घोषणा की। मुझे हैदराबाद में एक घर बनाने के लिए 25 लाख रु. का चेक भेंट किया। प्रस्तावित भारोत्तोलन अकादेमी के लिए 10 लाख रुपए भी दिए। बधाई समारोह में तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष श्री जी. एम. सी. बालयोगी, विधान सभा अध्यक्ष प्रतिभा भारती, अखिल भारतीय ओलंपिक संघ के अध्यक्ष सुरेश कलमाडी एवं अन्य महत्त्पूर्ण लोग भी शामिल थे। बाद में मुझे भारत के माननीय राष्ट्रपति ने भी सम्मानित किय करतो। आगे भी चंद्रबाबू नायडू से लेकर अभय चौटाला तक, सभी मुझे प्रोत्साहित किया। मुझे लगता है मेरे अथक परिश्रम का यही सबसे सही परिणाम है। पैसा तो कोई भी कमा सकता है पर देश के प्रथम एवं अन्य महत्त्वपूर्ण नागरिकों से मिले सम्मान मुझे अपने संशय पर पुनर्विचार करने को बाध्य कर देते हैं। तब मुझे यह सोच नहीं रह जाती कि मैंने बहुत त्याग किया है। कलाई, केहुनी, कंधे, घुटने और पीठ को मिले जख़्म सचमुच काम के साबित हुए।

मैं एक मुकाम पा चुकी थी। निम्न वर्ग में जन्मी यह दुबली-पतली लड़की सिर्फ अपने प्रशिक्षण को दिनचर्या बनाकर ऐसा कर पाई। मुझे किसी प्रकार की बाहरी हवा नहीं लगी थी। फिल्में देखना, पिकनिक, कालेज की जिंदगी या किसी सामान्य किशोरी का अल्हड़ जीवन कुछ भी तो नहीं था! मैं फिर भी चुस्त-दुरुस्त और उन्मुक्त महसूस करती—लेकिन इसके पीछे मेरा प्रशिक्षण था जो मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया था।

मेरी जैसी लड़की को, जिसे शादी की खास चाहत नहीं थी, संयोगवश एक

भारोत्तोलक जीवन साथी मिल गया। मेरे पति स्वयं एक भारोत्तोलक हैं। हम दोनों ने एक साथ प्रशिक्षण लिया था—पटियाला में, या नेहरू स्टेडियम में...? प्रायः दोनों स्थानों पर। सन् 1997 में शादी कर लेने के बाद, दो दिन के अंदर ही हम एक प्रशिक्षण शिविर में चले गए। हनीमून या...कुछ भी तो नहीं हुआ। पर मैंने इस बात को मन में ही नहीं बैठने दिया। मेरे पति ने तो और मजेदार ढंग से प्रतिक्रिया जताई। वे इस बात से भली-भांति अवगत हैं कि एक विश्वस्तरीय भारोत्तोलक होने के लिए कितने पापड़ बेलने पड़ते हैं। हम उन दिनों यमुनानगर में टिके थे जो पटियाला से सिर्फ दो घंटे की दूरी पर था। मेरे पति अकसर सप्ताहांत में वहां गाड़ी से पहुंच जाते और हम एक साथ रविवार की छुट्टी बिताया करते। कभी-कभी मैं उन्हें फोन करती, उनकी नव-विवाहिता के रूप में आत्मग्लानि भी महसूस होती, और यह पूछती कि उनका खाना-पीना कैसे होता और वे जवाब देते, "कोई चिंता नहीं करो, मैंने कुछ नूडल्स बना लिया है, वही खाऊंगा।"

मैं सचमुच अपने पति के गुण भांप गई थी और जल्द ही समझ गई कि सही दिशा और प्रशिक्षण की इच्छा पूर्ति करने में उनका समर्थन कितना महत्त्वपूर्ण रहा था। गिने-चुने लोग ही इतने भाग्यशाली होते हैं। इन दिनों वित्त-प्रबंधन के क्षेत्र में उनका कारोबार है। मुझे धर्म में गहरी आस्था है, हालांकि हर रोज किसी प्रकार की आडंबरपूर्ण पूजा नहीं करती। पर प्रतिदिन गणेशजी को एक अगरबत्ती जरूर दिखाती हूं। मुझे तेलुगु फिल्म देखे भी बहुत दिन बीत गए। पंजाब और हरियाणा में इतने दिन रहने के बाद मैं हर मायने में अमिताभ बच्चन की दीवानी बन गई हूं। मुझे टेलीविजन देखना भी बहुत पसंद है। पूरे दिन के कठोर श्रम के बाद मुझे हास्य-विनोद वाले कार्यक्रम अच्छे लगते हैं। मैं 'ऑफिस-ऑफिस', 'हम साथ-साथ हैं' देखती हूं। क्रिकेट और भावपूर्ण धारावाहिक नहीं देखती। मुझे कभी-कभी बैठकर पुरानी चिट्ठियां पढ़ना अच्छा लगता है। और मुझे लगता है कि मेरे शिक्षकों ने ही सर्वाधिक प्रोत्साही चिट्ठियां लिखीं।

वैसे इसी जीवन में मैंने वैसे लोगों को भी देखा जो आपको बिना किसी गलती के बदनाम कर सकते हैं। एक बार इंडिया टुडे के एक पत्रकार ने यह कहकर मुझे बदनाम करने की कोशिश की कि मैं बीयर और तली हुई चीजें पसंद करती हूं। या फिर एक ही दल के भारोत्तोलक को दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर बदनाम किया जाता है। पर मैं यह समझ गई कि ऐसे आरोप कभी नहीं टिकते। आपका लक्ष्य, अपनों का समर्थन और इस बात की स्पष्टता कि आप कितना कठोर परिश्रम करना चाहते हैं, सबसे अच्छे मूल्य हैं जिन पर आपको केंद्रित होना चाहिए। मैं जब किसी 16-20 वर्षीया लड़कियों को रेस्त्राओं और कालेज के कैंटीनों

में इधर-उधर घूमते हुए देखती हूं तो मुझे लगता है कि जीवन में कुछ नहीं करने के लिए कोई बहाना कितना 'सही' है।

इन सभी पुरस्कारों के बाद मैं सुखी-संपन्न हो गई हूं और वे तमाम सुख-सुविधाएं भोग सकती हूं जिनका मैंने स्वप्न भी नहीं देखा था। अब जबकि मैं एक मां बन गई हूं, मेरा एक भरा-पूरा परिवार है, मेरी ससुराल के लोग, पति और छोटा बच्चा, नजदीक ही मेरी बड़ी व्यायामशाला, और पास में ही पटियाला। मैं एक अकादेमी स्थापित करने और अन्य लोगों, खासकर महिलाओं, को प्रशिक्षण देने की इच्छा रखती हूं। खासकर श्रीकाकुलम और मणिपुर की कई महिलाएं बहुत इच्छुक हैं। कुंजरानी मणिपुर की हैं। हमारे इस खेल में प्रतिभाओं की भरमार है और भारत में भी उपलब्ध सुविधाएं विश्व के अन्य भागों की तुलना में कम नहीं हैं। भारोत्तोलन में आने वाली युवा लड़कियों के लिए मेरी सलाह यह है कि शुरू करने की सबसे अच्छी उम्र 10 वर्ष है और सभी राज्यों को खेल प्रशिक्षण केंद्र पर अनिवार्यतः भारोत्तोलन के एक प्रशिक्षक को रखना चाहिए।

अब मेरा नाम एक प्रकार से पूर्णतया सार्थक लगता है।

(तिशा श्रीवास्तव को दिए गए साक्षात्कार पर आधारित)

जे. जे. ऑफसेट प्रिंटर्स, पटपड़गंज, दिल्ली–92 द्वारा मुद्रित।